CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चेतना का ऊर्ध्वारोहण

मुनि नथमल

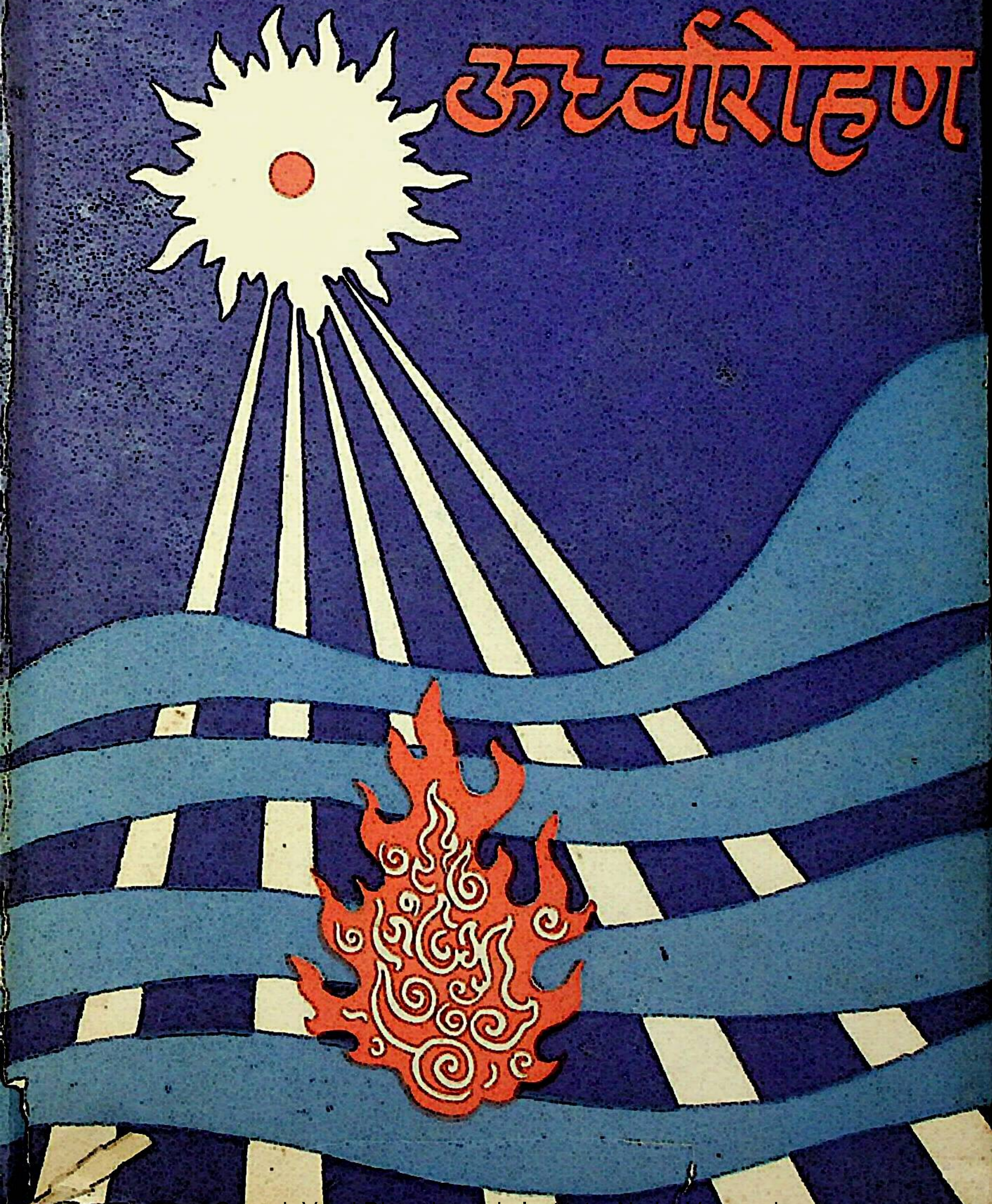

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Nariya Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चेतना के ऊर्ध्व आरोहण की एक निश्चित प्रक्रिया है। उसके कुछ उपाय हैं। उन्हें जान लेने पर मनुष्य उस दिशा में यात्रा कर सकता है। जिन व्यक्तियों ने इस दिशा में यात्रा की उनके यात्रा-विरामों को जान लेने पर भी, उस दिशा में यात्रा की जा सकती है! भगवान् महावीर ने चेतना के ऊर्ध्वारोहण की दिशा मे एक महत्त्वपूर्ण यात्रा की थी। उनके संकेत उस दिशा में यात्रा करने वालों के लिए आज भी बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। प्रस्तुत पुस्तक में यत्र-तत्र उन संकेतों की ओर इंगित किया गया है। सांकेतिक भाषा को समझना यद्यपि सरल नहीं होता, फिर भी उसे समझा जा सकता है। उसे समझने के लिए अतीत को वर्तमान में जीना होता है और वह वर्तमान का जीना ही अतीत को अनावृत कर देता है। प्रस्तुत पुस्तक में कोई नयी स्थापना नहीं है, केवल अतीत का अनावरण है।

मैं मानता हूं कि कर्म को समझे बिना अध्यात्म को नहीं समझा जा सकता और अध्यात्म को समझे बिना कर्म को नहीं समझा जा सकता। चेतना के निम्न अवतरण में कर्म का बहुत बड़ा हाथ होता है। उससे मुक्ति पाकर ही मनुष्य चेतना का ऊर्ध्व आरोहण कर सकता है। इस सापेक्षता के जगत् में एकाधिकार किसी का नहीं है। मानवीय कर्तृत्व को प्रभावित करने वाले तथ्यों में कर्म एक तथ्य है, किन्तु एकमात्र तथ्य नहीं है। पुरुषार्थ कर्म को प्रभावित करता है और उसे बदल भी देता है। साधना की यही पृष्ठभूमि है। इस सचाई को समझे बिना साधना का प्रयोजन नहीं समझा जा सकता।

संस्थान

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

VHP 3202

प्रकाश हितैषी शास्त्री
संपादक सन्मति संदेश
535, गांधी नगर, दिल्ली-31

आपको यह सूचित क
अणुव्रत-अनुशास्ता, गु
शिष्य मुनिश्री नथमलज
मुनिश्री तेरापंथ धर्मसंघ
के ...मसे संबोधित कि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चेतना का ऊर्ध्वारोहण

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आदर्श साहित्य संघ प्रकाशन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चेतना का ऊर्ध्वारोहण

मुनि नथमल

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संपादक : मुनि दुलहराज

मूल्य : तेरह रुपये/ प्रथम संस्करण, १९७८/ प्रकाशक : कमलेश चतुर्वेदी, प्रबन्धक, आदर्श साहित्य संघ, चूरू (राजस्थान)/ मुद्रक : भारती प्रिंटर्स, दिल्ली-११००३२

CHETNA KA URDHWAROHAN : Muni Nathmal Rs. 13.00

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आशीर्वचन

चेतना के दो स्तर हैं—सुप्त और जागृत। जब अन्तर्मन और ज्ञानकेन्द्र सुप्त होते हैं तब चेतना का नीचे की ओर अवतरण होता है। इस स्थिति में हमारी प्रतिभा, शक्ति और समृद्धि (आनन्द) के स्रोत बन्द रहते हैं। हम सब कुछ होकर भी नगण्य होने का अनुभव करते हैं। मन की अशान्ति, तनाव, भारानुभूति—ये सब इसी स्थिति में होते हैं।

जब अन्तर्मन और ज्ञानकेन्द्र जागृत होते हैं तब चेतना ऊर्ध्व की ओर आरोहण करती है। इस स्थिति में हमारी प्रतिभा, शक्ति और समृद्धि के स्रोत खुल जाते हैं। उनकी धारा जीवन को आप्लावित कर देती है। इस स्थिति में फलित होती हैं—मन की शान्ति, तनाव-मुक्ति, भारमुक्ति और जीवन की सार्थकता।

प्रस्तुत पुस्तक में चेतना के ऊर्ध्वारोहण के कुछ दिशा-संकेत हैं। उनकी पकड़ हमारे अस्तित्व की पकड़ होगी।

राजलदेसर
१६ अप्रैल, १६७२

आचार्य तुलसी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रस्तुति

हम मनुष्य हैं और चेतना हमारी विशेषता है। चेतन और अचेतन के बीच एक भेद-रेखा है, और वह है चेतना। जिसमें चेतना होती है, वह चेतन होता है। अचेतन में वह नहीं होती। मनुष्य और मनुष्येतर प्राणियों में भी एक भेदरेखा होती है। वह है चेतना का विकास। जिसमें चेतना के विकास की क्षमता होती है अथवा जिसकी चेतना विकसित होती है, वह मनुष्य होता है। दूसरे प्राणियों में मनुष्य जैसी विकसित चेतना नहीं होती।

चेतना का विकास शरीर के माध्यम से होता है। मनुष्येतर प्राणियों की चेतना नीचे की ओर प्रवाहित होती है, कामकेन्द्र की ओर प्रवाहित होती है। यह चेतना का निम्न अवतरण है। मनुष्य इस दिशा को बदल सकता है, चेतना का ऊर्ध्वारोहण कर सकता है, कामकेन्द्र की ओर अवतरण करने वाली चेतना को ज्ञानकेन्द्र तक ले जा सकता है।

चेतना के ऊर्ध्व आरोहण की एक निश्चित प्रक्रिया है। उसके कुछ उपाय हैं। उन्हें जान लेने पर मनुष्य उस दिशा में यात्रा कर सकता है। जिन व्यक्तियों ने इस दिशा में यात्रा की उनके यात्रा-विरामों को जान लेने पर भी, उस दिशा में यात्रा की जा सकती है। भगवान् महावीर ने चेतना के ऊर्ध्वारोहण की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण यात्रा की थी। उनके संकेत उस दिशा में यात्रा करने वालों के लिए आज भी बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। प्रस्तुत पुस्तक में यत्र-तत्र उन संकेतों की ओर इंगित किया गया है। सांकेतिक भाषा को समझना यद्यपि सरल नहीं होता, फिर भी उसे समझा जा सकता है। उसे समझने के लिए अतीत को वर्तमान में जीना होता है और वह वर्तमान का जीना ही अतीत को अनावृत कर देता है। प्रस्तुत पुस्तक में कोई नयी स्थापना नहीं है, केवल अतीत का अनावरण है।

इस पुस्तक का पहला संस्करण छोटे आकार में सन् १९७१ में पाठकों के हाथों में आया। उनके द्वारा यह बहुत समादृत हुआ। शीघ्र ही यह संस्करण समाप्त हो गया। किन्तु दूसरी-दूसरी नयी पुस्तकों के प्रकाशन का सिलसिला

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चलता रहा। इसके प्रकाशन की ओर प्रकाशक का ध्यान केन्द्रित नहीं हो सका। अब यह पुस्तक बड़े आकार में पाठकों के सम्मुख आ रही है। इसमें कर्म और अध्यात्म की चर्चा और जुड़ गयी है।

मैं मानता हूं कि कर्म को समझे विना अध्यात्म को नहीं समझा जा सकता और अध्यात्म को समझे विना कर्म को नहीं समझा जा सकता। चेतना के निम्न अवतरण में कर्म का बहुत बड़ा हाथ होता है। उससे मुक्ति पाकर ही मनुष्य चेतना का ऊर्ध्व आरोहण कर सकता है। इस सापेक्षता के जगत् में एकाधिकार किसी का नहीं है। मानवीय कर्तृत्व को प्रभावित करने वाले तथ्यों में कर्म एक तथ्य है, किन्तु एकमात्र तथ्य नहीं है। पुरुषार्थ कर्म को प्रभावित करता है और उसे बदल भी देता है। साधना की यही पृष्ठभूमि है। इस सचाई को समझे विना साधना का प्रयोजन नहीं समझा जा सकता।

सामाजिक व्यवस्था और राजनीतिक प्रणाली के बदल जाने पर कुछ लोग कर्म-सिद्धान्त की व्यर्थता समझ लेते हैं। उनकी धारणा है कि कर्म ऊंच-नीच, धनी और निर्धन बनाता है। यदि समाज-व्यवस्था में साम्य का अवतरण होता है तो फिर कर्म की सार्थकता कैसे ? उनके मतानुसार कर्म का सिद्धान्त सही है तो समाज में विषमता रहेगी। यदि समाज की व्यवस्था में समता है तो कर्म का सिद्धान्त सही नहीं हो सकता। इस अवधारणा ने कर्म को व्यवस्था के साथ जोड़ दिया, जबकि उसका संबंध व्यक्ति की आन्तरिक चेतना से है। कर्मशास्त्र, मानसशास्त्र और योग—इन तीनों शास्त्रों ने व्यक्ति का मूल्यांकन स्थूल व्यवहारों के आधार पर नहीं, किन्तु उन व्यवहारों के पीछे होने वाली चेतना के आधार पर किया है। अध्यात्म के सन्दर्भ में इन तीनों प्रणालियों का समन्वित अध्ययन बहुत अपेक्षित है। मानसशास्त्रियों ने अवचेतन मन के रहस्यों को अनावृत कर कर्मशास्त्रीय प्रणाली को नये संदर्भ में प्रस्तुत किया है। प्रस्तुत पुस्तक में इस विषय के समन्वय की कुछ रेखाएं उपलब्ध हैं, जो भावी विकास की आधार बन सकती हैं।

शिविरकालीन भाषणों के संकलन और संपादन में मुनि दुलहराजजी का अथक परिश्रम इसकी उपलब्धि में हेतु बना है। आचार्यश्री तुलसी के दिशा-दर्शन में चल रहे इस प्रयत्न का स्वयंभू मूल्य है।

मुनि नथमल

२०३५, आषाढ़ शुक्ला पूर्णिमा
गंगाशहर (राजस्थान)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनुक्रम

चेतना का ऊर्ध्वारोहण

१. चेतना का जागरण १
२. अमूल्य का मूल्यांकन १६
३. शरीर-दर्शन ३०
४. चित्त का निर्माण ४२
५. चंचलता का चौराहा ५५
६. स्मृति का वर्गीकरण ७०
७. वृत्तियों का वर्तुल ८३

चेतना और कर्म

८. आचरण के स्रोत ९१
९. कर्म : चौथा आयाम १०३
१०. कर्म की रासायनिक प्रक्रिया (१) ११३
११. कर्म की रासायनिक प्रक्रिया (२) १२२
१२. कर्म का बन्ध १३३
१३. समस्या का मूल बीज १४४
१४. आवेग : उप-आवेग १५४
१५. आवेग-चिकित्सा १६६
१६. स्वतंत्र या परतंत्र ? १७७
१७. कर्मवाद के अंकुश १८७

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चेतना का ऊर्ध्वारोहण

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१

चेतना का जागरण

- अस्तित्व और प्राण का संगम है—जीवन।
- अस्तित्व और प्राण के पृथक्त्व का बोध है—विवेक।
- यही चेतना के जागरण का प्रथम बिन्दु है।

•

बहुत सारे लोगों की धारणा है कि जैनों में साधना-पद्धति व्यवस्थित नहीं है या योग नहीं है। यह केवल अजैन लोगों में ही नहीं, जैन-दर्शन के बड़े-बड़े विद्वानों में भी धारणा है और मुझे लगता है कि वह बहुत ही भ्रांत है। इसलिए इस शृंखला में मैं मुख्यत: जैन साधना पद्धति या जैन योग पर ही या उसके आधार पर ही कुछ बातें प्रस्तुत करूं। वैसे तो योग ऐसा विषय है जिसमें जैन-अजैन आदि का कोई भेद नहीं किया जा सकता किन्तु फिर भी अपने ढंग का प्रतिपादन और अपनी शैली से कुछ बातों का निरूपण जो होता है, इस आधार पर मैं कुछ बातें रखूंगा।

इस शृंखला में आज का पहला विषय है, 'चेतना का जागरण'। क्योंकि जब तक यह हमारी समझ में नहीं आयेगा कि योग या साधना पद्धति का आचरण क्यों करना है तब तक हम उसके लिए तत्पर नहीं होंगे या करने की प्रबल भावना ही जागृत नहीं होगी कि हम क्यों करें? इसलिए हमें यह समझ लेना है कि चेतना का जागरण किए बिना हमारे जीवन की सार्थकता नहीं है और जो हम पाना चाहते हैं, पा नहीं सकते। इसलिए आज का पहला विषय हमारा यही है।

एक दिन मैं पानी पीने के लिए बैठा था। सामने पात्र था। मैंने देखा कि उस पात्र में कुछ लौंग पड़ी हैं। शायद पांच-सात होंगी। कुछ नीचे तल पर थीं और

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कुछ पानी के ऊपर। सहसा मेरे मन में विकल्प उठा कि यह क्यों ? क्या वे लौंग नहीं हैं जो नीचे पड़ी हैं या जो ऊपर हैं वे लौंग नहीं हैं ? या जब दोनों ही लौंग हैं तो फिर कुछ ऊपर, कुछ नीचे—ऐसा क्यों ? मैंने दो क्षण सोचा। समझ में नहीं आया। फिर देखा। बहुत ध्यान से देखा तो तत्काल एक बात मेरे ध्यान में आ गयी। जितनी लौंग पानी के ऊपर थीं, वे टोपी वाली साबुत लौंग थी, लेकिन जो पानी में डूबी हुई थीं, ये वे लौंग थीं, जिनकी टोपी उतर गयी थी और फूल उतर गया था। तत्काल मैंने समझा, यह जो टोपी है लौंग को ऊंचा रखती है और तैराती है। जिनकी टोपी उतर गयी, हल्कापन उतर गया, भारीपन आ गया, वे नीचे डूब जाती हैं।

शायद आप लोगों ने भी देखा हो और न देखा हो तो देख सकते हैं। चाहे जब देख सकते हैं। चार लौंग हाथ में लीजिए। दो की टोपी उतारकर पानी में डालिये और दो को टोपी सहित डालिए। जिनकी टोपी उतर गयी है, नीचे चली जाएंगी और जिन पर टोपी है, वे ऊपर रह जाएंगी। यह हल्कापन और भारीपन केवल लौंग को ही नहीं डुबाता और ऊंचा रखता; आदमी को भी डुबाता और ऊंचा रखता है।

सचमुच ऊपर जाने का जो रास्ता है, वह हल्का होता है। नीचे जाने का जो रास्ता है, वह भारी होता है। जयन्ती ने भगवान महावीर से पूछा, "भन्ते ! प्रशस्त क्या है और अप्रशस्त क्या है ? स्मरणीय क्या है और निन्दनीय क्या है ? उपादेय क्या है और हेय क्या है ?"

भगवान ने कहा, बहुत संक्षेप में कहा—"यह जो भारीपन है अप्रशस्त है और हल्कापन है, यह प्रशस्त है। लाघव प्रशस्त है और गुरुत्व अप्रशस्त है।" फिर पूछा कि भन्ते ! यह जीव भारी कैसे होता है और हल्का कैसे होता है ? भगवान ने कहा, शास्त्रीय भाषा में कहा किन्तु मैं उसका अनुवाद कर आपको कहूंगा। भगवान ने उत्तर दिया कि जिसकी आंखों में परमात्मा झांकता है वह हल्का होता है और जिसकी आंखों में शैतान झांकता है, वह भारी होता है। परमात्मा क्या है और शैतान क्या है ? हमारे अस्तित्व की जो अनुभूति है, वह परमात्मा है। अहं की जो अनुभूति है, वह शैतान है। जो व्यक्ति अस्तित्व की अनुभूति के धरातल पर चला जाता है, वहां परमात्मा आंखों से झांकने लग जाता है और जिस व्यक्ति की आंखों से अहंकार और ममकार का शैतान झांकता है, वह भारी बन जाता है।

एक पुरानी घटना है। एक व्यक्ति ने सोचा कि मैं चित्र बनाऊं और उस व्यक्ति का चित्र बनाऊं जिसकी आंखों में परमात्मा झांकता हो या जिसकी आंखों में परमात्मा का प्रतिबिम्ब हो। वह घूमा। काफ़ी घूमा। हज़ारों-हज़ारों लोगों को देखा। स्त्रियों को देखा। पुरुषों को देखा। बड़े-बड़े विज्ञ लोगों को देखा। धनिकों को देखा। कहीं भी परमात्मा झांकता हुआ नहीं मिला। आखिर में वह

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

घूमता-घूमता जंगल में गया। खेतों-खलिहानों में गया। वहां उसने देखा एक किसान, खेती करनेवाला, कृषि करनेवाला। उसकी आंखों में देखा तो ऐसा लगा कि परमात्मा झांक रहा है। उसने उसका एक चित्र बनाया। चित्र इतना सुन्दर, मोहक और आकर्षक बना कि हज़ारों-हज़ारों की संख्या में वह बिका और बहुत ही प्रिय चित्र बन गया। लोगों में उसकी प्रशंसा हुई और लोगों ने उसे बहुत पसन्द किया।

कुछ दिन बाद फिर उसने सोचा कि अब मुझे एक ऐसा चित्र बनाना चाहिए कि जिसकी आंखों में शैतान झांक रहा हो। इस खोज में भी निकला। उसने काफ़ी खोज की। देखता रहा। पर आप जानते हैं कि हर आदमी की आंखों से न परमात्मा झांकता है और न हर आदमी की आंखों से शैतान झांकता है। वैसे लोग भी कम होते हैं जिनकी आंखों से परमात्मा झांकता हो और ऐसे लोग भी कम मिलते हैं जिनकी आंखों से सीधा शैतान झांकता हो। आदमी छिपाना जानता है। इसलिए छिपा लेता है। आखिर में वह घूमते-घूमते एक कारागृह में पहुंचा। वहां उसने देखा एक कैदी को। देखा। उस कैदी की आंखों से शैतान झांक रहा था। उसने देखा और उसका चित्र बनाया। इतना भयानक चित्र बना कि शैतान क्या झांक रहा था, मानो कि हत्याएं बोल रही थीं। प्रत्यक्ष हत्याकांड बोल रहे थे। चित्र भी ठीक वैसा ही बना क्योंकि वह कुशल चित्रकार था। वह चित्र लेकर कैदी के पास गया। पहला चित्र भी कैदी ने देखा और दूसरा चित्र भी। कैदी ने देखा अपना चित्र! कितना भयानक! कितना दारुण! चित्रकार बोला, "देखो! यह तुम्हारा चित्र है।" उसने गौर से देखा। उसकी भयानकता को देखा और वह हंस पड़ा।

चित्रकार ने पूछा—"बन्धु! हंसते क्यों हो?" उसने कहा—"क्या रोऊं? कैसे रोऊं? हंसूं कैसे नहीं? तुम इस भयानक चित्र को मुझे दिखला रहे हो पर तुम्हें यह पता नहीं है कि जिस चित्र में परमात्मा झांक रहा है, वह चित्र भी मेरा ही है। दोनों मेरे ही चित्र हैं। अब मैं क्या करूं? रोऊं या हंसूं?"

आप देखें कि जिस व्यक्ति की आंखों में परमात्मा झांकता है, उसी व्यक्ति की आंखों से शैतान भी झांक सकता है और जिस व्यक्ति की आंखों से शैतान झांकता है, उस व्यक्ति की आंखों से परमात्मा भी झांक सकता है। परमात्मा कहीं नहीं है, शैतान भी कहीं नहीं है। हर व्यक्ति की आत्मा में, हर व्यक्ति के जीवन में परमात्मा भी उपस्थित होता है और शैतान भी उपस्थित होता है। परमात्मा की उपस्थिति हमारी ही उपस्थिति है और शैतान की उपस्थिति भी हमारी ही उपस्थिति है। किन्तु ये दोनों बातें कब होती हैं? परमात्मा की उपस्थिति तब होती है जब हमारे भीतर का हल्कापन, लाघव उपस्थित होता है। जब हमारे भीतर का भारीपन उपस्थित होता है तब शैतान की उपस्थिति हो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जाती है। वास्तव में यह भारीपन और हल्कापन, यही सब कुछ है, जो व्यक्ति के दो चित्र बना देता है, व्यक्ति को दो दिशाओं में प्रस्तुत कर देता है।

इसलिए भगवान् महावीर ने श्राविका जयन्ती के उत्तर में कहा कि जीव जब भारी होता है, तब अप्रशस्त बन जाता है, और हल्का होता है तब प्रशस्त हो जाता है। आप जानते हैं कि हमारी कठिनाई क्या है ? यह भारीपन कठिनाई है। लाघव जैसे ही आता है, सारी समस्याएं दूर हो जाती हैं। महर्षि चरक ने लाघव को बहुत महत्त्व दिया है। उन्होंने कहा है कि लाघव स्वास्थ्य का पहला लक्षण है। स्वस्थ व्यक्ति कौन है ? जिसमें कि लाघव है। जिसमें गौरव आया कि अस्वस्थ बन गया। अस्वस्थ का लक्षण है गौरव। हम कहते हैं कि शरीर भारी हो गया। इसका मतलब यह हुआ कि बुखार आने की तैयारी। बुखार या ज्वर का पहला दूत है शरीर का भारी होना। शरीर भारी होते ही बेचैनी छा जाती है और हम अनुभव करते हैं कि मन बेचैन है। कुछ अटपटा-सा लग रहा है। यह भारीपन का कारण है। चरक ने जो स्वास्थ्य के लक्षण बतलाये या आसन, व्यायाम की जो निष्पत्तियां बतलाईं, उनमें पहला यह बतलाया—'लाघवं कर्मसामर्थ्यम्'। पहला लाघव। लघुता उत्पन्न होती है, हल्कापन आ जाता है। जैसे ही हल्कापन होता है, हमें ऐसा महसूस होता है कि आज बहुत अच्छा-सा लग रहा है क्योंकि शरीर हल्का है।

वास्तव में ही हल्का बहुत सुखद होता है। भारीपन कभी सुखद नहीं होता। गौतम स्वामी ने भी जयन्ती जैसा ही प्रश्न भगवान महावीर से पूछा था— "भन्ते ! जीव भारी कैसे होता है और हल्का कैसे होता है ?" भगवान ने एक रूपक में समझाया—"गौतम ! देखो, एक तुम्बी है और उस तुम्बी पर किसी आदमी ने घास लपेट दिया। मिट्टी लगा दी। सुखा दिया। फिर दूसरी बार उस पर मिट्टी का लेप किया। आठ बार इस प्रकार किया। तुम्बी काफ़ी भारी हो गयी। अब उस तुम्बी को लिया और पानी में छोड़ा। तुम्बी पानी के नीचे डूब गयी। जो तुम्बी तैरने वाली है और कहते हैं कि दूसरों को तैराने वाली है, वह तुम्बी डूब गयी, नीचे चली गयी। क्योंकि भारी हो गयी। कुछ दिन तुम्बी पड़ी रही पानी में। पड़े-पड़े उसका कुछ लेप उतर गया। फिर दूसरा उतरा, तीसरा उतरा और उतरते-उतरते सारे लेप उतर गये। तुम्बी हल्की हो गयी। तुम्बी फिर ऊपर आ गयी। जो डूबी, वह भी तुम्बी थी और जो ऊपर आयी, वह भी तुम्बी थी। तुम्बी एक थी। तुम्बी दो नहीं थीं। किन्तु जब तुम्बी भारी हो गयी, डूब गयी, तल में चली गयी। तुम्बी हल्की हुई, ऊपर आ गयी, सतह पर आ गयी।

यह जीव जब भारी होता है, अधोगति में चला जाता है। निम्न गति में चला जाता है। उसकी वृत्तियां निम्न बन जाती हैं, उसका चिन्तन निम्न बन जाता है। उसका आचरण निम्न बन जाता है। आचरण, विचार, संस्कार और

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वृत्तियां—ये जो अधम बनते हैं, निम्न बनते हैं, निकृष्ट कोटि के बनते हैं, वे भारीपन के कारण बनते हैं। तुम्बी जब भार से मुक्त हो गयी, बंधन से विच्छिन्न हो गयी, लेप से रहित हो गयी, ऊपर आ गयी। जीव भी जब हल्का होता है, ऊपर आ जाता है। ऊर्ध्वगति करता है। उसका ऊर्ध्व चिन्तन, उत्तम विचार और उत्तम आचरण, ये जो सारे बनते हैं वे अपने ही हल्केपन के कारण बनते हैं और हल्केपन की ये सहज निष्पत्तियां हैं, जिन्हें रोका नहीं जा सकता।

अग्नि जलती है और शिखा ऊपर की ओर जाती है। कारण क्या है? लघुता के कारण वह ऊपर की ओर जाती है। एरण्ड की फली से बीज उछलता है, वह ऊपर की ओर चला जाता है।

हम ठीक समझें भगवान की वाणी में, अपने अनुभवों के आधार पर और अपनी दृष्टि के कारण। जहां कहीं भी देखें। चाहे शरीर का प्रश्न है, चाहे विचार का प्रश्न है, चाहे चिन्तन का प्रश्न है, जहां भी भार आया, भार अनुभव हुआ, आदमी नीचे चला जायेगा और जहां भार-मुक्ति का अनुभव हुआ, आदमी ऊपर उठ जायेगा। लाघव और गौरव, लघुता और गुरुता, हल्कापन और भारीपन—ये दोनों दृष्टियां हमारे सामने बहुत स्पष्ट हैं, और हम समझ सकते हैं कि हमारी चेतना का जागरण, हमारी चेतना की ऊर्ध्वगति, तभी हो सकती है जबकि हमारे जीवन में, हमारे परिपार्श्व में और हमारी वृत्तियों में, सबमें लघुता आये और हल्कापन आये।

यह लघुता और गुरुता का विवेक हमारे सामने प्रस्तुत है। हमारे जीवन का आनन्द, हमारे जीवन का आलोक, हमारे जीवन की निश्छलता और हमारे जीवन की पवित्रता जहां प्रकट होती है, उसका केन्द्र-बिन्दु या उसकी रेखा हल्केपन की रेखा है, लघुता की रेखा है। वहां से हमारी चेतना का ऊर्ध्वारोहण प्रारंभ होता है। और जहां गौरव की रेखा है, भारीपन की रेखा है, वहां से हमारी चेतना का अधोवतरण प्रारंभ होता है।

अब प्रश्न यह है कि हल्कापन कैसे आये? भारीपन को हम कैसे समाप्त करें? यहां से सारी साधना की पद्धति शुरू होती है। यह साधना का विवेक है, साधना की पृष्ठभूमि है। यह साधना की दृष्टि को समझने का हमारा प्रयत्न है। यह है साधना की पद्धति का आदि-बिन्दु, जहां से साधना प्रारंभ होती है। हल्का हम कैसे करें और किसे करें? जो भारी होते हैं, उन्हीं को हल्का करना है। क्योंकि भारी करने में, हल्का करने में हमारा विवेक होना चाहिए।

आदमी काफ़िला लिये जा रहा था माल का। कुछ गधे थे, कुछ घोड़े थे साथ में। बीच में नदी आयी। एक घोड़ा जिस पर नमक की बोरी लदी हुई थी, बैठ गया। नदी में था पानी। सारा नमक भीग गया। थोड़ी देर में रिस-रिसकर बहने लगा। बोरी खाली हो गयी। घोड़ा हल्का हो गया। गधे ने सोचा, 'अच्छा उपाय

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है यह तो। मैं भी हल्का हो जाऊं। उपाय अच्छा है।' थोड़ी देर बैठा। परन्तु वह यह नहीं जानता है कि ऊपर क्या लदा हुआ है? ऊपर थी कपास। ज्यों ही पानी में इधर-उधर लेटा, बोरी भीग गयी। जो भार पहले था, उससे भी बहुत ज्यादा भार हो गया। दुगुना-चौगुना भार हो गया। उठा तो हल्का होने की जगह और अधिक भारी हो गया था।

यह विवेक जब साधना में नहीं होता तब हम प्रयत्न करते हैं हल्का होने का और जाने-अनजाने भारी बन जाते हैं। इसलिए बहुत ही अन्तर्दृष्टि की, सूक्ष्मदृष्टि की आवश्यकता होती है, साधना के मार्ग में। यदि हम ठीक विवेक नहीं कर पाते कि कहां कैसे हल्का होना होता है और कैसे भार को मिटाना होता है, इस दृष्टि की सम्पन्नता आये बिना शायद ऐसा भी हो जाता है कि हल्का होने के स्थान पर भार और अधिक बढ़ जाता है। और ऐसा लगता है कि चले थे हल्का होने के लिए और भारी बन गये।

ज्ञातासूत्र का प्रसंग है। सुमाला ने सोचा था कि मैं हल्की बनूं। साध्वी बनूं। किन्तु हल्का बनने का मंत्र हाथ नहीं लगा। काफ़ी भारी बनते-बनते इतनी भारी बन गयी कि एक दिन उसके मन में विकल्प आया कि जब मैं गृह में थी, तब कितनी स्वतंत्र थी, और जब से मैं साध्वी बनी हूं कितनी परवश बन गयी हूं। कितनी पराधीन बन गयी हूं कि चलो तो ऐसा चलो, बैठो तो ऐसा बैठो। यह मत करो। वह मत करो। शृंगार मत करो। सज्जा मत करो। प्रक्षालन मत करो। कितनी परतंत्रता! कितने अंकुश मेरे पर लग गये! क्या हुआ? मैं परतन्त्र बन गयी। बेचारी चली थी हल्की बनने के लिए और अधिक भारी बन गयी।

इसलिए दृष्टि-सम्पन्नता बहुत आवश्यक है साधना के मार्ग में। जब हमारी दृष्टि-सम्पन्नता प्रकट नहीं होती, तब बहुत बार ऐसा होता है कि हल्का होने का प्रयत्न करते हैं, और अधिक भारी बन जाते हैं, उस गधे की भांति।

हमें किनको हल्का करना है, इस विषय में बहुत बड़ी सूक्ष्मदृष्टि से काम लेना है। भारी कौन होते हैं? हमारा शरीर भारी होता है, हमारा मन भारी होता है और हमारा श्वास भारी होता है। ये तीन हैं, जो कि भारी बनते हैं और साधना के लिए, भीतर प्रवेश के लिए या चेतना के जागरण के लिए, सबसे पहले इन तीनों को हल्का करना है। शरीर को हल्का करना है। यह सारी साधना की पद्धति है। आप सोचेंगे कि महावीर ने कहां कहा कि श्वास को हल्का करना है? महावीर ने कहां कहा कि शरीर को हल्का करना है? शायद यह प्रश्न न भी हो। क्योंकि तपस्या आपके सामने है। किन्तु महावीर ने कहां कहा कि मन को हल्का करना है?

मैं समझता हूं कि अगर हम महावीर को ठीक समझें और उनके अन्तस्तल में जाकर समझें, केवल शब्दों की पकड़ में न समझें तो महावीर ने इन तीनों बातों

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पर—शरीर को हल्का करना, मन को हल्का करना और श्वास को हल्का करना—जितना बल दिया, उतना शायद किसी बात पर नहीं दिया। हम परिभाषा को तो बहुत पकड़ते हैं पर शायद मर्म को बहुत कम पकड़ते हैं। परिभाषा में शब्दों की पकड़ आती है, मर्म हाथ में नहीं आता। ठीक महावीर जैसी चेतना में प्रवेश करके ही महावीर को समझने का प्रयत्न करें तो फिर शब्द हमारे से दूर रहेंगे। और महावीर की जो मूल बात थी, आत्मा थी, वह हमारी पकड़ में आ जायेगी। महावीर ने हल्का होने का मार्ग बहुत ही सुन्दर ढंग से बतलाया। इन तीनों को हल्का किए बिना किसी को भी हल्का नहीं किया जा सकता।

जयन्ती के पूछने पर भगवान महावीर ने बताया कि जीव भारी होता है प्राणातिपात से, हिंसा करने से। क्या हिंसा करने से जीव भारी होता है? बहुत स्थूल बात है। और इस स्थूल बात ने हमें एक संकेत दे दिया। और उस संकेत को पकड़कर हम बैठ गये।

मैं आपसे कहना चाहता हूं कि हिंसा करने से जीव भारी होता है। यह बहुत छोटी बात है। जीव भारी होता है हिंसा की स्मृति करने से। जयाचार्य ने इस विषय को अपनी शास्त्रीय शैली में बहुत सुन्दर ढंग से प्रतिपादित किया है। जिन कर्मों के उदय से, जिन संस्कारों की स्मृति से कोई हिंसा करता है, प्राणातिपात करता है, वह संस्कार, वह स्मृति प्राणातिपात का मूल है, हिंसा का मूल है।

यह बहुत ही मार्मिक बात है। हिंसा की स्मृति वास्तव में हिंसा है। क्रियमाण हिंसा उतनी बड़ी हिंसा नहीं है, जितनी बड़ी हिंसा हिंसा के संस्कार की स्मृति है। क्रियमाण हिंसा की अपेक्षा जो हिंसा हमें भारी बनाती है, हमारी हिंसा फिर उस स्मृति को जोड़ देती है यानी मनुष्य ज्यादा भार ढोता है अतीत की स्मृति का और भविष्य की कल्पना का। भार क्या होता है? हम करते हैं उस काम का इतना भार नहीं होता जितना भार स्मृति का होता है।

आज कोई बड़ा काम आपको करना है। शायद काम करते समय, थोड़ा समय लगेगा। किन्तु उससे स्मृति में इतना भार पैदा हो जायेगा कि बहुत सारे लोग तो उस स्मृति के भार से इतने दब जाते हैं कि उनके काम करने की शक्ति भी बहुत कम हो जाती है। कल्पना कीजिए कि पांच साध्वियां हैं। और पचीस साध्वियां बाहर से आ जाती हैं। इन पांचों को यह चिन्ता होती है कि आतिथ्य करना है। तो वह आतिथ्य करने की कल्पना का भार, उस स्मृति का भार इतना बोझिल बन जाता है कि शायद उनकी काम करने की क्षमता कम हो जाती है। हमारे सामने बहुत सारे ऐसे काम आते हैं, बहुत सारे प्रसंग आते हैं कि काम करना उतना जटिल नहीं होता, काम उतना दुरूह नहीं होता और काम हम कर डालते हैं। किन्तु स्मृति इतनी जटिल, इतनी दुरूह और इतनी बोझिल बन जाती है कि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हमारे कार्य की शक्ति को भी शायद चुरा लेती है। तो यह हिंसा की स्मृति का भार भी बहुत कठिन होता है।

इसी प्रकार जटिल होता है कल्पना का भार। कल्पना में हम इतने खो जाते हैं, इतने भारी बन जाते हैं कि शायद हमारी गति अवरुद्ध हो जाती है। तो आप सही दृष्टि से देखें कि स्मृति का भार और कल्पना का भार हमारे लिए असह्य भार होता है। शायद आपको अनुभव हो कि जितना भार कल्पना और स्मृति का होता है, वास्तविकता का नहीं होता।

लोग कहते हैं कि अमुक जंगल में बहुत बाघ हैं, शेर हैं, चीते हैं और दिन में दहाड़ते रहते हैं। बड़ा भयंकर जंगल है। कल्पना में काफ़ी भयावह है। किन्तु जब वन में से गुजरते हैं, उस समय उतना भय नहीं होता। भय की छाती को हम चीरते हैं, उस समय उतना भय नहीं, जितना भय हमारी स्मृति में होता है। यह स्मृति और कल्पना का जो भार है, उस भार को पार करना बहुत कठिन बात है। स्मृति और कल्पना, ये हमारे अन्तर्जगत की घटनाएं हैं और वस्तु परिस्थिति का परिवेश या परिस्थिति का सामना बाहरी जगत् की घटनाएं हैं। बाहरी जगत् की घटनाएं हमारे मानस पर उतना प्रभाव नहीं डालतीं, जितना प्रभाव हमारे अन्तर्जगत का, हमारी कल्पना और हमारी स्मृति का, हमारे मन पर और हमारी कार्यक्षमता पर होता है।

यह समझना हमारे लिए बहुत जरूरी है कि कल्पना का भार न ढोना और स्मृति का भार न ढोना। हिंसा, असत्य आदि जितने भी आचरण हैं, जितने भी दोष हैं, वे सारे के सारे दोष, यदि स्मृति और कल्पना को पाट दें तो शायद वर्तमान में प्राप्त ही नहीं हो सकते। वर्तमान का क्षण बहुत शुद्ध होता है। वर्तमान का पवित्र पानी, वर्तमान की गंगा का निर्मल जल अतीत के गंदले और भविष्य के गंदले से गंदला हो जाता है, मलिन हो जाता है और पानी की स्वच्छता चली जाती है। और हम उन दोनों से कटकर, दोनों से पृथक् हो और केवल वर्तमान में रहना सीख लें तो जीवनमुक्त की स्थिति प्राप्त हो सकती है।

आचार्य शंकर ने जो जीवन-मुक्त की परिभाषा लिखी है, उसमें यही तो बताया है—

अतीताननुसन्धानं, भविष्यदविचारणम्।
औदासिन्यमपि प्राप्ते, जीवनमुक्तस्य लक्षणम्॥

यह जीवन-मुक्ति क्या है? जहां अतीत का अनुसन्धान नहीं है और भविष्य की विचारणा नहीं है। भविष्य की कल्पना और योजनाएं नहीं हैं, वह है जीवन-मुक्ति। किन्तु भविष्य की कल्पना और अतीत की स्मृति या अनुसन्धान को छोड़कर हम यदि देखते रहते हैं वर्तमान के परिवेक्षण में, तब हम मुक्ति का

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनुभव करते हैं, हल्केपन का अनुभव करते हैं।

हल्का बनने की यह प्रक्रिया भगवान महावीर ने वर्तमान क्रिया के माध्यम से दी है। हमें हल्का बनना है, शरीर को हल्का करना है। कैसे करना है? इसमें शायद आज मैं नहीं जा सकूंगा। क्योंकि बहुत लम्बा विषय है। पूरी की पूरी प्रक्रिया, कायोत्सर्ग की पद्धति शरीर को हल्का करने में आ जाती है। मन को हल्का करना, कैसे करना? इस विषय में भी आज नहीं कह सकूंगा। क्योंकि मन को हल्का करने की पद्धति में, सबसे पहले हमें मन को समझना होगा। मन क्या है? उसका अस्तित्व क्या है? मन की क्रिया क्या है? मन के बारे में हमारी जो धारणाएं हैं, वे कितनी भ्रान्त हैं और कितनी सही हैं, यह पूरा एक विषय बन जाता है। इसलिए आज मैं इनके विस्तार में नहीं जाऊंगा।

तीसरी बात है श्वास को हल्का करना। जो व्यक्ति श्वास के बारे में नहीं जानता, वह साधना के बारे में नहीं जान सकता। वर्णमाला का पहला अक्षर है 'अ'। जो बच्चा 'अ' को नहीं जानता, वह पंडित तो क्या हो सकता है, साक्षर भी नहीं हो सकता। सबसे पहले उसे 'अ' को समझना जरूरी होता है। जो व्यक्ति श्वास को नहीं जानता वह क्या साधना कर सकता है? कुछ भी नहीं कर सकता। क्योंकि श्वास का हमारे जीवन से इतना निकट का सम्बन्ध है कि उसे समझे बिना जीवन को नहीं समझा जा सकता।

हमारे जीवन में दो स्थितियां हैं—एक हमारा अस्तित्व यानी आत्मा और एक हमारा जीवन। हम अस्तित्व को नहीं जान पाते और शेष सारे जीवन को जान पाते हैं। हम ऐसे सेतु पर खड़े हैं। हम केवल पुल को जानते हैं। इस तट को भी नहीं पकड़ पाते, उस तट को भी नहीं पकड़ पाते, बीच में जो सेतु बना हुआ है, उसे पकड़ पाते हैं। हमारे जीवन के सेतु क्या हैं? आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन—ये छह हमारे सेतु हैं। क्या आत्मा आहार करती है? नहीं करती। आप सब जानते हैं कि आत्मा आहार नहीं करती। तो क्या शरीर आहार करता है? शरीर भी आहार नहीं करता। किन्तु जब आत्मा और शरीर के बीच में एक सेतु होता है तो आहार होता है।

कौन बोलता है? आत्मा बोलती है क्या? आत्मा को बोलने की जरूरत नहीं। आत्मा की कोई भाषा ही नहीं है। आत्मा उस स्थिति में है, जहां से सारे स्वर लौट आते हैं—सब्वे सरा नियट्टंति। जहां शब्द की कोई पहुंच नहीं है। जहां कोई तर्क नहीं है—तक्का तत्थ न विज्जइ। जहां कोई मनन और चिन्तन नहीं है—मई तत्थ न गाहिया। जहां कोई स्मृति नहीं है। जहां कोई कल्पना नहीं है। उस बिन्दु का नाम है—आत्मा या अस्तित्व।

कौन बोलता है? शरीर बोलता है क्या? शरीर बेचारा जड़ है। वह क्या बोलेगा? वह नहीं बोल सकता। आत्मा नहीं बोलती, शरीर नहीं बोलता,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बोलता है सेतु। खाता है सेतु। सेतु खाता है, सेतु बोलता है और सेतु सोचता है। हम उस सेतु पर खड़े हैं। अब हमें यह निर्णय करना है कि किधर जाएं ? इधर जाएं या उधर जाएं ? अपने अस्तित्व की ओर जाएं या जीवन की ओर जाएं ? यह चुनाव हमें करना है। इस चुनाव का ही नाम है साधना का विचार करना। इस चुनाव का जो बिन्दु है, वह साधना का बिन्दु है। आदमी चाहे तो इधर जा सकता है और चाहे तो उधर जा सकता है। अस्तित्व की ओर गति होगी, वह एक प्रकार की गति होगी। और जीवन की ओर गति होगी, वह एक प्रकार की गति होगी। ये दोनों तट हैं और इन दोनों तटों के बीच में एक सेतु है। इस सेतु का हमें निर्णय करना है। और यह हमारा साधना का मुख्य विषय होगा। साधना का मुख्य विषय है सेतु पर खड़ा होकर देखना। दोनों ओर झांकना। दोनों के परिणामों को देखना। दोनों के परिणामों की समालोचना करना और दोनों के परिणामों पर विचार करना तथा विचार के बाद अपना निर्णय करना कि किधर जाना मेरे हित में है और किधर जाना मेरे हित में नहीं है।

यही विचार भगवान महावीर ने इतनी स्पष्टता से दिया था कि जिसे हम चाहे साधना-पद्धति कहें, चाहे योग कहें और चाहे किसी दूसरे नाम से पुकारें। किन्तु वह विचार सचमुच अपने अस्तित्व की ओर जाने का विचार है। और अस्तित्व की ओर जाने का जितना स्पष्ट विचार, जितनी स्पष्ट गति और प्रखर गति भगवान महावीर ने दी, बहुत कम लोगों ने दी होगी।

चेतना के जागरण का पहला बिन्दु क्या है ? पहला बिन्दु है—विवेक। सूत्रों में बहुत बार आया है—विवेक प्रतिमा, व्युत्सर्ग प्रतिमा। हम आज नहीं करते हैं विवेक प्रतिमा। मुनि के लिए बहुत आवश्यक था कि धर्म जागरिका के समय, पूर्व रात्रि और अपर रात्रि में, वह विवेक प्रतिमा का अभ्यास करे, विवेक प्रतिमा स्वीकार करे, उसका अनुशीलन करे।

यह विवेक प्रतिमा क्या है ? कहां से हमें विवेक करना है ? दो भिन्न वस्तुओं का संगम हो रहा है एक माध्यम के द्वारा। इधर प्राण और जीवन की शक्ति तथा ऊर्जा है और उधर अस्तित्व की शक्ति, आत्मा की शक्ति है। अस्तित्व और प्राण—इन दोनों का संगम हो रहा है, मिश्रण हो रहा है और हमारी समझ में एकता हो रही है। हमारी अनुभूति ऐसी हो रही है कि अस्तित्व को हम प्राण की दृष्टि से देखते हैं और प्राण को अस्तित्व के साथ देखते हैं। इन दोनों में विवेक करना, विभेद करना, पृथक्त्व का बोध करना, भेदज्ञान करना—यह है हमारा विवेक।

विवेक हमारी साधना का पहला बिन्दु है और विवेक के बाद हमें गति को मोड़ देना है। उस मोड़ पर जो-जो मोड़ प्राप्त होंगे, वे क्रमशः आपके सामने स्पष्ट होते चले जाएंगे।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रश्न : समाधान

प्रश्न—क्रियमाण हिंसा हिंसा नहीं होती। स्मृति की हिंसा हिंसा होती है, यह कैसे ?

उत्तर—यह मैंने नहीं कहा कि क्रियमाण हिंसा, हिंसा नहीं होती। क्रियमाण हिंसा उतनी हिंसा नहीं होती, जितनी कि स्मृति की हिंसा होती है। वर्तमान की जो घटना है, वह हिंसा तो है ही। किन्तु वह हिंसा का मूल नहीं है। हिंसा का मूल है स्मृति। यदि मन में हिंसा का संस्कार न हो और हिंसा का संस्कार स्मृति के रूप में जागृत न हो तो वर्तमान की हिंसा कोई कर ही नहीं सकता। कोई भी आदमी वर्तमान में जो हिंसा कर रहा है, वह इसीलिए कर रहा है कि उसके मन में हिंसा का संस्कार है। और उस हिंसा के संस्कार की स्मृति जागृत हो रही है। इसलिए वर्तमान में हिंसा कर रहा है। इसलिए हिंसा का मूल दोष है, बड़ा दोष है—स्मृति, न कि वर्तमान की घटना। वह तो इसका एक परिणाम है। जहां निवारण का प्रश्न है, वहां हमारी चेतना का जैसे-जैसे ऊर्ध्वारोहण होगा, तो हिंसा अपने-आप समाप्त हो जायेगी। हिंसा छोड़ने से समाप्त नहीं होती, करने से समाप्त नहीं होती, चेतना का जागरण होता है तो अपने-आप समाप्त हो जाती है। क्योंकि उससे हिंसा का संस्कार समाप्त होता है और जब संस्कार समाप्त हो जाता है तो स्मृति और घटनाएं, ये दोनों नहीं होतीं।

प्रश्न—ऊर्ध्वारोहण करना चाहिए या चेतना का जागरण करना चाहिए ? शैतान के चेतना तो होती है परन्तु उसकी चेतना अधोगामी होती है। ऊपर के व्यक्ति की चेतना ऊर्ध्वगामी होती है परन्तु जो मध्यवर्ती व्यक्ति हैं, उनकी चेतना का तो इतना विकास ही नहीं होता तो उनकी चेतना का ऊर्ध्वारोहण करना चाहिए या जागरण ?

उत्तर—बात ठीक है। चेतना का जागरण मध्यबिन्दु है। इधर है नींद और उधर है ऊर्ध्वारोहण। नीचे जाना, ऊपर जाना। बीच का बिन्दु है जागरण। यानी जागरण के बिन्दु पर जो चेतना चली जाती है, उसका ऊर्ध्वारोहण शुरू हो जाता है और जो जागरण के बिन्दु से इधर रहती है, उसका नीचे गमन होता चला जाता है। मैंने कहा था कि सेतु पर खड़ा होकर आदमी विवेक करता है। वह विवेक है जागरण और जब वह जाग जाता है उसके बाद चेतना का मतलब ही है कि ऊर्ध्वारोहण शुरू हो गया। इधर प्रस्थान हमारा हो गया, उधर अभियान हमारा शुरू हो गया।

प्रश्न—जिसकी शक्ति जागृत है, उसका ऊर्ध्वारोहण आसानी से किया जा सकता है। पर ऊर्ध्वारोहण क्यों करना चाहिए ?

उत्तर—सुप्त शक्ति कोई काम नहीं करती, बिलकुल निष्क्रिय होती है। अब

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शक्ति का जागना एक बात है और शक्ति का दिशागामी होना एक बात है। शक्ति जागृत है किन्तु प्रश्न है दिशा का। किस दिशा में गति हो रही है, किस दिशा में जा रही है? जो शैतान की शक्ति है यानी अहंकार और ममकार की जो शक्ति है, अहंकार और ममकार की जो जागरणा है, हम इस भाषा में तो कह सकते हैं कि वह शक्ति जाग उठी है। किन्तु वह मूर्च्छा का तीव्र प्रयत्न है। उसे जागृति के शब्द से नहीं पुकारा जा सकता। मूर्च्छा भी शक्ति होती है। हम जानते हैं कि मनुष्य को जब सन्निपात होता है, उसकी शक्ति बढ़ जाती है। शक्ति तो है, किन्तु वह जागृत शक्ति नहीं है, जागरण की शक्ति नहीं है। वह मूर्च्छा की शक्ति है। यह मूर्च्छा की शक्ति जब प्रकट होती है तब मनुष्य नीचे की ओर जाता है या वह काम करता है जो जागरण के क्षणों में नहीं करता।

प्रश्न—सेतु का निर्माण किसने किया?

उत्तर—उसका निर्माण कौन करता है, यह बड़ा जटिल प्रश्न है। क्योंकि जहां निर्माण की बात आती है, पहली बात वहीं आ जाती है कि यह जीवन कब से हुआ? आत्मा का अस्तित्व या चेतना कब से हुई? किसने की? वह रोहक वाला प्रश्न आ जाता है कि अंडा पहले हुआ या मुर्गी पहले हुई? दोनों में से कौन पहले हुआ? यह निर्माण की बात बीच में ही दबी रहे तो ठीक है। हमें समझना यही है कि अस्तित्व का कोई आदि-बिन्दु प्राप्त नहीं है। और जीवन का भी आदि-बिन्दु प्राप्त नहीं है। जब अस्तित्व और जीवन के आदि-बिन्दु प्राप्त नहीं हैं, तब निर्माण का भी आदि-बिन्दु प्राप्त नहीं है। यानी अस्तित्व और जीवन दोनों खुले हुए हैं। दोनों मिश्रित रूप में चले आ रहे हैं और उस मिश्रण में से ही यह निर्माण अपने-आप होता चला जा रहा है। इसलिए आदि-बिन्दु की जो खोज है, वह वास्तव में अव्यक्त ही मान ली जाये।

मकान कब बना पता नहीं। पचास वर्ष पहले के बने हुए मकान मिलते हैं। ऐसे मकान मिलते हैं जो हमारे जन्म से पहले ही बन गये। कई पीढ़ियों के बने हुए मकान भी मिल जाते हैं। मकान की बनावट को, मकान की चिनाई को हमने नहीं देखा किन्तु मकान को आज हम देख रहे हैं। इसलिए मकान के बारे में हम आलोचना कर सकते हैं कि यह ठीक बना या ठीक नहीं बना। कैसे बना, उसकी समीक्षा करना हमारा काम है। क्योंकि उसे आज हम देख रहे हैं। निर्माण को नहीं देख रहे हैं।

जो सेतु प्राप्त है, हम उस सेतु को देख रहे हैं। उस सेतु के बारे में निर्णय लेना हमारा काम है, किन्तु सेतु के निर्माण के बारे में हमें जानकारी नहीं है। कुछ करें तो विवेक कर सकते हैं कि सेतु के इधर जाना है या उधर जाना है। पुल बना हुआ है। हमने नहीं देखा कि नदी का पुल कब बना। पुल के इस पार जाना है या उस पार जाना है, यह निर्णय करना तो हमारा काम हो सकता है। किन्तु पुल के

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निर्माण को या निर्मिति को देखना शायद हमें प्राप्त नहीं है।

प्रश्न—आत्मा शब्दातीत है और मन जड़ होता है तो विवेक का निर्णय कौन करेगा ?

उत्तर—हम जानते हैं कि निर्णय करने में शब्दों की जरूरत नहीं होती और वास्तव में सही निर्णय वहां होता है, जहां शब्दों की हमें आवश्यकता नहीं होती। शब्दों की बहुत आवश्यकता होती भी नहीं है। हम स्वप्न देखते हैं। स्वप्न में क्या कोई शब्द होता है ? एक व्यक्ति को देखते हैं, वस्तु को देखते हैं। मैं खंभे को देख रहा हूं। इसे देखने में शब्द की कोई जरूरत नहीं है। शब्दों की जरूरत वहां होती है, जहां कि हमारे प्रत्यक्ष में कुछ नहीं होता। इसीलिए बौद्धों ने विकल्प को अप्रमाण माना है। उन्होंने माना कि 'निर्विकल्पं प्रत्यक्षं प्रमाणं'—जो निर्विकल्प प्रत्यक्ष है, वही प्रमाण है। जहां प्रत्यक्ष में शब्द का प्रवेश हो गया, वहां प्रमाण खंडित हो गया, यानी अप्रमाण हो गया, प्रत्यक्ष नहीं रहा। अनुमान भी प्रमाण नहीं है उसका। केवल औपचारिक प्रमाण मानते हैं। जो निर्विकल्प है, शब्दातीत है, वही वास्तव में प्रमाण होता है।

हमारे दर्शन में शब्द की कोई आवश्यकता नहीं होती। एक अतीन्द्रिय ज्ञानी जो देखता है, शब्द नहीं होता, केवल साक्षात् होता है। शब्दों का माध्यम तो हमारी दुर्बलता है। यह बैसाखी तो हमने इसलिए हाथ में ली, क्योंकि लंगड़ाते हुए चलते हैं। हमारी आंखों में वह ज्योति नहीं है, इसलिए चश्मा लगा लेते हैं। यह हमारी कोई शक्ति नहीं, केवल दुर्बलता और सापेक्षता है। वास्तव में शब्द की कोई जरूरत नहीं। निर्णय हम इसीलिए लेते हैं कि हमारे भीतर भी एक ज्योति झांक रही है। हमारा अस्तित्व इसी से प्रमाणित होता है। अगर हमारा अस्तित्व वास्तव में शब्द तक ही सीमित होता तो हमारी यह निर्णय लेने की शक्ति समाप्त हो जाती। हम भौतिक वातावरण में रहते हुए भी अस्तित्व की, आत्मा की, चेतना की बात करते हैं, यही इसका सबसे बड़ा प्रमाण है कि हमारी भौतिकता के तल में छिपी हुई कोई ऐसी प्रखर ज्योति है जो कि निर्णय ले रही है और वह निर्णय हमारे बाहर तक पहुंच रहा है। जैसे भीतर कमरे में बिजली जल रही है, दीपक जल रहा है और मकान में जो छिद्र है, जो द्वार है या खिड़कियां हैं, उनके द्वारा प्रकाश बाहर जाता है। छिद्र से प्रकाश बाहर झांकता है। चेतना पर आवरण हैं। चेतना का प्रकाश, छेदों को लांघकर, बाहर की ओर आता है। वह हमारा निर्णय होता है। और इसलिए हमें बाहर से भीतर और सेतु के उस पार जाने की प्रेरणा प्राप्त होती है।

प्रश्न—जागरण को साधना का फलित मानें या साधना का आदि-बिन्दु ?

उत्तर—जागरण वास्तव में साधना का आदि-बिन्दु है। फलित भी इस भाषा में मान सकते हैं, जो दीप एक बार जल जाता है, वह कभी बुझता नहीं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वह अखंड ज्योति है। अमिट ज्योति है। जो ज्योति एक बार प्रज्ज्वलित हो गयी, वह कभी नहीं बुझती। और चेतना की लौ तो कभी बुझती ही नहीं। जागरण है चेतना के ऊर्ध्वारोहण का आदि-बिन्दु। हर मनुष्य के पास शक्ति के कोष होते हैं। शक्ति का संचय होता है। जिसे अपनी पारिभाषिक भाषा में कहते हैं लब्धि। वह तो होती है। प्रश्न यह नहीं होता शक्ति के प्राप्त करने का। प्रश्न होता है शक्ति के प्रयोग का। जिसे कहते हैं करणवीर्य यानी क्रियात्मक प्रयोग करना। शक्ति का प्रयोग करना। जिनमें जागरण हो जाता है, चेतना की ऊर्ध्वारोहण की ओर गति हो जाती है, उनकी शक्ति का प्रयोग ऊर्ध्व दिशा में होने लग जाता है और जिनका जागरण नहीं होता, नींद में होते हैं, उनकी शक्ति का प्रयोग अधोदिशा में होने लग जाता है। ये प्रयोग की दो दिशाएं हैं। शक्ति में कोई तारतम्य नहीं है और शक्ति का संचय तो दोनों में ही समान रूप से होता है।

प्रश्न—शक्तियों को जागृत क्यों करना चाहिए ?

उत्तर—यह प्रश्न तो इसमें स्वयं समाहित है कि हमें चेतना को किस दिशा में ले जाना है। ऊपर की ओर ले जाना है या नीचे की ओर ले जाना है। हमारे चिन्तन को, हमारे विचार को, हमारे आचरण को किस दिशा में ले जाना है ? हमारे यहां दो शब्द रहे हैं—एक स्वर्ग और एक नरक। तुम स्वर्ग का जीवन चाहते हो या नरक का जीवन चाहते हो ? ये दोनों प्रतीक रूप में चलते हैं। एक उस जीवन का, जहां जीवन समाप्त हो जाता है, उसका। एक हो सकता है जीवन की असफलता का या उसके नीचे जाने का। प्रश्न यह है कि हम क्या चाहते हैं ? हर आदमी उन्नति चाहता है, जीवन में सफल होना चाहता है, सार्थक होना चाहता है, जीवन की धन्यता चाहता है और जीवन में महान होना चाहता है। यह महानता, जीवन की सफलता, जीवन की धन्यता और जीवन की सार्थकता एक ओर है और दूसरी ओर है ठीक इससे विपरीत या उल्टा—जीवन की असफलता, जीवन की व्यर्थता और जीवन की निरर्थकता। हर आदमी चुनाव यही करेगा कि वह जीवन की उच्चता में जाना चाहता है। हर आदमी सफल होना चाहता है, सार्थक होना चाहता है, धन्य होना चाहता है और महान् होना चाहता है। वह महानता, शक्ति-संचय और शक्ति-प्रयोग से प्राप्त होती है।

तो यह हमने स्पष्ट जान लिया कि शक्ति का—चेतना का ऊर्ध्वारोहण की ओर प्रयत्न करने से, उस दिशा में चेतना को ले जाने से जीवन को महानता, सफलता आदि-आदि प्राप्त होते हैं और इसके विपरीत ले जाने से ठीक उल्टा प्राप्त होता है। इसलिए हमने यह चुनाव किया साधना का कि हम जीवन की सफलता के लिए, सार्थकता के लिए अपनी शक्ति को उस दिशा में ले जाना चाहते हैं, उस दिशा में जागृत करना चाहते हैं और उस दिशा में नियोजित करना चाहते हैं।

प्रश्न—यदि हमने श्वास का विवेक प्रारम्भ से नहीं किया तो क्या यह मानें

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कि हमारी साधना रूढ़ है ?

उत्तर—विवेक कितनी बार जागता है, वह कोई एक बिन्दु में पूरा नहीं हो सकता। नोखा में जहां से प्रवेश किया वहां भी नोखा है। जहां बैठे हैं, यह भी नोखा है और लगभग एक मील तक चले जाएंगे तो भी नोखा है। पर यह तो बहुत छोटा है। कलकत्ता के पहले छोर और अंतिम छोर में कम-से-कम दस मील की दूरी होगी। उस दस मील के अन्दर सब जगह कलकत्ता ही माना जायेगा। इसी प्रकार विवेक सब जगह है। जिस बिन्दु से चले हैं वह भी विवेक है और जिस बिन्दु तक पहुंचेंगे तब तक विवेक होगा। हमें यह मान लेना चाहिए कि जिस विवेक के बिन्दु से साधना पर चले थे, वह भी विवेक था और श्वास के ऊपर का जो विवेक मिलेगा, वह भी विवेक है। अगर रूढ़ होते तो यह बात सोचते ही नहीं कि श्वास का विवेक हमें करना है। इसलिए रूढ़ तो नहीं है पर एक बात जरूर है कि पद्धतियां भिन्न होती हैं। साधना की पद्धति में संकल्प करना भी साधना का एक विवेक है। किसी व्यक्ति ने अगर यह दृढ़ निश्चय कर लिया कि हमें संकल्प को मज़बूत बनाना है तो फिर उसे शायद श्वास को पकड़ने की कोई ज़रूरत नहीं है। व्यक्ति का संकल्प दृढ़ होगा तो निश्चित ही श्वास की जो प्रक्रियाएं होती हैं, वे सारी की सारी सहज ही फलित हो जायेंगी।

रोटी बनाने वाले को यह पता नहीं है कि गेहूं के आटे में क्या-क्या है ? खाने वाले को भी पता नहीं है। फिर भी जो रोटी खाता है, उसे अपने आप प्रोटीन मिल जायेगा तथा और भी जितने तत्त्व आटे में हैं सारे के सारे मिल जायेंगे। तो एक है होना और एक है जानना कि होगा। हम बहुत अनजाने में भी किसी सत्य को पकड़ लेते हैं तो वह अपने आप फलित हो जाता है। अगर संकल्प को इतना दृढ़ कर दें और जिस व्यक्ति का संकल्प इतना दृढ़ और मज़बूत हो गया, श्वास की सारी घटनाएं अपने आप ही उसमें हो जायेंगी। इसीलिए योग के आचार्यों ने बतलाया भी है कि श्वास, मन और बिन्दु (वीर्य)—इन तीनों में से एक को पकड़ने पर दो बातें अपने आप पकड़ में आ जाती हैं। जिस व्यक्ति ने श्वास को समझा और मन को पकड़ने का प्रयत्न नहीं किया, फिर भी मन की सारी घटनाएं अपने आप ही समझ में आ जायेंगी। किसी व्यक्ति ने मन को पकड़ा, श्वास को नहीं पकड़ा, मन को दृढ़ता के साथ संकल्प मिला तो श्वास की सारी स्थितियां अपने आप ही समझ में आ जायेंगी।

पचासों रास्ते हैं एक गांव में जाने के लिए और पचासों दरवाज़े हैं एक मकान में प्रवेश पाने के लिए। किसी में से घुसो, आख़िर घुसो। उसके अन्दर जाने का प्रयत्न करो। एक दरवाज़े से भी घुसें तो भी हम सारे मकान में घूम सकते हैं, कोई रुकावट नहीं होगी। चाहे पूरब से आयें, चाहे पश्चिम से आयें और चाहे उत्तर या दक्षिण या किसी भी ओर से आयें, आख़िर मकान के भीतर हमें घुसना है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

२

अमूल्य का मूल्यांकन

- शब्द का मूल्यांकन अमूल्य का मूल्यांकन है।
- श्वास का शारीरिक मूल्य—
    - मस्तिष्क की क्रियाशीलता।
    - रक्त की गतिशीलता।
    - जीवन-यात्रा का अनन्यतम पाथेय।
- श्वास का आंध्यात्मिक मूल्य—
    - चेतना का ऊर्ध्वारोहण।
    - अतीन्द्रिय शक्तियों की प्राप्ति।
    - सतत जागरण की अवस्थिति।

•

आज मैं अपनी बात एक कहानी से शुरू करता हूं। एक था राजा। एक था संन्यासी। संन्यासी अपरिग्रही था। नग्न था। पास में कुछ भी नहीं था। तपस्वी था। जनता में उसकी काफ़ी ख्याति फैल गयी। हज़ारों-हज़ारों व्यक्ति उसके पास आने लगे। बात राजा तक पहुंची। राजा के मन में श्रद्धा का भाव जागा और वह संन्यासी के पास आया। संन्यासी को देखा। आसपास का वातावरण देखा। राजा बहुत प्रभावित हुआ।

राजा के मन पर संन्यासी की तपस्या की, उसके त्याग की अमिट छाप पड़ गयी। एक दिन वह बोला—'गुरुदेव! आप बहुत बड़े त्यागी हैं। आपके पास वस्त्र नहीं, मकान नहीं, पैसा नहीं, कुछ भी नहीं। कितने बड़े त्यागी हैं!' राजा ने काफ़ी प्रशंसा की।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संन्यासी गम्भीर मुद्रा में सुनता रहा, सुनता रहा। कुछ क्षण बाद राजा मौन हो गया तो संन्यासी बोला—"राजन्! तुमने मेरी प्रशंसा की, पर वास्तव में मुझे लगता है कि तुम्हारे त्याग के सामने शायद मेरा त्याग छोटा है। तुम बड़े त्यागी हो।"

राजा अवाक् रह गया। सोचा—"यह कैसे? मैं त्यागी कैसे हो सकता हूं? इतने बड़े राज्य का, ऐश्वर्य का, वैभव का भोग कर रहा हूं और गुरुदेव कह रहे हैं कि तुम बड़े त्यागी हो। यह कैसे?" राजा समझ नहीं पाया। उसने पूछा—"गुरुदेव! मैं कहां त्यागी हूं? त्यागी तो आप हैं?"

संन्यासी बोला—"राजन्, मैंने जो कुछ छोड़ा है वह बहुत के लिए अल्प को छोड़ा है। मैं परमात्मा बनना चाहता हूं, परमात्मा का ऐश्वर्य पाना चाहता हूं। उसके लिए मैंने छोड़ा है। मैंने अल्प छोड़ा है और बहुत के लिए छोड़ा है। और तुम बहुत को छोड़कर अल्प में मुग्ध हो रहे हो। कहो, त्याग तुम्हारा बड़ा या मेरा बड़ा?" राजा नत हो गया।

सचमुच यह प्रश्न हमारे लिए भी उपस्थित होता है। और उन सबके लिए भी जो श्वास का मूल्य नहीं जानते। श्वास का मूल्य नहीं जानने वाला हर कोई व्यक्ति शायद बहुत को छोड़कर अल्प की उपासना कर रहा है। साधना के क्षेत्र में आता है और श्वास का मूल्यांकन नहीं करता, वह वास्तव में आत्मा का मूल्यांकन नहीं करता, परमात्मा का मूल्यांकन नहीं करता और वह बहुत के लिए शायद छोटे में, अल्प में, मुग्ध हो रहा है। आप सोचेंगे कि श्वास का इतना क्या महत्त्व है? आखिर वह भौतिक वस्तु है। वह हमारे शरीर का एक हिस्सा है। उसका इतना मूल्य क्यों है? तो मैंने सोचा कि इसी विषय पर कुछ बातें कहूं कि हमें मूल्य का नहीं, अमूल्य का मूल्यांकन करना है। मेरे विषय का शीर्षक ही यही होगा—'अमूल्य का मूल्यांकन'। श्वास वास्तव में हमारे लिए अमूल्य है। उसका मूल्यांकन हमें करना है।

रोटी का हमारे जीवन में मूल्य है। रोटी के बिना कोई आदमी जी नहीं सकता। पानी का हमारे जीवन में मूल्य है। पानी के बिना कोई आदमी जी नहीं सकता। श्वास का हमारे जीवन में मूल्य है। श्वास के बिना कोई आदमी जी नहीं सकता।

रोटी के बिना कुछ दिनों तक मनुष्य जी सकता है, हमने अपनी आंखों से देखा है। पानी के बिना भी कुछ दिनों तक जी सकता है, यह भी देखा है। किन्तु श्वास के बिना कुछ महीनों की बात नहीं, कुछ दिनों की बात नहीं, कुछ घंटों की बात नहीं, कुछ मिनटों तक भी नहीं जीया जा सकता। अगर पांच मिनट श्वास न लेना हो तो न जाने क्या बीते? तो मूल्य किसका ज्यादा है? रोटी का अधिक, पानी का अधिक या श्वास का अधिक?

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मैं समझता हूं सब लोग इस बात को स्वीकार करेंगे कि रोटी और पानी की अपेक्षा श्वास का मूल्य अधिक है। किन्तु जो मूल्य हमें मान्य है, वह भी बहुत छोटा है। बहुत छोटा मूल्य है। यह श्वास का शारीरिक मूल्य है। भौतिक मूल्य है। श्वास का मूल्य इससे बहुत ज्यादा बड़ा है।

पहला है श्वास का शारीरिक मूल्य और दूसरा है श्वास का आध्यात्मिक मूल्य। श्वास का बहुत अधिक आध्यात्मिक मूल्य है। और साधना के क्षेत्र में इतना बड़ा उपयोगी तत्त्व, शायद मुझे लगता है कि, दूसरा कम है। बहुत कम।

मैं इस बात की ओर बहुत अधिक ध्यान देता रहा हूं कि श्वास पर अधिक से अधिक अभ्यास किया जाए और उसे जानने का, समझने का प्रयत्न किया जाए। जैसे-जैसे प्रयत्न किया, कुछ रहस्य खुलते जा रहे हैं। मुझे लगता है कि इसमें और ज्यादा रहस्य भरे पड़े हैं। जिस दिन श्वास के सारे रहस्य हमारे सामने उद्‌घाटित हो जायेंगे, शायद हम न जाने क्या बन जायें ? यह एक बहुत बड़ा विषय है।

श्वास का शारीरिक मूल्य तो आप जानते हैं। शरीरशास्त्र की दृष्टि से श्वास न हो तो हमारी मांसपेशियां गति नहीं देतीं, हमारे शरीर में क्षमता उत्पन्न नहीं होती। हमारे दिमाग के तन्तु मृत हो जाते हैं। हमारे हृदय की धड़कन बन्द हो जाती है। आदमी मर जाता है। यह श्वास का शारीरिक मूल्य है।

श्वास का आध्यात्मिक मूल्य है—चेतना का ऊर्ध्वारोहण और अतीन्द्रिय ज्ञान की प्राप्ति, प्रातिभ ज्ञान की प्राप्ति, अप्रमाद—सतत जागरण की अवस्था। ये श्वास के ज्ञान के बिना नहीं हो सकते।

भगवान् महावीर ने कहा—एक क्षण भर के लिए भी प्रमाद मत करो। बात बहुत अच्छी है कि प्रमाद एक क्षण के लिए भी न किया जाये, पर यह हो कैसे सकता है ? इसकी साधना क्या है ? इसका उपयोग क्या है ? इसका उपाय है—श्वास पर ध्यान को केन्द्रित करना। यह पद्धति बौद्धों में रही है। इसे 'आनापानसती' कहा जाता है। श्वास पर ध्यान को केन्द्रित करो और प्रति पल श्वास के साथ मन को जोड़ दो। मन अप्रमत्त रहेगा। मैं समझता हूं कि जैनों में भी यह पद्धति रही है। जो 'यथालन्दक मुनि' होते थे, वे क्षण-क्षण के लिए जागरूक रहते थे। एक क्षण भी उनमें प्रमत्तता नहीं आती थी। उनकी अप्रमत्त दशा का माध्यम था कायोत्सर्ग या श्वास पर ध्यान केन्द्रित करना। यह श्वास जागरण का बहुत सजग प्रहरी है।

एक भक्त था और बहुत बड़ा पहुंचा हुआ था। राजा ने एक बार पूछा—"भई ! कभी मुझे भी याद करते हो क्या ?" वह बोला—"जब भगवान् को भूल जाता हूं तब आपको याद करता हूं। जब भगवान् की स्मृति रहती है, तब कभी आपको याद नहीं करता।"

मैं इसे रूपक की भाषा में कहूं तो क्रोध, अभिमान, दम्भ, लालच आदि-आदि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आवेगों ने किसी साधक से पूछा—"हम तुम्हारे बहुत परिचित साथी हैं। क्या कभी तुम हमें याद करते हो?" साधक ने उत्तर दिया—"जब श्वास को भूल जाता हूं तब तुम्हें याद करता हूं। जब श्वास की स्मृति रहती है, तुम्हें याद नहीं करता।"

यह कैसे? आप लोगों के मन में भी प्रश्न हो सकता है। किन्तु आप सही समझिए, जब श्वास हमारा शान्त होता है, हमें कोई आवेग आ नहीं सकता। श्वास शान्त, आवेग शान्त। श्वास क्षुब्ध, आवेग का अवतरण। यह इतना निश्चित नियम है कि आप श्वास को शान्त रखकर क्रोध करना चाहें तो कभी नहीं कर सकते। क्रोध आने के पहले, आपके श्वास को उत्तेजित और क्षुब्ध होना होगा, तभी क्रोध आ सकता है। श्वास के क्षुब्ध हुए विना क्रोध आ ही नहीं सकता। कितना निश्चित नियम है।

योग का एक सिद्धान्त है—मुद्रा और मानस। मुद्रा और मानस यानी मुद्रा के अनुकूल आवेग आयेगा या आवेग की मुद्रा होने पर, आवेग के आने पर उसके अनुकूल मुद्रा बन जायेगी। दोनों में निश्चित सम्बन्ध है। किसी आदमी ने हत्या पद्मासन में बैठकर की हो, शान्तरस में बैठकर की हो, शायद दुनिया में ऐसी कोई भी घटना नहीं मिलेगी। हो नहीं सकती। जिसे हिंसा करनी है, उसे क्रोध-मुद्रा का निर्माण करना होगा। उसकी आंखें लहूलुहान जैसी हो जायेंगी। उसकी आकृति पर एक बीभत्सता का दृश्य उपस्थित हो जायेगा, हाथ कांपने लग जाएंगे, भुजाएं फड़कने लग जाएंगी। तब उसमें किसी को मारने की, आवेश की स्थिति उत्पन्न होती है और वह क्षमता पैदा होती है। कोई भी शस्त्र का प्रयोग करने वाला, अपने आपको क्षुब्ध किये विना और उस प्रकार की मुद्रा का निर्माण किये विना वैसा काम कर नहीं सकता।

मानस और मुद्रा, इन दोनों का बहुत गहरा सम्बन्ध है। जब बृहद्कल्प सूत्र में कुछ नियम पढ़े—साध्वी को सीधा नहीं सोना, साधू को औंधा नहीं सोना। पर यह क्यों? कुछ समझ में नहीं आ रहा था। किन्तु जब से यह मुद्रा और मानस का सिद्धान्त समझ में आया, तब से यह समझ में आ गया कि बहुत ही मनोवैज्ञानिक ढंग से ये व्यवस्थाएं की गयी हैं। काम की मुद्रा, चिन्ता की मुद्रा, क्रोध की मुद्रा—ये जो सारी मुद्राएं हैं, इनका निर्माण होने पर काम, क्रोध, चिन्ता आदि के आवेग सहज ही उनमें उतर जाते हैं।

जो आदमी चिन्तित है, उसे कोई सिखाने नहीं आता कि तुम इस प्रकार करो। मन में चिन्ता आयी कि हाथ सिर पर चला जाता है। सिर को खुजलाने लगेगा, दृष्टि जमीन पर गड़ जायेगी या आकाश की ओर उठ जायेगी। यह मुद्रा का निर्माण कौन करता है? हमारे जो अन्तरंग के आवेग हैं, जो भाव हैं, वे स्वयं इस प्रकार की मुद्रा का निर्माण करते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उल्टा चलिये। इस प्रकार की मुद्रा करिये। करते रहिये। मुद्रा जिस प्रकार सधी, उस प्रकार का भाव भी उतरने लगेगा। मुद्रा से आवेग का अवतरण होता है और आवेग मुद्रा का निर्माण करता है—यह इतना अटूट सम्बन्ध है, इतना गहरा और घनिष्ठ सम्बन्ध है कि एक के होने पर दूसरी स्थिति घटित हो जाती है।

यह मुद्रा और मानस का सम्बन्ध यदि हम ठीक मे समझ लें तो आवेग की मुद्रा में नहीं जाएंगे। हमारा श्वास शान्त रहेगा। जब हमारा श्वास शान्त रहेगा तब आवेग आ नहीं सकता। गुस्सा आ भी गया तो तत्काल आधा मिनट के लिए नाक को बन्द कर लीजिए, गुस्सा शान्त हो जायेगा। कोई भी बड़ा आवेश आया, क्षण भर के लिए कुंभक कर लीजिये, आवेश उतर जायेगा।

सुदर्शन जा रहा था। अर्जुनमालाकार सामने आया। देखा—सामने मौत आ रही है। तत्काल कायोत्सर्ग में खड़ा हो गया। उपसर्ग के आने पर जो कायोत्सर्ग का विधान मिलता है उसका रहस्य क्या है ? यही तो है कि कायोत्सर्ग करने पर सामने आनेवाली जो विभीषिकाएं हैं, सामने आने वाली जो घटनाएं हैं और जो घटनाएं हमारे मानस को विचलित कर सकती हैं, जो हमें संत्रस्त और मार्गच्युत कर सकती हैं, कायोत्सर्ग की मुद्रा में आने पर हमारा आवेग शान्त हो जाता है और शान्त स्थिति में आनेवाली प्रत्येक घटना का सामना करने के लिए हमारी क्षमता पैदा हो जाती है और उसे हम बड़े शान्तभाव से सहन कर सकते हैं। उसे सहन करने के लिए स्थान-स्थान पर कायोत्सर्ग की प्रतिक्रिया बतलायी है। और इसे हमारे आचार्यों ने अभिभव कायोत्सर्ग कहा है। अभिभव कायोत्सर्ग आनेवाली कठिनाइयों को झेलने की तैयारी है। कायोत्सर्ग कर लेने पर श्वास की स्थिति शान्त हो जाती है और शान्त स्थिति में आवेग की स्थिति कभी पैदा हो नहीं सकती। और उसे ग्रहण करने की क्षमता बढ़ जाती है।

हमारा श्वास कई प्रकार का होता है। एक श्वास तो साधारण होता है। प्रत्येक स्वस्थ व्यक्ति के शरीर में सोलह से उन्नीस तक श्वास आते हैं। यह हमारा सामान्य श्वास है। दूसरा है पूर्ण श्वास यानी गहरा श्वास। एक होता है क्षुब्ध श्वास। एक होता है शान्त श्वास। एक होता है सूक्ष्म श्वास और एक होता है निरुद्ध श्वास। इस प्रकार श्वास के छह प्रकार बन जाते हैं :

१. सामान्य श्वास
२. पूर्ण श्वास
३. क्षुब्ध श्वास
४. शान्त श्वास
५. सूक्ष्म श्वास
६. निरुद्ध श्वास

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सामान्य श्वास के बारे में आप लोग जानते हैं। अब आता है पूर्ण श्वास। यानी गहरी श्वास। जो श्वास हमारी छाती और पेट तक आ जाये, वह गहरा श्वास होता है। क्षुब्ध श्वास वह होता है, जैसे परिश्रम किया, कठोर श्रम किया, जो सोलह से उन्नीस तक का अनुपात है, बढ़कर बीस, पचीस और तीस हो जाता है। सामने कोई भय की घटना उपस्थित हो गयी, उसका असर हुआ और श्वास की गति तीव्र हो जाती है। बुखार हो गया, श्वास बढ़ जाता है। ज्वर की अवस्था में हमेशा श्वास बढ़ता है और श्वास शान्त रहे तो ज्वर आ नहीं सकता। इसीलिए योग में एक प्रक्रिया है कि जब बुखार आने लगे, तब नाभि पर ध्यान करो। नाभि पर ध्यान करने से श्वास की मात्रा कम हो जाती है और श्वास कम होती है तो ज्वर बढ़ नहीं सकता। परिश्रम, भय, चिन्ता, उद्वेग और कुछ शारीरिक बीमारियों की अवस्था में श्वास की मात्रा बढ़ जाती है। यह होता है क्षुब्ध श्वास। यह है शारीरिक कारण। दूसरा है मानसिक कारण। क्रोध, भय, लोभ, वासना, हिंसा या झूठ बोलना आदि-आदि कारणों से आवेग आते हैं, तब भी श्वास की मात्रा बढ़ जाती है।

पहला प्रसंग था कि जीव हिंसा आदि से भारी होता है। जब हिंसा या झूठ की बात सोचते हैं तब सबसे पहले भारी होता है हमारा श्वास, फिर भारी होता है शरीर, फिर भारी होता है मन और फिर भारी होता है संस्कार। यह एक क्रम है। इस क्रम का व्यतिक्रम कर कोई भारी नहीं हो सकता। श्वास भारी हुए बिना अगली कोई चीज भारी हो नहीं सकती। सबसे पहले श्वास क्षुब्ध और उत्तेजित होता है और उसके होने के बाद दूसरी चीजें क्षुब्ध और उत्तेजित होती हैं। यह परीक्षण हर कोई कर सकता है। अपनी नाड़ी को देख सकता है। अपनी धड़कन को देख सकता है कि जब तक श्वास शान्त है, श्वास की गति ठीक है और नॉर्मल अर्थात जितना श्वास आना चाहिए उतना ही आ रहा है। तो मानना चाहिए कि मन में कोई आवेग नहीं है। आप परीक्षण करके देख लीजिए। आपके मन में कोई आवेग या दुर्घटना सामने आती है, चिन्ता की बात आती है, छाती की धड़कन बढ़ जाती है और नाड़ी की फड़कन भी बढ़ जाती है, उत्तेजित हो जाती है, यह हमारे मन का उस पर असर होता है। यह है हमारा क्षुब्ध श्वास। आज तक भी ऐसा कोई नहीं बता सकेगा कि मन में चिन्ता आयी और व्यक्ति का श्वास शान्त रहा हो। ऐसा हो नहीं सकता। यह सारा क्षुब्ध श्वास में होता है। इसीलिए मैंने कहा था कि मुद्रा और मानस के संबंध को जानना हमारे लिए बहुत जरूरी है।

योग के आचार्यों ने अलग-अलग मुद्राओं में बैठने का विधान किया है। हजारों-हजारों मुद्राओं का जो विधान हुआ वह अकारण ही नहीं हुआ है, उसके पीछे बहुत बड़ा अर्थ है। शायद आपने काव्यानुशासन पढ़ा हो। वहां नौ रसों का

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वर्णन किया गया है। जब व्यक्ति में शान्तरस का अवतरण होता है, सहज ही उसकी मुद्रा वैसी बन जाती है। उसके स्थायी, संचारी भावों को देखिए, उसकी मुद्रा का वैसा निर्माण हो जाता है या आप उन मुद्राओं में बैठकर देखिए। कोई आने वाला व्यक्ति देखेगा तो उसे लगेगा कि आप ठीक शान्तभाव का अनुशीलन कर रहे हैं।

महावीर की मुद्रा को इतना बड़ा महत्त्व दिया गया। आचार्य हेमचन्द्र ने लिखा है—

वपुश्च पर्यंकशयं श्लथं च, दृशौ च नासा नियते स्थिरे च।
न शिक्षितेयं परतीर्थनाथैः, जिनेन्द्र ! मुद्रापि तवान्यदास्ताम् ॥

भगवन् ! आपकी मुद्रा भी जब और लोगों ने नहीं सीखी तो और बातों को वे क्या सीख पायेंगे। आपका पर्यंक आसन में सोने वाला शरीर, शिथिल शरीर और नासाग्र पर टिकी हुई स्थिर आंखें, यह मुद्रा भी जब दूसरों को नहीं आयी तो आपकी और क्या बात आयेगी ?

मुद्रा को इतना महत्त्व क्यों दिया गया ? वास्तव में मुद्रा का बहुत बड़ा महत्त्व है। अगर हम ठीक से इसे समझ लेते हैं तो शायद आवेगों पर नियंत्रण पाने की क्षमता हमारी अद्भुत रूप से बढ़ जाती है और आवेशों से बचने की हमारे में ताकत पैदा हो जाती है।

भगवान् महावीर ने श्वास के संबंध में इतना बल दिया था क्या ? यह एक प्रश्न हो सकता है और पिछली गोष्ठी में ऐसा पूछा भी गया था। प्रश्न बहुत महत्त्वपूर्ण है। आप देखें, जैनागमों में सारी साधना की पद्धति में शायद ऐसा नहीं मिलेगा कि 'श्वास पर नियंत्रण पाओ'। फिर इस पर इतना बल क्यों, यह प्रश्न होना स्वाभाविक है। किन्तु मैं आपसे कहना चाहता हूं कि हर बात को दो दिशाओं से समझा जाता है। एक कोई बात कही जाती है सीधी भाषा में और एक बात फलित होती है। महावीर ने यह तो सीधा नहीं कहा कि स्वर पर विजय पाओ या श्वास को साधना करो। किन्तु महावीर ने जो साधना की, वह साधना श्वास के नियमन की साधना है। मैंने उस पर विचार किया और मुझे जो अनुभव हुआ, ऐसा लगता है कि वह श्वास-नियमन की साधना है। आप यह जानना चाहें कि वह अनुभव कैसे हो सकता है तो अनुभव की बात कहना जरा कठिन है। मैंने पिछली गोष्ठी में भी कहा था कि महावीर को समझने के लिए महावीर की स्थिति में जाना पड़ता है। महावीर की स्थिति में जाने का अर्थ है—महावीर की मुद्रा में बैठना, महावीर की ध्यान की पद्धति से ध्यान करना और जो महावीर ने किया, वह कार्य करना। अगर हम ऐसा करते हैं, महावीर की स्थिति से तादात्म्य स्थापित करते हैं, महावीर की स्थिति से साक्षात् संबंध

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं तो शायद महावीर को निकटता से समझने का, उनके अनुभवों का साक्षात् करने का हमें अनायास अवसर प्राप्त हो जाता है।

महावीर जब ध्यान करते थे तो वहां दो बातें आती हैं—एगपोग्गल-निविट्ठदिट्ठी, अणिमिसनयणे—वे एक पुद्गल पर दृष्टि टिकाते थे। आंखों में इतनी उष्मा बढ़ जाती थी कि बच्चे डर जाते थे और चिल्लाकर भागते थे, जैसाकि आचारांग सूत्र में बतलाया गया है—'हंता! हंता! बहवे कंदिसु'—यह क्या? यह क्या? चिल्ला-चिल्लाकर बच्चे भाग जाते। यह क्यों? इसके फलित क्या हैं? यह भाषा में नहीं जाना जा सकता। अनुभव की बात को उस स्थिति में पहुंचकर ही समझ सकते हैं। भाषा में तो इतना आ गया कि एक पुद्गल पर दृष्टि टिकाना और आंखों को अपलक रखना। इतना मात्र है। पर आखिर तो इस स्थिति में पहुंचकर ही अनुभव किया जा सकता है।

एक बंगाली व्यक्ति था, प्रेतात्माओं को बुलानेवाला। काफ़ी प्रेतात्माओं को बुलाता था। कुछ दिनों के बाद मर गया। मरने के बाद उसके साथी ने उसकी प्रेतात्मा को बुलाया। वह उपस्थित हुआ। उन्होंने पूछा, 'तुम परलोकवासी हो गये, अब अपने अनुभव बताओ।' वह बोला, 'जो मरने के बाद मैंने अनुभव पाया है, वह जीते-जी तुम नहीं पा सकते।'

जो अनुभव महावीर की स्थिति में जाने के बाद पाए जा सकते हैं, उस स्थिति में गये बिना वे अनुभव नहीं पाए जा सकते और उन बातों को नहीं समझा जा सकता। किन्तु उन्हें समझने के लिए थोड़ी-सी बातें मैं आपके सामने प्रस्तुत करूं।

कोई भी ध्यान करने वाला यह देख सकता है कि जैसे ही हम एक बिन्दु पर अपनी आंखों को अपलक रखेंगे, त्राटक करेंगे, अनिमेष दृष्टि रखेंगे और नेत्रों को झपकाए बिना कहीं भी टिकाएंगे तो टिकाते ही श्वास मन्द हो जाएगा। श्वास शान्त हो जाएगा। एक मिनट में ही आप देखेंगे कि आपकी श्वास बिलकुल खोयी-खोयी जा रही है और बिलकुल अन्दर घुसी जा रही है, ऐसा अनुभव होने लगेगा। दूसरा अनुभव होगा कि मन शब्दातीत हो रहा है। मन विकल्पातीत हो रहा है। हमारे शब्द समाप्त होते जा रहे हैं। त्राटक करने के दो परिणाम जल्दी हमारे अनुभव में आ सकते हैं। शब्दातीत और विकल्पातीत चित्त की स्थिति का निर्माण और श्वास की समाप्ति, श्वास का शान्त हो जाना। ये दो स्थितियां प्राप्त होंगी।

आप कैसे कहते हैं कि जैन साधना पद्धति में भगवान् महावीर ने श्वास के बारे में कुछ नहीं कहा? कहा कैसे नहीं? भाषा नहीं समझ में आती हमारे। इसलिए हम कह सकते हैं। हमें भाषा को नहीं समझना है, महावीर की अनुभूतियों को समझना है, उनकी साधना-पद्धति के रहस्य को समझना है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उपवास का विधान क्यों है ? क्या भूखा मरने के लिए है ? भूखा मरने का क्या अर्थ हो सकता है ? यह तो एक गौण बात है कि जो उपवास करेगा, वह नहीं खायेगा। भूखा रहेगा। किन्तु भूखा मरने के लिए उपवास नहीं, उससे क्या होता है ? आज का शरीरशास्त्री कहता है—भोजन बन्द कर दो, श्वास की गति शिथिल हो जायेगी। उपवास करने वालों के सहज ही श्वास की गति मन्द हो जाती है। कायोत्सर्ग किसलिए ? यह सारी श्वास की प्रक्रिया है।

यह हमने भुला दिया कि जैन मुनि के लिए दिन में बीसों-तीसों बार कायोत्सर्ग करने का विधान है। बाहर जाये, फिर आये तो कायोत्सर्ग। भिक्षा के लिए जाये, फिर आये तो कायोत्सर्ग। प्रतिलेखन करे तो कायोत्सर्ग। प्रतिक्रमण करे तो कायोत्पर्ग। जहां भी हमारी हलन-चलन होती है, जहां भी हमारी प्रवृत्ति होती है, प्रवृत्ति के साथ-साथ कायोत्सर्ग होता है। किसी के साथ कलह हो गया तो कायोत्सर्ग। दुस्वप्न आ गया रात्रि में तो कायोत्सर्ग। हमारी प्रायश्चित्त की पचासों प्रवृत्तियां कायोत्सर्ग पर निर्भर थीं। प्रायश्चित्त श्वास के आधार पर चलता था। आठ श्वासोच्छ्वास का कायोत्सर्ग, पचीस श्वासोच्छ्वास का कायोत्सर्ग, पचास श्वासोच्छ्वास का कायोत्सर्ग, सौ श्वासोच्छ्वास का कायोत्सर्ग, पांच सौ-हजार श्वासोच्छ्वास का कायोत्सर्ग, आदि-आदि।

यह सारा क्या था ? क्या यह श्वास की पद्धति नहीं है ? पूरी की पूरी है। किन्तु जब कोई बात विस्मृति में चली जाती है, शब्दों से अतीत हो जाती है और केवल थोड़े से नियम हमारे सामने रह जाते हैं। उसे पकड़ने में हमें कठिनाई आती है और वैसी ही कठिनाई शायद आज हमारे सामने हो रही है।

सामायिक क्या है ? साम्य क्या है ? जैसे ही मन में समता का भाव आया, समता का विचार आया और हमारे श्वास का सन्तुलन स्थापित हो जायेगा। जो श्वास की विसंगति है, श्वास का वैषम्य है, समाप्त हो जायेगा। सामायिक, उपवास, कायोत्सर्ग, ध्यान—सारी की सारी पद्धतियां श्वास-नियमन की पद्धतियां हैं। ध्यान का कितना बड़ा संबंध है ? ध्यान जहां गया, वहां प्राण चला जायेगा। मुनि को 'युक्त' कहा गया है। युक्त का मतलब क्या ? बुद्धि के साथ मन, मन के साथ प्राण और प्राण के साथ शरीर। ये जब साथ-साथ चलते हैं, इनमें कोई विसंगति, असामंजस्य और असन्तुलन नहीं होता, वह व्यक्ति 'युक्त' हो जाता है। जिसमें यह नहीं होता, वह अयुक्त हो जाता है।

बहुत लम्बा विषय है। एक बात कहकर समाप्त करूं। 'सोही उज्जुयभूयस्स, धम्मो सुद्धस्स चिट्ठइ'—शुद्धि किसे प्राप्त होती है ? जो ऋजु होता है। ऋजु का अर्थ होता है सरल। किन्तु यह भावना अपर्याप्त है। इसे व्यापक संदर्भ में समझना चाहिए। ऋजु के शुद्धि होती है और जो ऋजु होता है, उस आत्मा में धर्म टिकता है। ऋजु क्या है ? जिसकी काया ऋजु है, जिसकी भाषा ऋजु है और

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जिसका मन ऋजु है, वह होता है ऋजु। उस ऋजु आत्मा में धर्म टिकता है। शरीर ऋजु है, इसका मतलब है जिसके शरीर की रीढ़ की हड्डी ऋजु है। यानी जिसकी ग्रीवा, जिसका सिर और जिसकी रीढ़ ऋजु है, वह व्यक्ति ऋजु होता है। इस बात को शायद हमने भुला दिया। काया की ऋजुता को भुला दिया। और आप निश्चित मानिए कि शरीर के ऋजु हुए बिना भाषा ऋजु हो नहीं सकती और मन ऋजु हो नहीं सकता। काया में कुटिलता है। जैसे ही आपकी रीढ़ की हड्डी में थोड़ा-सा टेढ़ापन आया, विचारों में टेढ़ापन आ जायेगा। शरीर की सरलता का कितना बड़ा महत्त्व है। आचार्यश्री के सामने जाते हैं, देखते हैं आंख सीधी है, बात कह देते हैं और जब देखते हैं कि आंख टेढ़ी है, चुपके से निकल जाते हैं।

शरीर की वक्रता मन की वक्रता को ला देती है। हम ऋजुता की बात को ठीक से समझ लें। काया में ऋजुता होगी तो भाषा में सरलता आयेगी। भाषा में कुटिलता नहीं आयेगी, वक्रता नहीं आयेगी। काया में सरलता होगी तो मन में सरलता आयेगी, मन में वक्रता नहीं आयेगी। मन में टेढ़ापन नहीं आयेगा।

हमारे तीन नाड़ियां हैं—इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना। यह सुषुम्ना की सरलता वास्तव में काया की सरलता है, काया की ऋजुता है। इस विषय पर कभी विस्तार से बताया जा सकेगा। यह बहुत बड़ा विषय है। सुषुम्ना की सरलता ही काया की ऋजुता है। वह जब ऋजु होती है, तब भाषा की ऋजुता निष्पन्न होती है। वह ऋजु होती है तब मन की ऋजुता निष्पन्न होती है और जब ये तीनों ऋजुताएं निष्पन्न होती हैं तब हमारे मन की स्थिति, हमारे ध्यान की स्थिति निष्पन्न होती है और उस ऋजुता की स्थिति में ही यह फलित होता है कि ऋजु आत्मा की शुद्धि होती है और धर्म उसी में टिकता है। वह ऋजुता नहीं आती है, तब इस पद्य का अर्थ हमारे लिए व्यर्थ हो जाता है।

प्रश्न : समाधान

प्रश्न—ज्वर में जैसे नाभि पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए, वैसे अन्य आवेग की मुद्राओं में ध्यान को कहां केन्द्रित करना चाहिए ?

उत्तर—आवेग की स्थिति में श्वास पर ही ध्यान को केन्द्रित करना चाहिए। जब श्वास पर हमारा ध्यान केन्द्रित हो तो श्वास पर जैसे ही ध्यान केन्द्रित हुआ और आप समझिए कि आवेग को हमने विदाई दे दी। श्वास पर ध्यान जाते ही, श्वास शांत होने लग जाता है और श्वास के शांत होने का अर्थ है—आवेग की शांति। या उस समय श्वास को शांत करने के लिए हम नासाग्र पर ध्यान टिकाएं, नाक के अग्र भाग पर यानी नीचे। नाक के नीचे जो होंठ है, जहां से श्वास आता है और जाता है, मन को केन्द्रित करें। ऐसा करने पर श्वास अपने आप शांत होने लगता है और श्वास शांत होने के साथ-साथ आवेग भी अपने आप शांत होने

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लग जाता है।

प्रश्न—विभिन्न प्रकार की साधना-पद्धतियां हैं। किसी भी साधना पद्धति को स्वीकार कर जैन साधु आगे बढ़ सकता है क्या ?

उत्तर—जहां साधना का प्रश्न है, वहां जैन या अजैन—यह भेद नहीं डाला जा सकता। साधना पद्धति शुद्ध अर्थ में साधना पद्धति ही है और अध्यात्म में यह भेद नहीं होता। यह भेद सांप्रदायिक होता है। किन्तु जैसा कि मैंने पिछली गोष्ठी में कहा था कि बहुत लोगों को यह भ्रांति है कि जैन परम्परा में साधना की पद्धति, योग की पद्धति नहीं है। इसलिए जैन योग या जैन साधना पद्धति के बारे में कुछ बातें प्रस्तुत करनी पड़ रही हैं। अन्यथा अध्यात्म की गहराई में जानेवाले व्यक्ति के लिए यह कोई प्रश्न ही नहीं रहता। वहां जैन की साधना पद्धति है, वैष्णव की है या किसी तीसरे की है, ये सारे भेद विलीन हो जाते हैं। जहां दूध का प्रश्न है, वहां काली गाय का है, भूरी का है या लंगड़ी का है, यह प्रश्न समाप्त हो जाता है। वहां मात्र दूध का प्रश्न है। साधना का प्रश्न शुद्ध साधना का प्रश्न है। साधना की पद्धति में केवल यह देखना होता है कि किस आलम्बन से मन शांत हो रहा है, मन की पवित्रता बढ़ रही है और हमारा सहज अनुभव आगे विकसित हो रहा है, इस बात को मुख्यतया देखना होता है।

पद्धतियां अनेक हैं। सब व्यक्तियों के लिए एक पद्धति काम करे, यह बात भी नहीं है। रुचि भी अलग होती है और ग्रहण की क्षमता भी अलग होती है। पकड़ने की भावना भी अलग होती है और परमाणुओं का संयोग भी अलग प्रकार का होता है। क्योंकि शरीर-रचना की भिन्नता के साथ इन सारी बातों में भिन्नता आ जाती है। इस परिस्थिति में हमें केवल विचार यह करना है, कि जहां साधना का प्रश्न है, वहां अन्ततः मुख्य साधना ही है। वह किसी भी शब्द से चिपकी हुई साधना नहीं है। जब साधना में हम आगे बढ़ें तब इन सब बातों को भुला ही देना है।

भगवान् महावीर जैन नहीं थे। आज हम जैन हैं। महावीर किसी परम्परा में नहीं थे। किसी के शिष्य भी नहीं थे। स्वयं अनुभव किया। जो अच्छा लगा, उसका आचरण किया। उस समय भी अनेक पद्धतियां चालू थीं। पार्श्व की परम्परा के अनुयायी भी नहीं बने, श्रावक भी नहीं बने। उस कुल में जन्मे थे परन्तु पार्श्व के अनुयायी नहीं बने थे। कहा जाता है कि साधुओं के पास भी नहीं गए। धर्म भी नहीं सुना। किन्तु जैसा उन्हें लगा, वैसा किया। हमारी साधना की क्षमता जैसे विकसित हो, नामों के पीछे हमें कोई अर्थ विशेष नहीं जोड़ना है। जैन सूत्रों में, महावीर की वाणी में, साधना की या योग की पद्धतियां विकसित नहीं हैं, यह जो आज विस्मृति हो गयी है और यह भ्रान्ति उत्पन्न हो गयी है, उस विस्मृति और भ्रान्ति को निरस्त करने के लिए कुछ बार यह जैन साधना

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पद्धति, जैन योग या आगमों का उल्लेख किया जाता है, अन्यथा इस बात में कोई भेद दिखायी नहीं देता।

आचार्यश्री ने कहा—जिसका क्रम परिपक्व नहीं हो गया है, तब तक उसे किसी न किसी साधना पद्धति का आलम्बन लेना ही होगा। आगे चलकर उस पद्धति का नाम छूट जायेगा। उस सत्य पर वह चलता जायेगा। चलते-चलते जो भी पद्धति उसके मन में बैठ गयी, वह उसे सही दिशा में ले जायेगी। अब जैसे हमारे मुनि दुलीचंदजी ने ध्यान की साधना की, उन्होंने कोई विशेष लक्ष्य निर्धारित नहीं किया था। परन्तु चलते-चलते उनको एक रास्ता मिल गया था। यह क्रम तो होता ही है और इस क्रम में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए। प्रारम्भ में किसी न किसी रास्ते से चलना ही पड़ेगा, यह स्पष्ट मालूम होता है।

प्रश्न—साधना के मार्ग में व्यक्ति का बौद्धिक होना आवश्यक है क्या? हमारे वातावरण में बौद्धिकता की जितनी प्रेरणा है, उतनी साधना की प्रेरणा है क्या? क्या साधना का प्रशिक्षण अनिवार्य नहीं है?

उत्तर—हमारी चेतना के अनेक स्तर हैं। स्तरीय विकास हमारा होता है। हम यह नहीं मान सकते कि बौद्धिकता आवश्यक नहीं है। बौद्धिक स्तर बहुत जरूरी है और साधना के मार्ग में भी बौद्धिक स्तर बहुत जरूरी है। जिन साधकों का बौद्धिक स्तर उन्नत होता है, उन्हें आध्यात्मिक साधना के अग्रिम तत्त्वों को पकड़ने में बहुत सुविधा और सहजता होती है। जिनका बौद्धिक स्तर निम्न होता है, उन्हें विकसित होने में कठिनाइयां उत्पन्न होती हैं। कुछ व्यक्ति ऐसे हो सकते हैं जो बिना बौद्धिक स्तर के ही साधना के सिरे पर पहुंच जाते हैं। पर यह विशेष स्थिति की बात सामान्य नहीं होती। आनुपातिक स्थिति में बौद्धिक स्तर का होना भी बहुत जरूरी है और जिनका बौद्धिक स्तर अच्छा होता है, उन्हें बहुत बड़ी सुविधाएं हो जाती हैं। ऐन्द्रिक स्तर, मानसिक स्तर और फिर बाद में अतीन्द्रिय स्तर आता है। वह स्तर होना आवश्यक है।

अब प्रश्न है प्रशिक्षण का। यह बहुत आवश्यक है। यह ठीक है कि आध्यात्मिक व्यक्ति के लिए बौद्धिक होना आवश्यक हो या न हो किन्तु बौद्धिक व्यक्ति के लिए आध्यात्मिक होना बहुत ही आवश्यक है। और मुनि के लिए तो बहुत ही आवश्यक है। प्रशिक्षण की बात अपने आप में बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि हमारी बहुत सारी क्षमताएं, जो हर व्यक्ति में होती हैं, अर्जित होती हैं। ज्ञान के अभाव में उन क्षमताओं का उपयोग हम नहीं कर पाते।

हमारे फेफड़े में लगभग छह हजार छिद्र होते हैं सांस भरने के लिए, और एक फेफड़े में एक अरब वायु-कोष होते हैं। छह हजार छिद्र होते हैं, किन्तु प्रायः आदमी मुश्किल से हजार, डेढ़ हजार छिद्रों तक वायु पहुंचा पाते हैं। साढ़े चार-पांच हजार छिद्र तो निकम्मे ही पड़े रह जाते हैं। अगर फेफड़े के सारे छिद्रों में

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्राणवायु पहुंचाई जा सके, तो न जाने चेतना कितनी विकसित हो जाये। अनुभव की क्षमता कितनी बढ़ जाये? और वह कोई विलक्षण व्यक्ति हो जाये। किन्तु ऐसा क्यों नहीं होता? स्पष्ट है कि ज्ञान के अभाव में नहीं होता। एक अरब वायु कोषों में वायु पहुंचाना, फेफड़े के छह हज़ार छिद्रों में वायु पहुंचाना बहुत बड़ी उपलब्धि है। जिन्हें ज्ञान होता है, वे थोड़ा-बहुत अधिक पहुंचा पाते हैं। अन्यथा बहुत ही कम पहुंचा पाते हैं।

हमारे मस्तिष्क में कितने ज्ञान-तंतु हैं? कितने छिद्र हैं? कितने प्रकोष्ठ हैं? कई अरब, कई खरब कोष्ठ हमारे मस्तिष्क में हैं। एक मानसशास्त्री ने बताया कि एक-एक ज्ञान-तंतु को एक-एक कोष्ठ में ऐसे पंक्तिबद्ध किया जाये तो हिन्दुस्तान क्या, आज की दुनिया भर जायेगी। किन्तु उन कोष्ठों को, उन ज्ञान-तंतुओं को एक प्रतिशत क्या, आधा प्रतिशत भी कोई विकसित नहीं कर पाता।

नया ज्ञान होता है साधना के द्वारा। नयी स्मृतियां जागती हैं। नये अनुभव आते हैं। कैसे आते हैं? कोई-कोई कोष्ठ जाग जाता है तो लगता है कि बहुत बड़ी उपलब्धि हो गयी। कितना बड़ा चमत्कार हो जायेगा, सारे कोष्ठों को छोड़कर, उनके चार आना हिस्से को भी हम जागृत कर दें तो? हमारी क्षमताएं बहुत अद्भुत हैं। हमारे शरीर की क्षमताएं, हमारे मानस की क्षमताएं, हमारे ज्ञान-तंतुओं की क्षमताएं इतनी भरी पड़ी हैं, किन्तु प्रशिक्षण के अभाव में, ज्ञान के अभाव में, हम ऐसा नहीं कर पाते।

प्रशिक्षण की बात बहुत महत्त्वपूर्ण है। मैं समझता हूं कि हमारा यह जो क्रम शुरू हुआ है, आचार्यश्री ने यह जो श्रृंखला शुरू की है यह शायद प्रशिक्षण के लिए ही शुरू की है या प्रशिक्षण की पृष्ठभूमि के रूप में कि इससे प्रेरणा जागे, हमारी भावना बढ़े और हमारी भावना में ऐसी जिज्ञासा, ऐसी प्यास जगे, कि जिस प्यास को बुझाने के लिए शायद प्रशिक्षण की व्यवस्था करनी पड़े। तो यह बात बहुत महत्त्वपूर्ण है, अत्यन्त अनिवार्य और नितान्त आवश्यक है।

आचार्यश्री ने कहा—प्रशिक्षण का जो परिणाम हमारे सामने आता है, वह प्रत्यक्ष है। अबकी बार इन चार-छह महीनों में हमने प्रशिक्षण का थोड़ा क्रम चलाया। इसका परिणाम हमारे सामने कुछ इस रूप में आया कि ऐसे व्यक्ति जो हमारे विरोधी थे, संतों के पास कभी आते नहीं थे, आना नहीं चाहते थे, बात करना नहीं चाहते थे, वे लोग साधना-प्रिय बन गये हैं और हमारी उपासक श्रेणी में उनके नाम भी आ गये हैं। इसलिए मैं प्रशिक्षण को बहुत ही आवश्यक समझता हूं और उसके सम्बन्ध में हमें गम्भीरतापूर्वक चिन्तन करना पड़ेगा।

प्रश्न—पिछली गोष्ठी में आपने विवेक प्रतिमा की चर्चा की। वह विवेक क्या है?

उत्तर—विवेक का अर्थ है—दो चीज़ों को अलग करना, तोड़ना। जो मिला

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हुआ है उसे विभक्त करते चले जाना। यही हमारी सारी साधना पद्धति का, आदि से अन्त तक, महत्त्वपूर्ण अंग है। विवेक से चलना है और विवेक तक पहुंचना है। शरीर, मन, भाषा, श्वास, सूक्ष्म शरीर और संस्कार, इन सबका विवेक करना है, इन सबको छोड़ देना है। विवेक में छोड़ने की इतनी बातें आती हैं। जो हमारे स्थूल व्यक्तित्व का निर्माण करती हैं, उन सबको छोड़ देना है। यह है हमारे विवेक की बात। अब प्रश्न होता है कि विवेक कैसे करें? विवेक का पहला बिन्दु होता है—सम्यग् दर्शन या अन्तर्दृष्टि का निर्माण। अन्तर्दृष्टि के निर्माण का नाम है विवेक। इससे हमारी यह दृष्टि सुदृढ़ हो जाती है कि शरीर हमारा अस्तित्व नहीं है। जो शरीर है, वह हम नहीं है। शरीर हमारे अस्तित्व से भिन्न वस्तु है। शरीर और अस्तित्व की भिन्नता का जो बोध होता है, वह सम्यग्-दर्शन है।

अब प्रश्न होता है कि विवेक की साधना कैसे हो? श्वास की साधना की मैंने जो चर्चा की, वह विवेक की साधना का पहला बिन्दु है। जो व्यक्ति श्वास की साधना करने लग जाता है, वह श्वास की साधना करते-करते उस स्थिति में पहुंच जाता है कि शरीर अलग पड़ा है और मैं कहीं अलग पड़ा हूं। आप श्वास को होंठ पर, नाक के नीचे देखें और मन को केन्द्रित करें। आधा घंटा, एक घंटा, दो घंटा, समय लगाते चलिए एक साथ में, और कुछ भी नहीं करना है, जप-ध्यान आदि भी नहीं करना है, माला नहीं फेरनी है, केवल श्वास पर मन को केन्द्रित करना है। आपको ऐसा लगेगा कि कोई चीज़ अलग हो रही है और मैं अलग हो रहा हूं। लम्बे समय के अनुभव के बाद यह बात स्पष्ट हो जाती है। हमारी आत्मा और हमारा स्थूल व्यक्तित्व—इन दोनों को जोड़ने वाला है श्वास। मन चला जाता है, वाणी चली जाती है, स्थूल शरीर चला जाता है, फिर क्या रहता है? श्वास।

योगी उच्च भूमिका में पहले मन का निरोध करता है, फिर वचन का और फिर काया का। तीनों निरुद्ध हो जाते हैं, फिर शेष क्या बचता है? श्वास। आत्मा और शरीर, इनको जोड़नेवाली जो शृंखला है, दोनों का माध्यम है, वह है श्वास। श्वास को यदि हम ठीक तरह से समझ लेते हैं तो आत्मा को अलग और स्थूल शरीर को अलग, दोनों को अलग कर सकते हैं।

कुछ लोग स्वाध्याय भी नहीं करते और कुछ भी नहीं करते। उनके लिए एक सीधा-सा आलम्बन है। वे केवल श्वास पर ध्यान टिकाएं। उन्हें कुछ ही दिनों में आभास होने लग जायेगा कि शरीर हल्का हो रहा है, आकाश में उड़ रहा है और कोई चीज़ उड़ती चली जा रही है। यह थी हमारी विवेक प्रतिमा जो कि पुरानी पद्धति थी। रात्रिकाल में बारह बजे के बाद विवेक प्रतिमा स्वीकार की जाती थी और सूर्योदय तक वह प्रतिमा चलती थी। उसमें कायोत्सर्ग के साथ विवेक की प्रतिमा स्वीकार होती थी और अपने अस्तित्व की और स्थूल शरीर की भिन्नता की स्पष्ट प्रतीति हो जाती थी।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

३

शरीर-दर्शन

- शरीर के ऊर्ध्वभाग को देखना।
- शरीर के मध्यभाग को देखना।
- शरीर के अधोभाग को देखना।
- शरीर-दर्शन के फलित—
    - अनासक्ति का विकास।
    - तनाव-विसर्जन।
    - मन की स्थिरता।

•

हमारा प्रस्तुत विषय है—चेतना का ऊर्ध्वारोहण। चेतना के ऊर्ध्वारोहण के लिए श्वास, शरीर और मन को समझना बहुत जरूरी है। उन्हें समझे बिना चेतना के ऊर्ध्वारोहण की बात समझ में नहीं आ सकती। श्वास के बारे में कुछ बातें चर्चित कीं। आज शरीर के बारे में कुछ बातें करनी हैं। हमारा शरीर एक आयतन है श्वास का, इन्द्रियों का, मन का और चेतना का। उस विशाल आयतन के बारे में हमें कुछ जानना है। शरीर-दर्शन के अनेक दृष्टिकोण हैं। एक व्यक्ति कामुक है, वह शरीर को देखता है। वह रंग-रूप को देखता है, आकार को देखता है और संगठन को देखता है। उसका एक अपना दृष्टिकोण है। एक डॉक्टर है, वह शरीर को देखता है, उसका भी अपना एक दृष्टिकोण है। देखता वह भी है और शरीर के एक-एक अवयव को देखता है। एक साधक है, वह भी शरीर को देखता है, जानता है, उसका भी अपना एक दृष्टिकोण है। एक ही दृश्य अनेक दृष्टिकोणों से देखा जाता है। देखनेवालों के दृष्टिकोण भिन्न होते हैं, दृश्य एक होता है। और

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अपनी-अपनी दृष्टि के अनुसार सबको दिखाई देता है।

एक व्यक्ति टॉलस्टाय के पास आया और एक अमीर की बहुत निन्दा करने लगा। काफ़ी निन्दा की। जी भरकर उसे कोसा और गालियां दीं। टॉलस्टाय ने कहा, "मैं तुम्हें एक कहानी सुनाता हूं। एक चोर था। चोरी करने गया। रात में काफी घूमा। किन्तु कहीं चोरी का अवसर नहीं मिला। लोग जाग रहे थे। मौका मिला नहीं। और आप जानते हैं कि चोरी वहां होती है, जहां नींद होती है। जहां जागरण होता है, वहां चोरी नहीं होती। लोग काफ़ी जाग रहे थे। चोर चोरी नहीं कर सका। घूमता रहा, घूमता रहा और घूमते-घूमते थक गया। किन्तु चोरी करने का मौका नहीं मिला। काफ़ी थकान के बाद, गांव के बाहर गया और एक पेड़ के नीचे जाकर लेट गया। रातभर का जागा हुआ था। काफ़ी गहरी नींद आ गयी। सूरज निकल गया, फिर भी उठा नहीं।

जब सूरज निकला तो लोग घूमने लगे। एक शराबी उधर से निकला। शराबी ने देखा कि एक आदमी पेड़ के नीचे सो रहा है। उसने घूमकर देखा और देखने के बाद बोला—'देखो! कितना बड़ा शराबी है! कितनी शराब पी है! नशे में कितना धुत्त है कि सूरज निकल गया किन्तु नशा अभी तक नहीं उतरा। पागल कहीं का! अभी सो रहा है!' प्रतिक्रिया कर चला गया।

थोड़ी देर में एक दूसरा आदमी आया। वह था जुआरी। उसने देखकर कहा, 'लगता है कि जुए में दांव हार गया। रातभर जुआ खेला और हार गया। थका-मांदा सो रहा है। पहले खेला ही क्यों? और खेला तो दांव को ठीक से क्यों नहीं खेला? बेवकूफ कहीं का! अभी सो रहा है।' प्रतिक्रिया कर चला गया।

थोड़ी देर बाद तीसरा व्यक्ति आया। वह था चोर। उसने सोचा, 'सो रहा है, लगता है कि जैसे आज रात्रि में मैं असफल रहा हूं। यह भी मेरा कोई भाई है। असफलता के कारण निराश होकर लेट रहा है।' प्रतिक्रिया कर चला गया।

थोड़ी देर बाद एक व्यक्ति आया। वह था योगी। उसने देखा, 'ओह! कितनी मस्ती में सो रहा है! कितना निश्चिन्त है! कोई चिन्ता नहीं है। लगता है कि बहुत पहुंचा हुआ आदमी है, ऐसे ही लेट गया। न कोई बिछौने की अपेक्षा, न और किसी बात की अपेक्षा। ऐसे ही भूतल पर सो रहा है। और लगता है कि बहुत ही पहुंचा हुआ व्यक्ति है। नमस्कार करना चाहिए ऐसे व्यक्ति को।' नमस्कार करके चला गया।"

एक था दृश्य और अनेक थे दृष्टिकोण। एक ही दृश्य पर अनेक व्यक्तियों ने अनेक दृष्टिकोणों से अपनी प्रतिक्रियाएं व्यक्त कीं और उसे देखा। यह बहुत बड़ा सत्य है। एक दृश्य को हम अनेक दृष्टिकोणों से देखते हैं। शरीर एक दृश्य है। उसे भी अनेक दृष्टिकोणों से देखा जाता है। एक सौन्दर्य की दृष्टि से जो कि स्थूल दृष्टि है। स्थूल दर्शन में पहले शरीर हमारे सामने आता है। दूसरा डॉक्टर का

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एक सूक्ष्म दर्शन है। वह ऊपर के रंग, आकार, प्रकार को नहीं देखता, वह रचना को देखता है। वह संघटना को देखता है और वह देखता है अपनी उपयोगिता की दृष्टि से। तीसरा दृष्टिकोण है साधक का। वह शरीर का सूक्ष्मतम दर्शन है। जो डॉक्टर भी नहीं देख पाए हैं, वह चीज देखता है साधक। हमारे शरीर में साधना के इतने कोण हैं, साधना के इतने तथ्य हैं और साधना की इतनी चाबियां हैं कि अगर हम उन्हें घुमाना जानें तो बहुत कुछ पा सकते हैं।

मुझे स्थूल दर्शन के बारे में कुछ नहीं कहना है। और सूक्ष्य दर्शन के बारे में, जो डॉक्टरी दृष्टिकोण है, उसके बारे में भी आज नहीं कहना है। वह भी जानना बहुत आवश्यक है पर अभी कुछ नहीं कहना है। मुझे आज तीसरी दृष्टि से शरीर को देखना है। साधना की दृष्टि से शरीर को देखना है। शरीर साधना की दृष्टि से हमारे लिए कितना उपयोगी है, इस पर इतना बल क्यों ? वह इसलिए कि हमारे मन की शक्ति, हमारी इन्द्रियों की शक्ति या हमारी सारी शक्ति का केन्द्र है शरीर।

आप जानते हैं कि हमारे पास मन है। पर मन कहां से आया ? हमारे पास वाणी है। वाणी कहां से आयी ? कोई भी जैन-दर्शन को जाननेवाला यह जानता है कि मन का कोई अस्तित्व नहीं है। वाणी का कोई अस्तित्व नहीं है। अस्तित्व है एकमात्र शरीर का। एक प्रकार से मन और वाणी, ये शरीर के ही उपभेद हैं, मूल नहीं हैं। एक योग है—काया। योग तीन नहीं हैं। योग एक है—काया। काया का योग है। मन और वचन—ये दोनों बनते हैं काया के द्वारा। जो भी मन के लिए पुद्गल चाहिए, सामग्री चाहिए उस सामग्री का आकर्षण होता है काया के द्वारा। जो वचन के लिए चाहिए, उसका आकर्षण होता है काया के द्वारा। मन्यमान मन होता है। मनन से पहले मन नहीं होता और मनन के बाद में मन नहीं होता। भाष्यमाणा भाषा होती है। बोलने के बाद भाषा नहीं होती और बोलने से पहले भाषा नहीं होती। भाषा और मन—दोनों का अस्तित्व शरीर पर निर्भर है, काया पर निर्भर है, काययोग पर निर्भर है। मूलतः प्रवृत्ति है काया की।

जीव शरीर को उत्पन्न करता है। शरीर वीर्य को उत्पन्न करता है, और वीर्य मन, वचन और काया की हलन-चलन को उत्पन्न करता है। मूलतः अस्तित्व है शरीर का। सारी शक्ति का केन्द्र, सारी शक्ति का अधिष्ठान और सारी शक्ति का आयतन या हमारी आत्मा की जितनी भी अभिव्यक्ति है, उस सारी अभिव्यक्ति का जो एक चक्र है, वह है शरीर।

पॉवरहाउस में जेनरेटर विद्युत् को उत्पन्न करता है। शरीर हमारी सारी शक्ति का जेनरेटर है, उत्पादक यन्त्र है, विद्युत्-यन्त्र है जो कि सारी विद्युत् को उत्पन्न करता है। और फिर वह यहां से प्रवाहित होती रहती है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हमने इस दृष्टि से शरीर को नहीं देखा। और देखें तो बहुत अद्‌भुत चीजें हमारे शरीर में विद्यमान हैं। उदाहरण के लिए, हम रीढ़ की हड्डी के विषय में कुछ समझें। शरीरशास्त्र की दृष्टि से बहुत बड़ा महत्त्व है उसका। किन्तु साधना की दृष्टि से उसका और अधिक महत्त्व है।

हमारे श्वास की तीन प्रणालियां हैं। एक बायीं ओर, एक दायीं ओर और एक मध्य में। बायीं ओर की प्रणाली को चन्द्रस्वर या इड़ा, दायीं ओर की प्रणाली को सूर्यस्वर या पिंगला कहते हैं। एक है मध्यवर्ती प्राण की धारा। इसे कहते हैं सुषुम्ना। यह सुषुम्ना हमारे शरीर में ठीक वैसे ही है, जैसे एक ट्यूब की नली होती है। नली की भांति पोली। यह रीढ़ की हड्डी बिलकुल पोली है। ट्यूब की तरह है। और उस ट्यूब में जो पोल है वह है सुषुम्ना। उसमें से प्राण का जो प्रवाह प्रवाहित होता है, वह सचमुच ज्ञान-तन्तुओं को जाग्रत करता है, प्रतिभा को जाग्रत करता है और चेतना को ऊर्ध्वगामी बनाता है।

भगवान महावीर ध्यान करते, तब ऊंचा देखते थे, मध्य में देखते थे और नीचे देखते थे। ऊंचा लोक, मध्य लोक और नीचा लोक। यह क्या है? हम इस लोक की बात छोड़ें। यह हमारा शरीर है। शरीर के तीन भाग हैं:

१. ऊर्ध्वभाग।
२. मध्यभाग।
३. अधोभाग।

यह विभाग होता है नाभि से। नाभि है मध्यलोक। नाभि के ऊपर का हिस्सा है ऊर्ध्वलोक और नाभि के नीचे का हिस्सा है अधोलोक। ये तीन लोक हैं हमारे। इन तीन लोकों का दर्शन जो कर लेता है, वह सचमुच साधक बन जाता है। नाभि के नीचे कामकेन्द्र है, और उसके ऊपर ज्ञानकेन्द्र। हमारे प्राण की धारा नीचे की ओर जाती है तब चेतना का अधोव्रतरण हो जाता है। जब हम प्राण की धारा को ऊपर की ओर ले जाते हैं तब चेतना का ऊर्ध्वारोहण हो जाता है। चेतना ऊपर की ओर चली जाती है। नीचे ले जाना या ऊपर ले जाना, यह हमारी इच्छा, हमारी संकल्पशक्ति और हमारे ज्ञान पर निर्भर है। जो ऊंचे लोक को जानता है, यानी जो हृदय चक्र को जानता है, जो विशुद्धि चक्र को जानता है, जो आज्ञा चक्र को जानता है, जो सूर्य चक्र को जानता है वह अपनी चेतना को ऊपर की ओर ले जाता है।

चेतना को ऊपर की ओर ले जाने के लिए शरीर की रचना को उस दृष्टि से देखना है कि हमारे ज्ञान के केन्द्र कहां हैं? ज्ञान की ग्रन्थियां कहां हैं? आप यह न समझें कि सारे शरीर में ज्ञान के केन्द्र हैं। यह ठीक बात है कि आत्मा सारे शरीर में व्याप्त है। और चेतना के ऊर्ध्वारोहण का या साधना का बहुत बड़ा सूत्र है, आत्मदर्शन। आचार्य योगीन्दु ने कहा है—जहां कहीं देखता हूं आत्मा ही आत्मा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दिखायी देती है। यह एक बहुत बड़ा सूत्र है। पैर को देखता हूं तो मुझे आत्मा दिखायी देती है, सिर को देखता हूं तो मुझे आत्मा दिखायी देती है, कहीं भी देखता हूं, मुझे आत्मा दिखायी देती है। यह यत्र-तत्र आत्मा का दर्शन करना, जहां कहीं भी आत्मा को देखना और शरीर के अणु-अणु में आत्मा को देखना, यह आत्मदर्शन का दृष्टिकोण सचमुच ऊर्ध्वारोहण का दृष्टिकोण है। जिस व्यक्ति में यह बात प्राप्त हो जाती है कि वह हर जगह आत्मा को देखने लग जाता है, वही आदमी सम्यक्द्रष्टा बन जाता है। उसे भेद-ज्ञान प्राप्त हो जाता है और विवेक की साधना जागृत हो जाती है। यह है विवेक की साधना।

प्रश्न था कि विवेक प्रतिमा क्या है? यह है विवेक की साधना। शरीर के अणु-अणु में आत्मा का दर्शन करना—यह है विवेक प्रतिमा। जो दिखायी दे रहा है, उसमें आप गहराई से देखें तो ऐसा लगेगा कि कुछ स्पन्दन-सा हो रहा है। अन्दर से ज्योति का-सा आभास हो रहा है। यह हमारे देखने का अर्थ है, यह हमारी देखने की क्रिया है। अगर हम ठीक से देखने का प्रयत्न करें तो शरीर के भीतर कुछ और ही दिखायी देगा। अगर यह बात ठीक से हमारी समझ में आ जाये तो शरीर के भीतर की सारी क्रियाएं हमें ज्ञात हो जाएंगी।

यह आत्मदर्शन शब्द हमें साधारण-सा लगता है। किन्तु यह असाधारण है। यह रूढ़ हो गया, इसलिए इसका मूल्य हम नहीं आंक रहे हैं। किन्तु वास्तव में इस शब्द के पीछे कितनी भावनाएं हैं, गहरी भावनाएं निहित हैं, इसका उद्घाटन करने पर ही ज्ञात हो सकता है।

भगवान् महावीर ने कहा, "आत्मा को आत्मा से जानो। आत्मा को आत्मा से देखो।' ये दो सूचनाएं बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। हम आत्मा को आत्मा से नहीं जानते। हम जान रहे हैं दूसरों के शब्दों के आधार पर। हम आत्मा को आत्मा से नहीं देख रहे हैं। देख रहे हैं दूसरों के इंगितों के आधार पर। यदि वास्तव में आत्मा को आत्मा से जाना जाए, अपने अनुभव से जाना जाए और ध्यान की गहराइयों में पैठकर जाना जाए तो आत्मा का वह ज्ञान होता है जो हजारों शास्त्रों के द्वारा नहीं हो सकता। यदि हम आत्मा को आत्मा के द्वारा देखें, आत्मा की चेतना की गहराई में पैठकर देखें तो आत्मा का वह दर्शन होगा जो दूसरों के इंगितों पर नहीं हो सकता।

आत्मदर्शन शाब्दिक दर्शन नहीं है। वह चेतना के उन स्तरों का दर्शन है जो हमारी इन्द्रियों और मन से अतीत हैं। हम देखते हैं शरीर को और शरीर की क्रिया को। आत्मा का दर्शन हमें सहज सुलभ नहीं है। हम देखते हैं संस्कारों को। जितनी धारणाएं और संस्कार निर्मित हैं, उन्हीं को देखते हैं और उन्हीं के द्वारा देखते हैं। इन्द्रियों के द्वारा देखते हैं और मन के द्वारा भी देखने का प्रयत्न करते हैं। किन्तु संस्कार, इन्द्रियां और मन—ये सब-के-सब उस दर्शन में बाधक बनते

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हैं जो कि आत्मा का दर्शन है। वह दर्शन तब हो सकता है जबकि हम संस्कार से अतीत हों, इन्द्रियों से अतीत हों। इन सबके पार, उस क्षितिज के पार जो दर्शन है, वह आत्मा का दर्शन है, वह चेतना का दर्शन है और वह हमारी आन्तरिक सहजता, निर्मलता और स्वच्छता का दर्शन है।

मण्डितपुत्र ने भगवान् महावीर से पूछा—'भन्ते ! संस्कारों का निर्माण क्यों होता है ? और कैसे होता है ?' भगवान ने कहा—'संस्कार का निर्माण संस्कार के निमित्त से होता है। और होता है क्रिया से। प्राणी में कम्पन और स्पंदन होता है। कम्पन के बिना कोई भी संस्कार निर्मित नहीं होता। कम्पन की अनेक क्रियाएं होती हैं, तब उसके बाद संस्कार निर्मित होता है, परिणति होती है और अमुक-अमुक भाव का परिणमन होता है।

जो अकम्पित है, जिसमें कम्पन नहीं है, स्पंदन नहीं है, उसमें कोई परिवर्तन नहीं हो सकता। परिवर्तन या परिणमन का मूल है कम्पन, क्रिया। अक्रिया में कोई भी परिवर्तन नहीं हो सकता। सारा का सारा परिवर्तन क्रिया में होता है, क्रियाशील में होता है और क्रियाशील के द्वारा होता है। मनुष्य क्रिया करता है तब कम्पन होता है। क्रिया का मूल आधार शरीर है। यदि शरीर नहीं है तो कोई भी क्रिया नहीं हो सकती। यदि शरीर की क्रिया नहीं है तो कोई भी क्रिया नहीं हो सकती। शरीर की क्रिया जितनी तीव्र होगी, कम्पन उतना ही तीव्र होगा। और संस्कार का निर्माण भी उतना ही तीव्र होगा। शरीर को स्थिर और शान्त करने का मूल्य यही तो है, वह जितना ही स्थिर और शान्त होता है, उसके द्वारा होने वाली सारी क्रियाएं, फिर वे वाणी की हों, मन की हों या श्वास की हों, शान्त हो जाती हैं। इसीलिए भगवान् महावीर ने कहा, क्रिया के द्वारा संस्कार का निर्माण होता है, अक्रिया के द्वारा नहीं होता। संस्कार का विलय उसी स्थिति में होता है जब क्रिया बन्द हो जाती है।

हमारा शरीर आस्रव है, दरवाजा है। दरवाजा खुला है, तभी हम इतने लोग एकत्रित हो गये। यदि दरवाजा खुला नहीं होता, हम इतने लोग एकत्र नहीं हो पाते। दरवाजा खुला होता है, तब कुछ भी आ सकता है, मनुष्य भी आ सकता है, पशु भी आ सकता है, आंधी भी आ सकती है, धूल भी आ सकती है और हवा भी आ सकती है। दरवाजा बन्द होता है तो कुछ भी नहीं आ सकता। हमारा शरीर एक दरवाजा है, आस्रव है। नौका पानी में तैर रही है। छेद हो गये। नौका में पानी भर गया, वह डूबने लगी। नौका क्यों डूबने लगी ? क्योंकि वह सास्रव हो गयी, आस्रव-सहित हो गयी। छेद हुआ कि पानी आ गया। और पानी आ गया तो वह भारी हो गयी। और भारी हुई कि डूबने लगी। उस समय यदि कुशल कर्णधार होता है, कुशल नाविक होता है, वह सबसे पहले उन छेदों को भरने की कोशिश करता है। छेदों को भर देता है। पानी आना बन्द हो जाता है। और जो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पानी भीतर आ गया है, उसे उलीचकर फेंक देता है। नौका तैरने लग जाती है।

यह शरीर नौका है। यह डूबने भी लगता है और तैरने भी लगता है। जब इसके सारे छिद्र खुल जाते हैं, आस्रव के मुख चौड़े हो जाते हैं, तो बाहर से इतना आता है, इतना आता है कि वह डूबने लग जाता है। यह डूबना नौका का डूबना नहीं है। यह डूबना उन आस्रवों और छिद्रों का डूबना है। और वे साथ-साथ नौका को भी डुबो देते हैं। इन शरीर के छिद्रों को ढंकना, आस्रवों को अनास्रव करना, छेदों को बन्द करना, यह हमारी साधना की प्रक्रिया है।

छेद वाली नौका डूबती है और बिना छेद की नौका तैर जाती है। छिद्र वाला शरीर, बाहर से सब कुछ लेने वाला शरीर डूबता है और बाहर से संवरण करने वाला निश्छिद्र शरीर तैर जाता है। जब शरीर की क्रिया सूक्ष्म और स्थिर होती है, उस समय ध्यान की स्थिति निष्पन्न होती है। मन स्थिर होता है, शान्त होता है, तब तीव्र ध्यान होता है। शरीर के स्थिर होने से ऊर्जा और उष्मा बढ़ जाती है, ध्यान की शक्ति बहुत बढ़ जाती है और अर्जित संस्कारों को नष्ट करने की अद्भुत क्षमता उत्पन्न हो जाती है।

मण्डितपुत्र के प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने बताया, 'देखो, आग जल रही है और उस आग में कोई आदमी पूला डाल रहा है। क्या होगा ?' 'भंते ! जल जाएगा।' 'गर्म तवा है। कोई आदमी उस पर जल-बिन्दु डालता है, उनका क्या होगा ?' 'भंते ! सूख जाएंगे।' अग्नि घास के पूले को जला डालती है और गर्म तवा जल-बिन्दुओं को सोख लेता है। इस अप्रकम्प-अवस्था में, शरीर की स्थिर अवस्था में, छिद्रों को रोक देने की अवस्था में, शरीर में वह स्थिति उत्पन्न हो जाती है कि वह संस्कारों को जला डालता है।

यह सब शरीर की स्थिरता होने पर होता है। शरीर की स्थिरता के बिना ऐसा हो नहीं सकता। इसीलिए सबसे पहले शरीर की स्थिरता पर ध्यान केन्द्रित करना आवश्यक है। क्योंकि जो मूल है, अगर उस पर हमारा ध्यान केन्द्रित नहीं होगा तो ऊपर की चीजों पर ध्यान केन्द्रित करने से क्या लाभ होगा ?

एक संन्यासी जा रहा था। जंगल में एक बेल को देखा। कभी देखा नहीं था पहले। पत्ता तोड़ा, खाया तो कड़वा लगा। फूल को चखा तो कड़वा लगा। फल खाया तो कड़वा। उसने सोचा यह क्या ? सब कड़वा ही कड़वा। फिर मूल को उखाड़ा और उसे चखा तो वह भी कड़वा। तब बोला—अरे ! पत्ते का क्या दोष ? फूल और फल का क्या दोष ? जब मूल ही कड़वा है तब पत्ते, फूल और फल कैसे कड़वे नहीं होंगे ? जब हमारा मूल ही कड़वा है, शरीर ही कड़वा है, तो उस पर मधुर फल कहां से लगेंगे ? शरीर मूल है। मन और वाणी उसके पत्ते, फल और फूल हैं। जब शरीर की कड़वाहट नहीं मिटी है तो उनकी कड़वाहट कैसे मिटेगी ? शरीर यदि चंचल है तो वे स्थिर कैसे होंगे ? यह कल्पना भी हमें

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नहीं करनी चाहिए कि शरीर की चंचलता में हमारा श्वास, हमारी वाणी और हमारा मन शान्त और स्थिर हो जाएगा।

बौद्धों ने शरीर की स्थिरता के लिए 'कायविपस्यना' का एक मार्ग प्रस्तुत किया है। क्योंकि जब तक काया के प्रति, शरीर के प्रति हमारा ममत्व और हमारी आसक्ति बनी रहेगी, तब तक स्थिरता नहीं आ सकती। काया को स्थिर, शांत तो बनाना चाहते हैं किंतु आसक्ति और ममत्व के रहते हुए, वह स्थिर कैसे होगी ? हो नहीं सकती। उन्होंने एक पद्धति प्रस्तुत की। काया को देखो, काया का दर्शन करो। वे अपने साधकों को मुर्दों के पास ले जाते और उन्हें दिखाते। देखो, यह मांस है, यह शोणित है, यह मज्जा है। जैसे डॉक्टर अपने विद्यार्थी को सारी चीजें एक-एक कर समझाता और सिखाता है, वैसे ही वे अपने नये साधकों को सारी चीजें बताते और समझाते। और फिर उनसे पूछा जाता, इस बात का अनुभव कराया जाता, कि कहो, इस शरीर में सार कहां है ? और सार क्या है ?

इस प्रकार शरीर-दर्शन के द्वारा शरीर के प्रति अनासक्ति आ जाती। जैन साधक अशौच भावना के द्वारा शरीर के प्रति अनासक्त रहने का अभ्यास कराते थे। महाराज श्रेणिक और महारानी धारिणी ने मेघकुमार से कहा—तुम प्रव्रजित नहीं हो सकते। मेघकुमार ने उत्तर दिया—क्या मैं इस शरीर के आधार पर यहां बना रहूं ? मेरे शरीर की स्थिति क्या है ? यह पित्त का आस्रव है, वमन का आस्रव है, शुक्र का आस्रव है, श्लेष्म का आस्रव है, दुनिया भर में जितने अशुद्ध पदार्थ होते हैं, उनका आस्रव है। एक दिन नष्ट हो जाने वाला है। कुछ दिन पहले या कुछ दिन पीछे अवश्य ही चला जाने वाला है। क्या इस शरीर के आधार पर मैं अपनी शाश्वत की साधना को ठुकरा दूं ?

जिस व्यक्ति को शरीर की वास्तविकता का बोध हो जाता है, वह उसमें आसक्त नहीं होता। वह उस मार्ग में नहीं आता जो तनाव पैदा करता है, जो कठिनाइयां पैदा करता है और जो चंचलता को उत्पन्न करता है। किंतु शरीर को उस ओर जाने का साधन बना देता है जो शरीर की आसक्ति को विसर्जित करने का मार्ग है। और जैसे ही शरीर की आसक्ति और उसका ममत्व विसर्जित हो जाता है, शरीर स्वयं विसर्जित हो जाता है। वह शरीर विसर्जित हो जाता है जो हमारी मानसिक स्थिरता में और मानसिक स्थिरता की दिशा में बाधक बनता है। शरीर रहता है। वह बेचारा क्या बिगाड़ता है। शरीर रहने में कोई कठिनाई नहीं है। हमें शरीर को छोड़ना इस अर्थ में नहीं है कि वह मर जाये। किंतु शरीर को छोड़ना इस अर्थ में है कि वह हमारी चंचलता को समाप्त कर दे। चंचलता की ओर हमें न ले जाये। आसक्ति जैसे ही छूटी, वैसे ही उस शरीर की मृत्यु हो गई जो शरीर हमें चंचल बना रहा था।

तनाव कल्पना से पैदा होता है और कल्पना पैदा होती है ममत्व से या

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आसक्ति से। जब हम श्रम करते हैं, काम करते हैं, उसके बाद अशेष की अनुभूति होती है। कुछ भी करना शेष नहीं है, इसकी अनुभूति ही नहीं है तब मन हल्का हो जाता है। शरीर हल्का हो जाता है। और इस कल्पना के साथ-साथ समाप्त करते हैं कि बहुत बाकी है तो यह शेष की अनुभूति हमारे मस्तिष्क पर, हमारे मन पर इतना बोझा डाल देती है कि हमारी काम करने की क्षमता भी कम हो जाती है। यह अशेष की अनुभूति ममत्व का विसर्जन है, तनाव का विसर्जन है और शरीर की स्थिरता का बहुत बड़ा हेतु है। यह जो शेष की अनुभूति है, वह सारा-का-सारा बोझ हमारे पर डालती है।

रावण ने मरते समय कहा था कि मेरे मन में तीन काम करने की बात शेष है। दुनिया का कौन-सा व्यक्ति ऐसा हुआ है, जिसने मरते समय शेष की अनुभूति न की हो। मरते समय यदि किसी व्यक्ति ने शेष की अनुभूति नहीं की या जीते-जी किसी ने शेष की अनुभूति नहीं की और हर पल अशेष की अनुभूति करता रहा, यानी मुझे कुछ भी करना शेष नहीं है, जो वर्तमान क्षण में प्राप्त है वह हो रहा है, अगले क्षण के लिए कुछ भी शेष नहीं है—यह अनुभूति यदि किसी व्यक्ति ने की है तो उस व्यक्ति ने की है, जिसने ममत्व को त्याग दिया, आसक्ति को त्याग दिया और शरीर के प्रति वेलगाव हो गया।

इन सारे दृष्टिकोणों को ध्यान में रखकर यदि हम शरीर पर विचार करते हैं तो इस स्थिति पर पहुंचते हैं कि शरीर की क्रिया और अक्रिया पर हमारे मन की क्रिया और अक्रिया, मन की चंचलता और स्थिरता निर्भर है। इसलिए हम शरीर को गौणता नहीं दे सकते। शरीर के मूल्य को कम नहीं कर सकते। साधना के क्षेत्र में उसका मूल्य हमें आंकना है। जो व्यक्ति साधना के क्षेत्र में गति करना चाहता है, अग्रसर होना चाहता है और वह यदि शरीर का सही मूल्यांकन करना नहीं चाहता, तो वह साधना की प्रतिकूल दिशा में प्रयाण कर रहा है।

प्रश्न : समाधान

प्रश्न—आपने अभी बताया कि काया स्थिर होने पर मन स्थिर हो जाता है और काया चंचल होने पर मन चंचल हो जाता है। परंतु ध्यान में शरीर तो स्थिर रहता है, फिर भी मन चंचल रहता है। भजन, कीर्तन, जप आदि करते समय शरीर तो चंचल रहता है, फिर भी मन स्थिर हो जाता है। इस दृष्टि से यह संगत कैसे होगा ?

उत्तर—हमने मन को अकारण ही अपराधी बना रखा है। चंचलता के मामले में मन का उतना दोष नहीं है, उतना अपराध नहीं है जितना कि हमने मान रखा है। मन बेचारा वाहक है। वह तो अभिव्यक्ति का साधन है। हमारे सामने बल्ब है। विद्युत्धारा आती है और वह बल्ब उसे प्रकट कर देता है। बल्ब

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विद्युत् को पैदा नहीं करता, वह उसे प्रकट करता है। मन चंचलता को पैदा नहीं करता, वह उसे प्रकट करता है। चंचलता मन की नहीं है और मन में नहीं है। वह है स्मृति की और संस्कार की। स्मृति हमारे मस्तिष्क के कोष्ठों में संचित है। हमारे स्मृतिकोप उत्तेजित होते हैं, वृत्तियां जागृत होती हैं, उन्हें अभिव्यक्ति मन देता है, इसीलिए हम सारा दोष मन पर मढ़ देते हैं। किंतु वास्तव में चंचलता होने में मन का दोष क्या है ? चंचलता इसीलिए हो रही है कि हमारी काया की स्थिति ठीक नहीं है। यदि हम संस्कारों को अर्जित न करें, स्मृतियों को अर्जित न करें, और एक धारा की भांति जैसे कि वे हमारे भीतर आएं और बहकर दूसरी ओर चली जाएं तो मन चंचल नहीं होगा। शरीर के स्थिर होने पर मन चंचल होता है, उसे समझने में शायद हमारी भूल हो सकती है। शरीर की स्थिरता सधी या नहीं सधी, यह जानना भी कुछ सरल नहीं है। हम स्थिरता की मुद्रा में बैठ जाएं, यह एक बात है किंतु जब तक मन का शरीर से योग नहीं होता, शब्द और विकल्प का मन से वियोग नहीं होता, वियोजन नहीं होता, संयोजन बना रहता है, तब तक स्थिरता सधती नहीं है। शरीर की स्थिरता के लिए जरूरी है कि जैसे उसमें गति न हो, वैसे ही उसमें आसक्ति का वेग भी न हो। यदि आसक्ति का धागा खिंचा हुआ रहता है, ममत्व की रस्सी से हम उसे खींचते रहते हैं तो शरीर की स्थिरता निष्पन्न नहीं होती, शरीर का विसर्जन सही अर्थ में फलित नहीं होता। हमें इस बात को समझना जरूरी है कि शरीर की अप्रकम्पता कैसे निष्पन्न हो ? उसकी निष्पत्ति के लिए शारीरिक अवयवों को निर्देश देना बहुत जरूरी है। आप सोचें कि शरीर के अवयवों को निर्देश देने से क्या होगा ? क्या वे हमारा निर्देश मानेंगे ? मनोविज्ञान के क्षेत्र में ऐसा हो रहा है। आज यह कोरी कल्पना की बात नहीं। प्रयोग-भूमि पर सारा उतर रहा है। हम जिस अवयव को निर्देश देते हैं, वह हमारा निर्देश मानने लग जाता है। कोष्ठबद्धता की स्थिति में जो लोग आदेश नहीं किंतु प्रेमपूर्वक अपनी आंतों को निर्देश देते हैं, उनके उत्सर्ग की क्रिया ठीक होने लग जाती है। दूसरे-दूसरे अवयवों में ऐसा घटित होता है। आप जानना चाहेंगे कि ऐसा क्यों होता है ?

इसका एक कारण है। भगवान् महावीर से पूछा गया—भन्ते ! हमारा मन सजीव है या निर्जीव ? चेतन है या अचेतन ?

भगवान् ने कहा—मन जीव नहीं, अजीव है। मन चेतन नहीं, अचेतन है। वाणी के बारे में पूछा तो भगवान् ने वही कहा, वाणी अजीव है और अचेतन है। जब काया के बारे में पूछा तो भगवान् ने कहा—काया सजीव भी है और निर्जीव भी है; काया चेतन भी है और अचेतन भी है। काया चेतन कैसे ? वह पौद्गलिक है। पुद्गलों का, परमाणुओं का एक संघात है। फिर सजीव कैसे ? चेतन कैसे ?

किन्तु इसमें गहरा अर्थ है। काया का हमारी चेतना से इतना घनिष्ठ सम्बन्ध

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है कि शरीर के अणु-अणु में चेतना व्याप्त है। चेतना के बिना काया की प्रवृत्ति नहीं होती और काया के बिना चेतना की अभिव्यक्ति नहीं होती। अभिव्यक्ति का सबसे बड़ा और पहला साधन है शरीर। इस निकटता के कारण, इस तादात्म्य जैसी स्थिति के कारण शरीर को चेतन भी बतलाया है। जहां चेतना का प्रवेश है, अणु-अणु में चेतना व्याप्त है तो जो निर्देश हम काया को देते हैं, वह काया को नहीं, हमारी चेतना को निर्देश प्राप्त होता है और चैतन्यमय अणु-अणु जो हैं, वे हमारे निर्देश को स्वीकार करते हैं, मान लेते हैं और हम जिस ओर ले जाना चाहते हैं, उस ओर जाने को तैयार हो जाते हैं। यदि हम निर्देश की बात को ठीक समझें और ध्यान करने से पहले अपने शरीर को ठीक से निर्देश दें और देने का अभ्यास करें तो काया में अद्भुत रूप से स्थिरता आने लगेगी। उस स्थिति में मन और वाणी एकदम शांत हो जाएंगे। मन की स्थिरता के लिए काया की स्थिरता जरूरी है, वैसे ही काया की स्थिरता को समझना भी जरूरी है और काया की स्थिरता को ठीक से साधना भी जरूरी है। अगर यह ठीक से सध जाये तो फिर यह शिकायत नहीं हो सकती कि काया के स्थिर होने पर भी मन चंचल रहता है। काया के स्थिर होने पर मन स्थिर हो जाता है। भजन, कीर्तन, जप आदि में मन स्थिर नहीं होता, एक दिशागामी हो जाता है। दिशागामी होना एक अलग बात है और स्थिर होना एक अलग बात है। इसलिए दोनों विषय में हमारी यह भ्रांति नहीं होनी चाहिए। हमारी व्याप्ति के विपरीत व्याप्ति नहीं होनी चाहिए। वह ऐसी होगी कि जहां काया की स्थिरता है, वहां मन की स्थिरता है और जहां काया की चंचलता है, वहां मन की स्थिरता नहीं है।

प्रश्न—अहंकार और ममकार का सीधा सम्बन्ध मन से है या शरीर से? और मन से है तो शरीर के शिथिलीकरण से क्या लाभ है?

उत्तर—शरीर की प्रवृत्ति और उसके साथ-साथ श्वास की संस्कार पर जो चोट लगती है उससे स्मृति जाग उठती है और उस स्मृति के जागते ही अहंकार और ममकार प्रबुद्ध होकर मन की धारा में बहने लग जाते हैं। हमें लगता है कि मन में अहंकार जाग गया, ममकार जाग गया किन्तु यह तो अभिव्यक्ति हुई। यह तो उसकी धारा में उनका बहना हुआ। किन्तु वे मन से पैदा नहीं हुए हैं, मन से आये नहीं हैं। यदि नदी की धारा में कोई काठ बहकर आता है तो इसे हम नहीं कह सकेंगे कि नदी की धारा में काठ ने जन्म लिया। उसका जन्मदाता दूसरा है। उसकी खोज हमें दूसरी दिशा में करनी होगी। अहंकार और ममकार का जो जन्म है, वह मन में नहीं हुआ है, मन में प्रवाहित हो रहा है। इस बात को हम ठीक तरह से समझ लें तो यह समझने में कोई कठिनाई नहीं होगी कि शरीर का शिथिलीकरण करने से वृत्तियों पर, संस्कारों पर या स्मृतियों पर चोट नहीं होगी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और उस चोट के बिना अहंकार और ममकार की भावना जागृत नहीं होगी। और वह जागृत नहीं होगी तो मन की धारा में उसका प्रवाह नहीं होगा। इस प्रकार अगर मूल तक जाएं, गहराई में जाएं, तो शरीर की स्थिरता और चंचलता पर हमारे संस्कारों का, हमारी वृत्तियों का, अहंकार और ममकार का प्रकट न होना या होना बहुत कुछ निर्भर है, यह हमें स्पष्ट दृष्टिगोचर होगा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

४

चित्त का निर्माण

- बिना चित्त का निर्माण किए कोई जी नहीं सकता।
- किस प्रकार के चित्त का निर्माण करें ?
- वैसे चित्त का निर्माण करें जैसा हम होना चाहते हैं।
- चित्त-निर्माण का महत्त्वपूर्ण सूत्र है—
  - ध्येय का चिन्तन।
  - ध्येय के साथ तदात्म होना।

•

आचार्य हेमचन्द्र ने लिखा है कि जब वस्तु का संक्षेप करते हैं तब वह अपर्याय हो जाती है। पर्याय को स्वीकार नहीं करते तब वस्तु सिमट जाती है और जब वस्तु का विवेचन करते हैं तब द्रव्य समाप्त हो जाता है, केवल पर्याय ही शेष रह जाता है। दो अवस्थाएं हैं—एक पर्याय की अवस्था और दूसरी द्रव्य की अवस्था यानी वस्तु की अवस्था। ये दोनों अवस्थाएं हमारे जीवन में घटित होती हैं। एक है अस्तित्व और एक है व्यक्तित्व। अस्तित्व का मतलब है होना और व्यक्तित्व का मतलब है कुछ होना। अस्तित्व की अनुभूति केवल होने की अनुभूति है। हम हैं, इसके सिवाय कोई अनुभव नहीं होता। इस अस्तित्व की अनुभूति में हमारी पूर्ण चेतना सक्रिय होती है। अखंड चेतना सक्रिय होती है। हम कुछ हैं, यह हमारे व्यक्तित्व की अनुभूति है। इसमें हमारी खंड चेतना सक्रिय होती है। हमारी चेतना की ये दो अवस्थाएं हैं, जिन्हें हम योग की भाषा में चित्तातीत अवस्था और चित्त-निर्माण की अवस्था कह सकते हैं।

एक होती है चित्तातीत अवस्था जिसमें चित्त नहीं होता। एक होती है चित्त-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निर्माण की अवस्था जो चित्त-पर्याय की अवस्था है। शुद्ध आत्म-द्रव्य की अवस्था है, वह चित्तातीत अवस्था है और पर्याय की अवस्था जिसे 'थोकड़ों' की भाषा में कहते हैं 'अनेरी' (अन्य) आत्मा की अवस्था, वह है चित्त-पर्याय की अवस्था, चित्त-निर्माण की अवस्था। चित्त और मन का एक क्रम चलता है। साधारणतः हम समझते हैं कि चित्त और मन एक हैं, किन्तु वस्तुतः वे एक नहीं हैं। अनुयोग-द्वार सूत्र में 'तच्चित्त, तन्मना, तल्लेश्य और तद्-अध्यवसाय'—ऐसा एक क्रम चलता है। यह बहुत ही सुन्दर क्रम है। कई बार तो लगा कि ये पर्यायवाची शब्द हैं। किन्तु ये पर्यायवाची नहीं, उत्तरोत्तर अवस्थाओं के सूचक हैं। अध्यवसाय हमारी चेतना की सूक्ष्म परिणति है, जिसे मनोविज्ञान की भाषा में कहते हैं—अवचेतन मन। यह जो अवचेतन मन की स्थिति है, वह अध्यवसाय है। हमारा अध्यवसाय प्रभावित करता है लेश्या को और लेश्या के द्वारा मन का निर्माण होता है और उस पर चित्त-नियंत्रण स्थापित करता है। चित्त बुद्धि है, वह परिणमनशील नहीं है, स्थायी होता है। मन परिणमनशील है। मन उत्पन्न होता है लेश्या के द्वारा। जैसे सांख्यदर्शन और योग-दर्शन ने माना है कि सत्व, रज और तम—ये तीन गुण हैं और यह प्रकृति त्रिगुणात्मिका है। इस प्रकृति से मन उत्पन्न होता है। चित्त उत्पन्न होता है। जैन दर्शन में जो लेश्या है, उससे मन उत्पन्न होता है। मन की जो सारी क्रिया है, मन का जो सारा तंत्र है, वह भौतिक तंत्र है। उसमें अपने आप में चेतना नहीं है। चेतना चित्त से संक्रान्त होती है। मन, इन्द्रिय, स्मृति, प्रत्यभिज्ञा—यह सारा का सारा तंत्र है, अपने आप में अचेतन तंत्र है। चेतना उसमें संक्रान्त होती है चित्त के द्वारा। यह परिणमनशील है। लेश्या के द्वारा मन उत्पन्न होता रहता है। जिस प्रकार का अध्यवसाय होता है, उस प्रकार की बाहरी लेश्या पैदा हो जाती है। लेश्या तो रहती ही है। उसके वर्ण में परिवर्तन आ जाता है। आज की योग की भाषा में, मनोविज्ञान की भाषा में उसे 'ओरा' (Auro) कहते हैं। हर मनुष्य के शरीर के बाहर 'ओरा' होता है, प्रभामंडल होता है। वह हर व्यक्ति के आसपास में होता है। 'ओरा' पूर्ण विकसित होता है तो छह फुट में चारों ओर फैल जाता है। उस 'ओरा' के आधार पर यह निर्णय किया जाता है कि व्यक्ति कैसा है? स्वभाव कैसा है? इसका मनोभाव कैसा है? स्वस्थ है या बीमार है? आदि-आदि।

भारतीय योग में ज्योति पर ध्यान करने की बात आती है और ध्यान करने वाले लोग कहने लग जाते हैं कि हमें ज्योति-सी दिखाई देती है। वह ज्योति क्या है? वह 'ओरा' ही है। ज्योति पर जब ध्यान केन्द्रित करते हैं तब हम 'ओरा' के साथ सम्पर्क स्थापित करते हैं। अपने प्रभामंडल के साथ सम्पर्क स्थापित करते हैं और सबसे पहले यह तेजस्, जो कि अपने तेजोलेश्या से शुरू होता है और बाद में तेजस् 'ओरा' ही सबसे पहले हमारे सामने व्यक्त होता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

योग-दर्शन में महर्षि पंतजलि ने भी कहा है—मन की उत्पत्ति इन तीन गुणों से होती है। शुक्ल, कृष्ण और रक्त—ये तीन मन की प्रकृतियां हैं। जैन-दर्शन में लेश्याएं छह मानी गयी हैं। किन्तु वास्तव में कृष्ण, नील और कापोत—ये तीनों कृष्ण के अन्तर्गत ही चली जाती हैं और तेजस् को लाल के रूप में ले सकते हैं। शुक्ल लेश्या का वर्ण शुक्ल है।

शरीर जीव से उत्पन्न होता है, वीर्य शरीर से उत्पन्न होता है और योग वीर्य से उत्पन्न होता है। लेश्या से उत्पन्न होता है—मन का योग। वास्तव में यह लेश्या शक्ति का बहुत बड़ा केन्द्र है। मूलाराधना में इसकी बहुत लम्बी चर्चा है। अध्यवसाय शुद्ध होता है तब लेश्या शुद्ध होती है। जब बाहर की लेश्या शुद्ध होती है तब भीतर की लेश्या भी शुद्ध होती है। यह पूरा का पूरा वर्तुल है। हम अध्यवसाय से चलें और फिर चित्त तक पहुंच जाएं। एक के बाद एक की शुद्धि का क्रम आता है। वास्तव में यह लेश्या, प्रभा, प्रभामंडल (ओरा) जो है, वह हमारे मन का निर्माण करती है। मन उससे निर्मित होता है। क्योंकि मन तो परिणामी है। मन स्थायी तत्त्व नहीं है। मन परिणामी है, परिणमनशील है। एक पर्याय है। कषाय-आत्मा से कषाय-मन उत्पन्न हुआ। निमित्त द्वारा कषाय-मन समाप्त हो गया। दूसरे क्षण कोई अनुकूल वातावरण आया, हर्ष-मन का निर्माण हो गया। तीसरे क्षण फिर कोई स्थिति आयी, शोक-मन निर्मित हो गया। अगले क्षण कोई ऐसा निमित्त मिला कि भय-मन निर्मित हो गया। एक दिन में हज़ारों-हज़ारों मनों का हम निर्माण करते हैं। यानी जितनी हमारी अनुभूतियां हैं, जितने हमारे पर्याय हैं, उतने ही मनों का निर्माण होता है। एक मन का निर्माण होता है और उसी अवस्था का हम उस समय अनुभव करते हैं।

मैं समझता हूं कि यहां दो अवस्थाएं अब स्पष्ट हो गयी होंगी—एक चित्तातीत अवस्था और एक चित्त-निर्माण की अवस्था। हमारे चित्त का निर्माण होता रहता है और हम हज़ारों-हज़ारों अवस्थाओं से गुज़रते रहते हैं। एक दिन में भी न जाने कितनी अवस्थाएं आ जाती हैं। क्योंकि पर्याय का परिवर्तन होता रहता है और वैसे ही चित्त का निर्माण होता रहता है। अब हमारे सामने प्रश्न यह है कि यह पर्याय का जो वर्तुल चल रहा है, वैसे ही चलने दें या चित्त के निर्माण को हम अपने अधीन कर लें? हम चाहें वैसे चित्त का निर्माण कर लें? दशवैकालिक में एक महत्त्वपूर्ण शब्द आया है—होउकामेणं···जो होना चाहता है। 'कुछ होना' चाहता है। और 'कुछ होना' हमारे लिए ज़रूरी है। क्योंकि जब तक चित्तातीत अवस्था निरंतर नहीं सध जाती तब तक कुछ न कुछ होना तो पड़ता ही है। अब हमें इसमें चुनाव करना है कि हम क्या हों? भगवान् महावीर ने चुनाव किया है। जितने भी साधक हुए हैं, उन्होंने चुनाव किया है कि हमें क्या होना है? क्योंकि बिना चुनाव किये कोई बन नहीं सकता। जो भी साधक होता है, वह चुनाव करता है

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कि हमें क्या होना है ? इस आधार पर उसके चित्त-निर्माण की प्रक्रिया शुरू होती है। यह परिणमनशील मन की अवस्थाओं में से एक वैसा निर्माण करना, सघन निर्माण करना, जिससे कि वह अवस्था हमारे लिए मुख्य बन जाये, टिक जाये और इतनी सघन बन जाये कि दूसरे निर्माण की अवस्था उसे तोड़ न सके; उसे टकरा न सके। वह होता है सघन अवस्था का निर्माण। ऐसी सघन अवस्था का निर्माण जो हमारे लिए त्राण बन सके, कवच बन सके।

चित्त-निर्माण की स्थिति से सब लोग परिचित हैं। कोई भी व्यक्ति अपरिचित नहीं है। जिस प्रकार के चित्त का निर्माण हो जाता है, वही उसके लिए सुख का विषय बन जाता है। कुछ मछुए मछली पकड़ने के लिए गये। काफ़ी तेज बरसात होने लगी। अपना काम वे कर नहीं सके, इसलिए एक बगीचे में चले आये। वर्षा तेज हो गयी। बाहर जा नहीं सकते थे। इसलिए उन्होंने माली से कहा—स्थान दे दो। माली ने स्थान दे दिया। मछुए सो गये। आसपास में फूल पड़े थे। मछुए लेट गये, परन्तु नींद नहीं आ रही थी। थोड़ी देर बाद उठकर बैठ गये और बोले—नींद नहीं आ रही है क्योंकि कहीं से दुर्गन्ध आती है। परस्पर बातचीत की। फिर माली से कहा—हमें नीद नहीं आ रही है। माली ने कहा—मकान तो ठीक है। पानी की छींटें भी अन्दर नहीं आ रही हैं। शान्ति से सो जाओ। मछुए लेट गये, परन्तु कुछ देर बाद पुनः उठ बैठे और कहा—कहीं से दुर्गन्ध आ रही है, इसलिए नींद नहीं आती है। माली ने कहा—दुर्गन्ध तो कुछ भी नहीं है, इधर तो पुष्प पड़े हैं खुशबू आ रही है। माली समझदार था। उसने कहा—तुम लोगों के पास में क्या है ? उन्होंने कहा—मछली रखने की टोकरियां हैं। माली ने कहा—तुम्हें नींद ऐसे नहीं आयेगी। इन टोकरियों को अपने-अपने मुंह पर डाल लो, नींद आ जायेगी। मछुओं ने ऐसा ही किया और उन्हें नींद आ गयी।

यह था चित्त का निर्माण। उनका चित्त ऐसा बन गया था कि मछली की वासना उनके लिए प्रिय बन गयी। वे उसमें आनन्द का अनुभव करते। पुष्प की खुशबू उनके लिए दुर्गन्ध दे रही थी और मछली की वासना सुगन्ध देती थी।

मछुओं का ही नहीं, पता नहीं इस प्रकार का चित्त कितने लोगों का होता है। बहुत सारे लोग अगर भोजन करते समय लड़ाई न करें तो उनके वह भोजन पचता ही नहीं है। क्योंकि उनके चित्त का निर्माण ऐसा हो जाता है। उस समय वह संस्कार पूरा होता है। वैसी स्थिति आती है तो उन्हें आनन्द का अनुभव होता है, अन्यथा वैसा नहीं होता।

चित्त का निर्माण हर व्यक्ति करता है और बिना चित्त का निर्माण किये कोई जी नहीं सकता। प्रश्न है कि हम कैसे चित्त का निर्माण करें ? यह चुनाव व्यक्ति को करना है जो कि 'कुछ होना' चाहता है, जो स्वयं कुछ बनना चाहता है, कुछ पाना चाहता है। जो केवल अनायास प्राप्त होता है, उसका खिलौना

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बनना नहीं चाहता। अपने आपको कुछ बनाना चाहता है, उसे यह निर्माण करने का प्रयत्न करना होता है। उसकी कुछ प्रक्रियाएं मैं प्रस्तुत करना चाहता हूं। इसके लिए सबसे पहले हमें ध्येय का चुनाव करना होगा कि मैं क्या होना चाहता हूं ? एक बीमार व्यक्ति स्वस्थ होना चाहता है। एक ध्येय का निर्माण हो गया यानी वह स्वस्थ-चित्त का निर्माण करे। एक व्यक्ति ब्रह्मचारी रहना चाहता है तो वह ब्रह्मचर्य-चित्त का निर्माण करे। एक व्यक्ति प्रसन्न रहना चाहता है तो वह प्रसन्न-चित्त का निर्माण करे। इस प्रकार जो हमारी अपेक्षा है, वह ध्येय हमनें पहले चुन लिया। हमारा ध्येय निश्चित हो गया। अब ध्येय तक पहुंचना है। कैसे पहुंचे ? उसके लिए हमें एक कल्पना का चित्र बनाना है। चाहे कोई व्यक्ति हो, जिस ध्येय तक पहुंचना है, उसका चित्र बनाना होगा। ब्रह्मचर्य की स्थिति में पहुंचना है तो स्थूलिभद्र का चित्र बनाना होगा। ऐसे व्यक्ति का चित्र बना लेना है जिस व्यक्ति में हमारा ध्येय पूर्णतः साकार हो। चाहे हमारा काल्पनिक चित्र हो। वह चित्र हमने लिया और ध्यान की मुद्रा में बैठ गये। शरीर को बिलकुल शून्य कर दिया। फिर उस चित्त को, उस कल्पना को हमने साकार किया। कल्पना को साकार कर हमने प्राणायाम शुरू कर दिया। भावी चित्त की निर्मलता के लिए, उसके साथ सम्बन्ध स्थापित करने के लिए, रेचक और बाह्य कुंभक—ये दो बहुत महत्त्वपूर्ण कड़ियां हैं। हमने प्राण का रेचन कर कुंभक किया। बाह्य कुंभक—जितनी देर हम प्राण को बाहर रखते हैं उतनी ही चित्त की निर्मलता प्राप्त होती है। और चित्त को निर्मलता प्राप्त होती है तो उसका प्रतिबिम्ब जल्द पड़ जाता है। चित्त की निर्मलता के लिए यह रेचन और बाह्य-कुंभक बहुत सुन्दर प्रक्रिया है। प्राण जितना बाहर रहेगा, उससे नाड़ी-शुद्धि होगी और चित्त की शुद्धि होगी। पतंजलि ने भी इसका अच्छा प्रतिपादन किया है।

प्राण के विच्छर्दन और धारणा से चित्त की प्रसन्नता होती है। यह विच्छर्दन है रेचक और धारणा है बाह्य-कुंभक। ये दोनों स्थितियां हमारी प्राप्त होंगी। जैसे स्थूलिभद्र का चित्र हमने सामने लिया। हमारी कल्पना हो तो अब उसे दोहराने की जरूरत नहीं। वह मूर्त अर्थात् ब्रह्मचर्यमय हमारे सामने है। रेचक करते हैं और उसके बाद कुंभक करते हैं और फिर एक बार उसको देखते हैं। फिर दूसरी बार हमने रेचक किया, कुंभक किया और फिर उसकी ओर ध्यान केन्द्रित किया। इस सिलसिले को हम दो बार, चार बार, दस बार और पचास बार दोहराते जायें। दो-चार दिनों में ऐसा अनुभव होगा कि उसके साथ तादात्म्य स्थापित हो रहा है। यह है हमारा तन्मूर्तियोग। तन्मय बन जाना। इस स्थिति में एवंभूतनय की अवस्था प्राप्त हो जाती है।

रेचक और बाह्य कुंभक बार-बार दोहराते जाइये, उसी प्रकार चित्त का निर्माण होता चला जायेगा। चित्त का निर्माण होता है, पर्याय का निर्माण होता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है। क्योंकि जब हम स्वाभाविक पर्याय में रहते हैं, तब हमें किसी निमित्त की आवश्यकता नहीं रहती। ये सारे वैभाविक पर्याय हैं। चित्त का निर्माण चाहे बुरा होता है तो वैभाविक पर्याय है और चाहे अच्छा होता है तो वैभाविक पर्याय है। स्वाभाविक पर्याय तो नहीं हैं। किन्तु यह वैभाविक पर्याय भी हमारे लिए आवश्यक होता है, दूसरे वैभाविक पर्यायों का या समस्याओं का पार पाने के लिए।

स्वस्थ चित्त के निर्माण के लिए योग के आचार्यों ने विचार किया है। एक सामान्य उदाहरण दूं। भोजन किया और उसके बाद जो व्यक्ति समझता है कि पाचन ठीक नहीं है, अग्नि मंद है, उसे क्या करना चाहिए? उसके लिए निर्देश दिया गया है कि तुम भोजन के बाद सूर्य का ध्यान करो। सूर्य की कल्पना करो। अग्नि की कल्पना करो। इससे तेजस् की कल्पना होती है। हमारे मन की परिणति तेजोमय होने लग जाती है। दूसरी प्रक्रिया निर्माण की है। अर्थात् पूरक की। हम जिस प्रकार के चित्त का निर्माण करना चाहते हैं, उसमें तेजस्-प्रधान तत्त्व की आवश्यकता है। या शीत-प्रधान तत्त्व की आवश्यकता है। शरीर में गर्मी लाना और चित्तपर्याय को उष्णता के द्वारा उत्तेजित करना है तो एक प्रकार की हमें प्रक्रिया करनी होगी कि दाहिने स्वर से, दाहिने नथुने से श्वास लेकर कुंभक करें और कुंभक करवाएं नथुने से निकाल दें। इस क्रम को बार-बार दुहराएं और इतनी बार दुहराएं कि जितनी बार दुहरा सकें। लेना दाएं स्वर से और छोड़ना बाएं स्वर से। आप पचास बार ऐसा करके देखें। सर्दी के मौसम में भी पसीना आने लग जायेगा। इतना गर्म स्वर हो जायेगा कि इस स्थिति में भी कुछ अवस्थाओं का निर्माण किया जाता है। तिब्बत में ऐसा प्रयोग भी चलता है। वहां एक प्रयोग चलता है—हीट-योग का। एक साधक को सर्दी में बर्फ़ पर लिटा देते हैं और उससे कहते हैं पसीना लाओ। वस्त्र सारा खोल देते हैं और फिर पूरक का प्रयोग करते हैं। सूर्य स्वर से श्वास लेने का प्रयोग करते हैं। प्रयोग करते-करते जब पसीना चूने लग जाता है, तब वह साधक अपनी परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाता है।

आचारांग सूत्र में आता है कि जिस समय दूसरे लोग सर्दी में निवास-स्थान की खोज करते थे, उस समय भगवान् महावीर बिना वस्त्र बाहर जाकर चंक्रमण करते थे। क्या उन्हें शीत का अनुभव नहीं होता था? होता था। परन्तु कुछ प्रक्रियाएं ऐसी हैं, उनके द्वारा उन पर विजय पा ली जाती है। अब आप देखें कि आप जा रहे हैं, ऐसी स्थिति आ गयी है कि बहुत अधिक सर्दी पड़ने लगी। मकान आया नहीं। हवा तेज चल रही है। क्या करें? एक उपाय किया जा सकता है और वह है योग का सरल फार्मूला। उस समय जितने सूर्य जैसे तेजस् पदार्थ हैं, उनकी स्मृति बार-बार लाइये। बार-बार दुहराइये। और मन का वैसा निर्माण कीजिये। आपका संकट बहुत अंशों में दूर हो जायेगा। सर्दी की अनुभूति बहुत

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कम हो जायेगी और ऐसा अनुभव होगा कि शरीर को जितनी उष्मा चाहिए, उतनी उष्मा हमें प्राप्त हो रही है।

ठीक इसी प्रकार जब शीत-चित्त का निर्माण करना है तो उल्टा प्रयोग कीजिये यानी श्वास लिया चन्द्र स्वर से, कुंभक किया और सूर्य स्वर से छोड़ा। बाएं से लिया और दाएं से छोड़ा। इसी क्रम को बार-बार दोहराते जाइये। एक-दो बार में कुछ नहीं होने वाला है। इसे कम-से-कम बीस-तीस, चालीस-पचास बार करें तब ठीक अनुभव होगा कि इस प्रकार के चित्त का निर्माण हो रहा है। उसे दोहराते जाइये। काफी ठंडक का अनुभव होने लग जायेगा। दूसरी एक प्रक्रिया और है, वह सर्दी में करने की नहीं है। शीतली प्राणायाम, शीतकारी प्राणायाम और भुजंगी प्राणायाम—ये तीन प्राणायाम हमारे शीत-चित्त का निर्माण करते हैं।

मान लीजिये कि पेट बहुत गर्म है और ऐसा अनुभव हो कि जलन भी लग रही है। भुजंगी प्राणायाम से आपको तत्काल ठंडक महसूस होने लग जायेगी। भुजंगी प्राणायाम में पूरा मुंह खोलकर बहुत तेजी के साथ श्वास लेना होता है। उस समय इतना ठंडा लगेगा मानो कोई ठंडी चीज़ गले में डाली जा रही है। गर्मी तेज़ हो गयी, उस समय ठंडी चीज का स्मरण करें, जैसे बर्फ़, हिमालय आदि-आदि। तत्काल ठंडी परिणति शुरू हो जायेगी।

विशेषावश्यक भाष्य में एक बहुत बड़ी चर्चा चली है—जीवों के अनुग्रह और उपघात की। ये दोनों पुद्‌गलों के द्वारा होते हैं। वहां मन के प्रसंग में चर्चा है कि यदि मानसिक पुद्‌गल इष्ट गृहीत होते हैं तो जीव का अनुग्रह होता है और अगर अनिष्ट पुद्‌गल ग्रहण किये जाते हैं तो उपघात होता है। अगर आप चिन्ता बहुत करते हैं, शोक बहुत करते हैं, ईर्ष्या बहुत करते हैं, उस प्रकार के पुद्‌गलों को ग्रहण करेंगे तो आपके शरीर पर, आपके मन पर इतना बुरा असर होगा कि दोनों—शरीर और मन खराब होने लग जायेंगे। दोनों की परिणतियां खराब होने लग जायेंगी। यानी उपघात होने लग जायेगा। यदि आप प्रसन्नता, मैत्री आदि अच्छी बातों का चिन्तन करते हैं तो अनायास ऐसे इष्ट पुद्‌गलों का ग्रहण होगा कि आपका मन अच्छा बनने लग जायेगा और चित्त स्वस्थ होने लग जायेगा। भोजन का अनुग्रह और उपघात होता है—अच्छा भोजन मिलता है तो शरीर स्वस्थ बनता है, शरीर नीरोग बनता है और अच्छा बनता है। खराब भोजन मिलता है तो शरीर विकृत होने लग जाता है। जब स्थूल पुद्‌गल हमें इतना प्रभावित कर सकते हैं तो सूक्ष्म पुद्‌गल तो और अधिक प्रभावित कर सकते हैं। यह सारा-का-सारा अनुग्रह का सिद्धांत है। अनुग्रह करने वाली सामग्री का ग्रहण और उसके आधार पर चित्त का निर्माण। यह चित्त-निर्माण की प्रक्रिया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दो अवस्थाओं के निर्माण की चर्चा मैंने की थी—एक चित्तातीत अवस्था और दूसरी चित्त-निर्माण की अवस्था। चित्त-निर्माण तो हमारा होता ही है। हमें यह चुनाव करना होता है कि हम किस प्रकार के चित्त का निर्माण करें। तीसरी बात यह आती है कि जो हमारा ध्येय है, उस ध्येय के अनुकूल सामग्री का चयन करें और उस प्रकार का चित्त हम बनायें, निर्मित करें। चौथी बात है—चित्त-निर्माणकी प्रक्रिया। चित्त-निर्माणकी प्रक्रिया क्या होगी ? इसमें सबसे महत्त्वपूर्ण साधन है—ध्येय की कल्पना यानी ध्येय का चिन्तन।

यदा ध्यानबलाद् ध्याता, शून्यीकृत्य स्वविग्रहम्।
ध्येयस्वरूपाविष्टत्वात्, तादृक् संपद्यते स्वयम ॥

—ध्येय के स्वरूप में आविष्ट हो जाना, यह आवेश की प्रक्रिया है। आवेश आता है, क्रोध हमारे मन में उतरता है। दूसरी बात हमारे मन में उतर जाती है। आविष्ट होना—एक-दूसरे में घुस जाना। अपने शरीर को तो बना दिया शून्य और सामने ध्येय है, उसमें आविष्ट होना शुरू कर दिया। उसमें घुसना शुरू कर दिया। घुसते-घुसते इतने घुस गये कि ध्येय और ध्याता दोनों एक बन गये। यह गुण-संक्रमण का सिद्धांत है। योगी के देह में उस प्रकार का ध्यान करने से, गुण-संक्रमण हो जाता है यानी जो गुण ध्येय का है, वह उसमें संक्रामित हो जाता है। महावीर का समत्व गुण है, और महावीर के ध्यान में हम आविष्ट हो गये तो महावीर का समत्व हमारे भीतर प्रकट होना शुरू हो जायेगा। यह है गुण-संक्रमण का सिद्धांत।

जब इस प्रकार के चित्त का निर्माण कर लेते हैं तो विकृत मानस का निर्माण अपने आप स्थगित हो जाता है और इस प्रकार हम अपनी साधना की मंजिल तय कर लेते हैं और अपने चित्तकी अधीनता हम स्वयं प्राप्त कर लेते हैं। जिस प्रकार के चित्त का निर्माण, जितने प्रकार के पर्यायों का निर्माण हमें जीने के लिए आवश्यक होता है, हमारी साधना के लिए आवश्यक होता है, उस प्रकार के पर्यायों का निर्माण कर उन पर्यायों में चलते-चलते हम पर्यायातीत स्थिति तक पहुंच जाते हैं।

प्रश्न : समाधान

प्रश्न—क्या चित्त और मन दोनों अलग-अलग होते हैं ?

उत्तर—चेतना का वह पर्याय जो हमारी योग्यता के अनुरूप विकसित होता है, वह है चित्त और मन है उसके द्वारा निर्मित होने वाला क्रिया-संचालन के तंत्र का मुख्य उपकरण। उसमें विषय के सम्पर्क से लेकर स्मृति, प्रत्यभिज्ञा तक का पूरा एक चक्र आ जाता है। क्रिया संचालन का एक मुख्य तंत्र है जिसके द्वारा हम

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बाह्य जगत् में सम्पर्क स्थापित करते हैं। वहां तक की सारी क्रिया का संचालन करता है मन। मन है परिणमनशील। मन उत्पन्न होता है, नष्ट होता है उत्पन्न होता है, नष्ट होता है। एक क्षण में मन होता है और फिर नष्ट हो जाता है। मनन से पहले मन नहीं है और मनन के बाद मन नहीं है। मन उत्पन्न होता रहता है और चित्त उस पर स्थायी नियंत्रण करने वाला है।

जब हम ध्यान में बैठते हैं तब हम सोचते तो हैं कि इस बात पर मन टिकाएं, पर मन टिकता तो नहीं है। भीतर में कोई कहता है कि उस पर मन टिकाओ तो फिर मन ही ये दो काम कर रहा है क्या ? जैसे तर्कशास्त्र में आता है कि नट कितना भी कुशल हो, अपने कंधों पर नहीं चढ़ सकता। मन दो क्रियाएं कैसे कर सकता है ? वही तो चंचल है और वही निर्देश देता है कि स्थिर बनो—दोनों बातें कैसे कर सकता है ? किन्तु वास्तव में देखें तो चित्त और मन एक नहीं हैं। सक्रियता मन की है। मन चंचल होता है और उसका काम ही है चंचल होना। यह निर्देश मिलता है चित्त के द्वारा, बुद्धि के द्वारा या विवेक के द्वारा कि 'स्थिर करो'। हम स्थिर करते हैं किन्तु मन तो अपना काम करता जाता है। मन अपना काम करता रहेगा तो फिर वह स्थिर कैसे रहेगा ? वास्तव में सोचें तो मन स्थिर होता ही नहीं है। तो फिर क्या है ? इसका बहुत अच्छा उत्तर हमें एक बौद्ध साधक से मिलता है। उनसे पूछा गया कि मन कैसे स्थिर करें ? उन्होंने कहा—स्थिर क्या करोगे ? उत्पन्न ही मत करो। प्रतिष्ठा ही मत करो। उत्पन्न नहीं होना ही स्थिरता है। जो चीज़ चंचल है, जिसका स्वभाव ही चंचल है, जिसका अर्थ ही है सक्रियता, क्रिया करना, क्रियातंत्र का संचालन करना, वह स्थिर कैसे होगा ? इसका अर्थ है कि मन को उत्पन्न मत करो।

हम मौन हो जाते हैं। अब कहें कि भाषा को हमने स्थिर कर दिया। भाषा को स्थिर क्या किया ? हमने भाषा को उत्पन्न ही नहीं किया। भाष्यमाण भाषा होती है। हम बोलते ही नहीं हैं तो भाषा कैसे होगी ?

मन का अनुत्पादन ही मन की स्थिरता है। मन परिणमनशील है, और चित्त है उसका एक स्थायी नियंत्रण करने वाला बौद्धिक चक्र। वृत्तियों का काम भी मन की चंचलता है। उसके ज़िम्मे बहुत बड़ा काम है। वृत्तियां जो उभरती हैं, उनका वहन करना भी मन का काम है। मन इतना बड़ा संदेशवाहक और इतना बड़ा भार ढोने वाला खच्चर है कि वह काफी भार ढोता है।

एक व्यक्ति का खच्चर खो गया तो वह पीर के पास जाकर बोला—मेरा खच्चर मिल जाए तो मैं उसे एक रुपए में बेच दूंगा। मनौती की और संयोग से खच्चर मिल गया। अब सौ रुपए की चीज़ एक रुपए में कैसे बेचे ? बड़ी कठिनाई खड़ी हो गयी, परंतु मनौती की हुई थी, इसलिए करे क्या ? उसने सोचा क्या करूं ? एक बिल्ली लाया और उसे खच्चर की पीठ पर बैठा दिया। बाज़ार में जाकर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बोला—"लो, खच्चर बेच रहा हूं। एक रुपए में खच्चर और सौ रुपए में उस पर बैठी हुई बिल्ली। लेना हो तो लो। किंतु दोनों साथ में बिकेंगे। खच्चर के साथ बिल्ली भी लेनी होगी। दोनों साथ में मिलेंगे, अलग-अलग नहीं मिलेंगे।"

ठीक इसी प्रकार यह सौ रुपए की वृत्तियां और एक रुपए के मन का खच्चर है। दोनों साथ में हैं। लेना हो तो साथ में लो। अलग-अलग नहीं मिलेंगे। वृत्ति अलग नहीं मिलेगी और मन अलग नहीं मिलेगा। दोनों साथ मिलगे। इस प्रकार मन का काम काफी लम्बा-चौड़ा है। इसीलिए मन सक्रिय बनता है। मन का कोई दोष नहीं है। सक्रियता इसीलिए है कि संसार के सारे क्रियातंत्र का संचालन करना उसका अपना सहज नैसर्गिक काम है।

प्रश्न है कि बाह्य संगों को हम क्यों छोड़ें ? यानी वस्त्र, मकान, दूसरी-दूसरी चीजें क्यों छोड़ें ? छोड़ने की क्या जरूरत है ? तब वहां बताया गया है कि संग नहीं छोड़ेंगे तो कषाय को उत्तेजना मिलेगी। कषाय उत्तेजित होगा तो अध्यवसाय विकृत होगा। अध्यवसाय विकृत होंगे तो लेश्या अशुद्ध होगी। लेश्या अशुद्ध होगी तो अशुद्ध मन का निर्माण होगा। अशुद्ध मन का निर्माण होगा तो चित्त विकृत होगा।

प्रश्न—क्या सूक्ष्म-शरीर और 'ओरा' एक नहीं है ?

उत्तर—'ओरा' और सूक्ष्म-शरीर दो हैं। तैजस और कर्म—ये दो सूक्ष्म-शरीर हैं। ओरा (लेश्या या प्रभा-मंडल) तैजस-शरीर से निकलने वाली प्रकाश-रश्मियां हैं। कर्म-शरीर भावात्मक शरीर है। आदमी मर जाता है और मरते समय जब तीव्र आकांक्षा उसके मन में रह जाती है, जैसे किसी ने अकस्मात् आत्महत्या कर ली। मन में तीव्र भावना थी, पूरी नहीं हुई। दुर्घटना से मर गया। फिर कहते हैं कि वह भूत बन जाता है। देखता है, बोलता है और बार-बार यह जो प्लेनचेट के द्वारा आत्मा का अवतरण करते हैं, आमंत्रण करते हैं, आत्मा को बुलाते हैं। कुछ बातें बताते हैं। कुछ बातें मिलती हैं, कुछ बातें नहीं मिलती हैं। यह सारा क्रम न आत्मा का है, न स्थूल-शरीर का। यह एस्ट्रल बॉडी का क्रम है। स्थूल-शरीर रह जाता है। आत्मा चली जाती है। किंतु उसके संस्कार रह जाते हैं।

प्रश्न—जैन आगमों में योगवहन शब्द आता है। क्या प्राचीनकाल में योग की कोई विशिष्ट पद्धति रही है या जो आजकल चलती है, वही रही है ?

उत्तर—आजकल योगवहन का अर्थ आगम अध्ययन के साथ जुड़ गया। जब सूत्र पढ़ें तो उसके साथ में इतने आयंबिल करने चाहिए। अमुक-अमुक तपस्या करनी चाहिए। यह योगवहन के अर्थ में रूढ़ हो गया किंतु यह बहुत पुरानी बात नहीं है। यह बाद की है। यह योगवहन की कल्पना, उत्तरकालीन कल्पना है। जब आगमों की व्यवस्था हुई, अंगों-उपांगों की जो व्यवस्था हुई, उस व्यवस्था के

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनुपात से इस व्यवस्था का भी विधान हुआ। किंतु योगवहन का यह मूल अर्थ नहीं लगता। हम थोड़े गहरे में जाएं तो अर्थ ढूंढ़ सकते हैं। जैन परंपरा में भावनायोग, संवरध्यानयोग और निर्जरायोग—ये तीन शब्द बहुत प्रचलित हैं। भावनायोग, संवरध्यानयोग की बहुत बड़ी प्रक्रिया रही है। स्थान-स्थान पर आता है—झाणकोट्ठोवगए। यह ध्यान-कोष्ठ क्या है? यह है चित्त-निर्माण। ध्यान-कोष्ठ में चला जाना एक प्रकार के चित्त-कोष्ठ का निर्माण कर देना है। महाप्राण ध्यान और संवरध्यानयोग की एक ही प्रक्रिया है, यानी चित्त को निरोध करने की प्रक्रिया या आनापान को सूक्ष्म करने की प्रक्रिया। श्वास को इतना सूक्ष्म कर दिया जाता है कि आनापान को सूक्ष्म करनेवाला अंतर्मुहूर्त में चौदह पूर्वों (विशाल ज्ञान-राशि) का स्मरण कर लेता है। यह शब्द उस प्रक्रिया में, उस अर्थ में सम्भव लगता है। किंतु बाद में दूसरी परम्परा के साथ जुड़ गया और यह प्रक्रिया छूट-सी गयी। ऐतिहासिक दृष्टि से देखें तो आचार्य भद्रबाहु और स्थूलिभद्र के बाद हमारी परम्परा में बहुत बड़ा परिवर्तन आया। कई एक कठिनाइयां पैदा हुई हैं। काफी परिवर्तन आया है। हम स्वयं अनुभव करेंगे कि हमारी श्वेताम्बर परम्परा की अपेक्षा दिगम्बर परम्परा में ध्यान की पद्धति सुरक्षित रही है और जितने ग्रन्थ दिगम्बर आचार्यों के हैं ध्यान के विषय में श्वेताम्बर आचार्यों के उतने नहीं हैं। उन लोगों में साधना का बहुत अच्छा क्रम चला है। जो परम्परा बाद में रही उसमें बाह्य क्रिया ज्यादा आ गई। इन सारे तथ्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि योगवहन की जो मौलिक परम्परा थी वह विस्मृत हो गयी और यह उत्तरकाल की परम्परा आ गयी।

प्रश्न—मन और मस्तिष्क में क्या अन्तर है?

उत्तर—मन भावना-प्रधान होता है और मस्तिष्क चिंतन-प्रधान। हमारी व्यावहारिक चेतना के तीन अंग हैं—भावना, चिंतन और क्रिया। ये तीनों हमारी प्रवृत्ति के मुख्य अंग हैं। भावना का स्थान माना जाता है हृदय, चिंतन का स्थान मस्तिष्क और क्रिया का स्थान सारा शरीर है।

अब रहा प्रश्न मन और मस्तिष्क का। एक प्रकार से हमें यह स्वीकार करना चाहिए कि मन और मस्तिष्क में बहुत गहरा संबंध है। मन स्वयं चिंतन का एक अंग है। क्योंकि जो भी विषय यह ग्रहण करता है, उस विषय का संवेदन मस्तिष्क तक पहुंचता है। हमारा मनः पर्याप्ति का केंद्र यह बृहद् मस्तिष्क ही होना चाहिए। बृहद् मस्तिष्क में जो संवेदन पहुंचता है, वहां फिर उससे इनका अनुभव पूरा होकर और पर्यालोचन होता है। वह काम करता है मन। मन और मस्तिष्क—दोनों एक क्रिया से संबंधित हैं। शरीरशास्त्री या मनोवैज्ञानिक तो मानते हैं कि मस्तिष्क की क्रिया ही मन है। हम इस भाषा में न मानें किंतु यह मानें कि मन की प्रवृत्ति का मुख्य साधक अंग है मस्तिष्क, जहां से सारी क्रियाओं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

का संचालन होता है। मस्तिष्क विकृत होता है तो मन की क्रिया विकृत हो जाती है। मस्तिष्क स्वस्थ होता है तो मन की क्रिया स्वस्थ होती है। दोनों का गहरा संबंध है।

अब प्रश्न रहा भावना पक्ष का। इसका बहुत संबंध है हमारे हृदय से और कुछ संबंध होता है मज्जादंड से। भावनाओं का नियंत्रण करना या भावनाओं को छोड़ना, यह मज्जादंड का काम है।

एक संन्यासी था। स्त्रियां और पुरुष उस संन्यासी के पीछे-पीछे लग जाते थे। वह कोई मज्जागत चीज ऐसी देता था कि उसका संस्कार बैठ जाता था। बाद में वह पकड़ा गया। खोज की गई। उसने कहा कि जब तक यह मज्जा का अंश नहीं निकल जाता, तब तक उनका विचार बदलेगा नहीं। इसीलिए श्रावक के लिए कहा गया है कि उसकी मज्जा धर्म के प्रेम से अनुरक्त होती है। भावनात्मक चीजें जितनी भी दी जाती हैं, उनका सबसे अधिक प्रभाव होता है हृदय चक्र पर। यह भावना का मुख्य केंद्र है। इसका नियंत्रण होता है मस्तिष्क के नीचे मेरुदंड से। मेरुदंड और मस्तिष्क के बीच जो गर्दन का हिस्सा है, वह है मज्जादंड। जो चीज मांस तक पहुंची, उसका उतना प्रभाव नहीं पड़ता। जो मज्जागत हो गई, अस्थिगत हो गई, उसका प्रभाव तेजी से पड़ता है। जो बोन टी० बी० हो जाती है, उसका असर अधिक पड़ता है। अस्थि से भी आगे जब मज्जा में पहुंच जाती है तो उसका भयंकर प्रभाव होता है। यह सारे संस्कार हैं मज्जा के। यह काम मन का नहीं है। उसके नीचे का है। राग-द्वेषात्मक आदि जितनी भावनाएं हैं, उन पर नियंत्रण पाना, उन पर कंट्रोल पाना मेरुदंड का, मज्जादंड का और कंठमणि का काम है। भावना और चिंतन दोनों अलग-अलग हो जाते हैं।

प्रश्न—भाषणों की अपेक्षा क्या प्रयोगों की ओर ध्यान देना अधिक उचित नहीं है? क्या प्रयोग करने के बारे में भी हमारा कुछ चिंतन है?

उत्तर—प्रश्न बिलकुल ठीक है, परंतु मैं कोई जादूगर नहीं हूं कि एक डंडा घुमा दूं और सब कुछ सिद्ध हो जाए। यह प्रक्रिया भी श्रेष्ठ नहीं है। साधक को बता देना है कि ऐसा-ऐसा करो। करना तो आपको स्वयं है और वास्तव में समुचित प्रक्रिया भी यही है। व्यक्ति को स्वयं को ही करना चाहिए। कुछ लोग ऐसा करते भी हैं। डॉक्टर की तरह हृदय का प्रत्यारोपण नहीं किया जा सकता। अब रहा प्रश्न चित्त-निर्माण का, चित्तातीत अवस्था के निर्माण का। आप जानते हैं कि हमारी कुछ कठिनाइयां हैं। हम यह निश्चित जानते हैं कि केवल संवर में ही हमें नहीं जाना है, संवर को भी छोड़ देना है, संवरातीत हो जाना है। मंजिल तो हमारी वहां तक है, फिर भी हमें निर्जरा के साधन अपनाने होंगे। कुछ ऐसी जटिलताएं हैं। इन जटिलताओं को पार करना है। जंगल को पार करने के लिए

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हमें वाहन पर भी चढ़ना है; नदी को पार करने के लिए नौका पर भी चढ़ना है। जो व्यक्ति कमजोर है और चाहता है कि दो-तीन घंटे बैठकर ध्यान करे, शरीर की स्थिति नहीं है, बैठ नहीं सकता, कैसे करे? इसलिए उस व्यक्ति के लिए जरूरी है कि स्वस्थ चित्त का निर्माण करे, यानी शरीर के स्वास्थ्य का निर्माण करे। वह शरीर उस कोटि का बन जाए, फिर अपने ध्येय की ओर चले। स्थिति को पार करता जाए किंतु उसमें उलझे नहीं। जो व्यक्ति चित्त-निर्माण करने की क्षमता अर्जित कर लेता है, वह उलझेगा नहीं। प्रायः वह अगले चित्त के निर्माण के लिए आगे चलता जाएगा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

५

चंचलता का चौराहा

- पहली चंचलता है—स्मृति ।
- दूसरी चंचलता है—कल्पना ।
- तीसरी चंचलता है—विचार ।

स्थिरता क्या है ?
स्मृति का न होना, कल्पना का न होना और विचार का न होना ।

•

महामंत्री चाणक्य जा रहे थे। एक गांव में ठहरे। एक बुढ़िया के घर भोजन करने के लिए गये। बुढ़िया ने अच्छा आतिथ्य किया। आवभगत की। और जैसी भारत की परंपरा रही है, अतिथि के स्वागत करने की, उसी के अनुरूप उनका स्वागत किया। भोजन के लिए बैठे। बुढ़िया ने खिचड़ी परोसी। चाणक्य ने बैठते ही हाथ डाला मध्य में। खिचड़ी गर्म थी। हाथ जल उठा। एक श्वास के साथ हाथ को उठाया और हाथ को हिलाने लगे। बुढ़िया ने देखा और वह तत्काल बोल उठी—"लगता है तुम भी चाणक्य जैसे महामूर्ख हो ?" चाणक्य ने अपना नाम सुना। वे सकपका गये। मैं मूर्ख कैसे ? चाणक्य और मूर्ख ! यह कैसे हो सकता है ? चाणक्य अपने युग का महापंडित था और महान् विद्वान् था। न केवल अपने युग का बल्कि भारतीय परंपरा में राजनीतिक विचारदृष्टि से चाणक्य एक ऐसा व्यक्ति हुआ है, जिसकी तुलना अभी तक दूसरे व्यक्ति से नहीं हो रही है। वह चाणक्य और बुढ़िया ने कहा—मूर्ख ? चाणक्य को बहुत आश्चर्य हुआ। वह बोला—"मां ! चाणक्य मूर्ख कसे ?" बुढ़िया को क्या पता, यह कौन बैठा है ? उसके सामने तो एक अतिथि था, पाहुना था। वह बोली—"क्या तुम नहीं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जानते कि चन्द्रगुप्त और चाणक्य पाटलिपुत्र पर आक्रमण कर रहे हैं। पाटलिपुत्र पर धावा बोल रहे हैं। किंतु सीधे पाटलिपुत्र पर जाते हैं। महानंद बहुत शक्तिशाली है, मार खाकर वापस आ जाते हैं। कितना मूर्ख और बेवकूफ़ है! उसे इतना भी बोध नहीं कि पहले आसपास को जीतना चाहिए, और जब आसपास को जीत ले, शक्ति बढ़ा ले, फिर राजधानी पर आक्रमण करना चाहिए। तुम भी उसी की तरह मूर्ख हो। खिचड़ी के बीच में हाथ डालते हो। पहले खिचड़ी जो आसपास में ठंडी हो गयी है, उसमें हाथ डालना चाहिए था, खाना चाहिए था और खाते-खाते बीच की भी ठंडी हो जाती, उसे खा लेते। परंतु तुम तो सीधा बीच में हाथ डाल रहे हो। क्या तुम मूर्ख नहीं हो, ठीक वैसे ही जैसे चाणक्य है ?"

चाणक्य को इतना अच्छा बोध मिला कि फिर वह मूर्ख नहीं रहा। यह एक कहानी है और इसलिए मैं कह रहा हूं कि मुझे लगा मैंने श्वास के विषय में और शरीर के विषय में पिछली गोष्ठियों में जो कहा, शायद कुछ श्रोताओं को या बहुत सारे श्रोताओं को ऐसा लगा होगा कि जहां बात चली थी कि मन को शान्त कैसे किया जाये, मन को एकाग्र कैसे किया जाये, वहां बात चल रही है शरीर की और श्वास की; जबकि हमें ध्यान केन्द्रित करना चाहिए मन पर।

यदि हम पहले मन पर ध्यान केन्द्रित करते हैं तो हम भी चाणक्य जैसे और खिचड़ी खानेवाले जैसे मूर्ख बन सकते हैं। मन को पहले छूने की जरूरत नहीं है। हमें जब ध्यान करना है और ध्यान में स्थिर होना है, तो पहले मन पर ध्यान देने की कोई आवश्यकता नहीं है। पहले खिचड़ी जो ठंडी हो गयी है, उसे खा लेना है। हमें समझ लेना है कि मन के आसपास क्या क्रियाएं और प्रतिक्रियाएं होती हैं। जब हम शरीर को और श्वास को नहीं समझ पाते और सीधा मन को स्थिर करने का प्रयत्न करते हैं तो मूर्खता ही हाथ लग सकती है।

यह कैसे हो सकता है ? इसके लिए थोड़ा विस्तार में जाना होगा। मन की स्थिति और मन की क्रिया को समझना हमारे लिए बहुत आवश्यक है। इसे स्थिर करना है। पहले इसे समझना है कि वह क्या है ? उसकी क्रिया क्या है ? प्रक्रिया क्या है और प्रतिक्रिया क्या है ? शरीर को समझे बिना यह नहीं समझा जा सकता।

आचार्यों ने मन:पर्याप्ति के बारे में बतलाया। इन्द्रियों के विषय में बतलाया। निर्वृत्ति इन्द्रिय, उपकरण इन्द्रिय—इनके बारे में बतलाया। किंतु आज मनोविज्ञान के संदर्भ में, आज के शरीरशास्त्र के संदर्भ में, उनका अध्ययन नहीं करते हैं तो हमारा ज्ञान प्रस्फुटित नहीं होता, विकसित नहीं होता। यदि हम प्राचीन साहित्य और मनोविज्ञान—दोनों का तुलनात्मक अध्ययन करते हैं तो विषय इतना स्पष्ट हो जाता है कि हमें समझने में बड़ी सुविधा होती है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अब प्रश्न है कि मन चंचल है। आखिर चंचलता क्या होती है ? इसे पहले समझना चाहिए। जब तक हम चंचलता को नहीं समझेंगे तब तक मन को स्थिर करने के हमारे सारे प्रयत्न विफल हो जाएंगे। पहले हमें समझना है कि चंचलता क्या है ? इसके लिए हमें शरीर पर जाना होगा। हमारा शरीर ज्ञान करने का माध्यम है।

शरीर में दो ज्ञान-केन्द्र होते हैं—एक मस्तिष्क या बृहद् मस्तिष्क, दूसरा मेरुदंड। ये दो मुख्य केन्द्र हैं। सारे शरीर में तंतुओं का एक जाल जैसा है। उन तंतुओं में दो प्रकार के तंतु हैं—एक ज्ञानग्राही और एक ज्ञानवाही। मूली की जड़ में रेशे होते हैं जो रस का आकर्षण करते हैं, रस को खींचते हैं। उसी प्रकार हमारे तंतुओं में एक रेशे जैसे होते हैं। वे रेशे विषय को ग्रहण करते हैं और उनके द्वारा ग्रहण किया हुआ विषय आगे के तंतु (ज्ञानवाही तंतु) मस्तिष्क तक पहुंचा देते हैं मेरुदंड के माध्यम से। ये ज्ञानवाही तंतु (Sensory Nerves) कहे जाते हैं। बृहद् मस्तिष्क का जो मध्यभाग है उसे भेजा, कारटेक्स कहा जाता है। ज्ञानग्राही तंतु विषय को पकड़ते हैं, फिर ज्ञानवाही तंतु उसे ले जाते हैं और मस्तिष्क के कारटेक्स तक पहुंचा देते हैं। फिर अनुभव होता है, प्रत्यय होता है।

एक काम होता है ज्ञान का और दूसरा काम होता है चेष्टा का। मस्तिष्क में दो केन्द्र हैं—एक ज्ञानकेन्द्र (Sensory Centre) और एक चेष्टाकेन्द्र या क्रियाकेन्द्र (Motor Centre)। ज्ञानकेन्द्र का काम है ज्ञान को ग्रहण कर लेना। फिर अनुभव का आदेश होता है चेष्टाकेन्द्र को, क्रियाकेन्द्र को। वह फिर प्रवृत्ति करता है। पैर में कांटा चुभा, कांटा चुभते ही जो चुभन हुई, उसका ज्ञान ठेठ मस्तिष्क तक पहुंच जाता है। फिर वहां से हाथ को आदेश मिलता है कि कांटे को निकालो। चेष्टाकेन्द्र सक्रिय हो जाता है। क्रियाकेन्द्र का आदेश होता है और क्रियावाही तंतु सक्रिय होकर कांटे को निकाल लेते हैं। यह सारी व्यंजन से लेकर क्रिया करने तक की प्रक्रिया है।

यह है हमारे शरीर की प्रक्रिया—ज्ञान करने की और क्रिया करने की। सर्दी है, हम बैठे हैं। ठंडी हवा चल रही है। हमें सर्दी लग रही है। यह है प्रत्यय या निर्विकल्प प्रत्यक्ष। इन्द्रिय का ज्ञान हो रहा है। यह इन्द्रियजन्य ज्ञान है। मनोविज्ञान की भाषा में इसे प्रत्यय (Percept) कहते हैं। यह इन्द्रिय का ठीक बोध है। अब यह होने के बाद जो हमारा प्रत्यय हुआ, इन्द्रिय का ज्ञान हुआ, उसके साथ फिर मन जुड़ता है। हमारी भाषा में पहले व्यंजन होता है। व्यंजन का मतलब है विषय के पुद्‌गलों का ग्रहण होकर मस्तिष्क तक पहुंच जाना। फिर उस व्यंजन का बोध होता है। मन का योग नहीं केवल इन्द्रियों का ज्ञान रहता है। यहां आते-आते मन साथ जुड़ जाता है और वह मानसिक विषय बन जाता है। फिर हम आगे चलते हैं। मन साथ में जुड़ा तब उस विषय में तर्क, ऊह, अपोह

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

होता है। निर्णय होता है और उसके बाद धारणा हो जाती है, अनुभव का संचय हो जाता है, शक्ति का संचय हो जाता है।

शक्ति-संचय तक हम एक कक्षा तक पहुंच जाते हैं। प्रत्यय और प्रत्यय से शक्ति-संचय यानी धारणा। अब फिर क्या होता है? अगली प्रक्रिया शुरू होती है मन की। धारणा हो गयी। हमारे मस्तिष्क में धारणा के प्रकोष्ठ हैं। प्रत्यय आता है और तत्काल चला जाता है। प्रत्यय सामने नहीं रहता। हमने एक व्यक्ति को देखा। व्यक्ति चला गया। किंतु प्रत्यय या निर्विकल्प ज्ञान अपने संस्कार छोड़ जाता है। मस्तिष्क में एक परिवर्तन होता है कि वह वहां संचित रह जाता है। अब क्या होता है? प्रत्यय तो चला गया। हमारे मन में एक प्रतिमा बन गयी। दूसरी कोई उत्तेजना सामने आती है, वह धारणा फिर जागृत हो जाती है। उसे हम कहते हैं स्मृति। संस्कार के जागरण से होने वाला संवेदन स्मृति कहलाता है। संस्कार जागा, जो वासना में था, वह जागृत हुआ, स्मृति हो गयी। संस्कार और वासना का एक नाम है अविच्युति। वह च्युत नहीं होता। जो अनुभव था, वह च्युत नहीं होता। वह टिका रह जाता है। वही हमारे सामने फिर स्पष्ट होता है, स्मृति बन जाती है। हमारी चंचलता और क्या है? मन की तीन क्रियाएं हैं—स्मृति, विचार और कल्पना। इनका नाम है चंचलता। यदि हमारी स्मृति न हो, चंचलता हो नहीं सकती। जब ध्यान करने बैठते हैं, एक के बाद एक अनुभव याद आते जाते हैं। ऐसा लगता है कि मानो कोई किवाड़ खुल गया, नाला खुल गया, और पानी बहता चला आ रहा है। स्मृति का नाला खुल जाता है, स्मृति का दरवाजा खुल जाता है और वह ऊपर से ऊपर आने लग जाती है। यह है हमारी चंचलता।

दूसरी हमारी चंचलता है कल्पना। हम संकल्प और विकल्प करने लग जाते हैं। यह कल्पना क्या है? यह भी स्मृति का ही एक परिणाम है। अगर स्मृति नहीं है तो कल्पना नहीं हो सकती। कल्पना स्मृति का ही एक रूप है।

मनोविज्ञान तीन बातें मानता है—स्मृति, प्रतिमा और कल्पना। हमने एक मकान देखा। हम आगे चले गए। मकान तो चला गया। किंतु मकान की प्रतिमा हमारी [आंखों के सामने आ जाती है, वह प्रतिमा बन जाती है। प्रतिमा क्या है? जैसी स्मृति होती है वैसी प्रतिमा बन जाती है। कल्पना कर हम कुछ न कुछ नया और जोड़ देते हैं। एक आदमी गर्मी में बैठा है। लूएं चल रही हैं। पसीने से तर-ब-तर हो गया। यह हमारा प्रत्यय है। गर्मी चली गयी। सांझ का समय आ गया। और ठंडक भी हो गयी। स्मृति उभरती है—ओह! कितनी गर्मी थी? किस प्रकार मैं पसीने से तर-ब-तर था। यह एक प्रतिमा हमारे सामने आ जाती है। कल्पना में क्या होता है? कोई मित्र आया। अरे भाई! क्या पूछते हो, आज तो कितनी भयंकर गर्मी थी। गर्मी क्या थी, आग बरस रही थी। अब यह आग

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बरस रही थी, कल्पना में नया और जुड़ गया। बरसना भी जोड़ दिया और आग को भी जोड़ दिया। गर्मी चली गयी। आग बरस रही थी, आग और बरसना दोनों आ गये। यह हो जाती है हमारी कल्पना। कल्पना, स्मृति और विचार—ये चंचलता के तीन रूप हैं। तीनों मन की क्रियाएं हैं। तीनों अलग नहीं हैं। एक ही मन की प्रक्रिया और शृंखला में ये होते हैं। मन की क्रिया में स्मृति होती है, मन की क्रिया में विचार होता है, मन की क्रिया में कल्पना होती है। तीनों मन की क्रिया में होते हैं। और एक ही साथ तीनों चलते हैं। इसी का नाम है चंचलता।

स्मृति की उधेड़बुन, कल्पना का तानाबाना और विचार की शृंखला, इसका नाम है चंचलता। चंचलता कहिए, चाहे मन की क्रियाशीलता कहिए, चाहे संस्कारों की क्रियाशीलता कहिए, एक ही बात है। यह तो स्वाभाविक प्रक्रिया है मन की। मन के लिए कोई बुरी बात नहीं है। मन का काम है गतिशीलता। मन का काम रुकना नहीं है। मन का काम है गतिशील होना और गतिशील रहना। जब हम मन को उत्पन्न करेंगे, मन को रखेंगे तो मन का यह निश्चित काम है, और उसी काम से मन चलता है।

अब फिर प्रश्न आता है स्थिरता का। स्थिरता क्या है, यह बताने की जरूरत नहीं है। स्मृति का न होना, कल्पना का न होना और विचार का न होना, स्थिरता है। बड़ी कठिन बात है। हमारी आदत भी बन जाती है। एक संस्कार संस्कार मात्र होता है, और एक संस्कार आदत बन जाती है। जो संस्कार गाढ़ हो जाता है, वह आदत बन जाती है। एक बात को बार-बार दुहराइए, बार-बार याद कीजिए, बार-बार ध्यान केन्द्रित कीजिए, वह विचार संस्कार से आगे आदत का रूप ले लेता है। और आदत बनने के बाद ऐसी कठिनाई है, कि हम चाहें या न चाहें, वह काम हमें करना पड़ जाता है। क्योंकि आदत में संस्कार की प्रगाढ़ता हो जाती है।

एक कहानी है। वह हमारी मनःस्थिति को बहुत सुन्दर ढंग से स्पष्ट करती है। तीन मित्र थे और तीनों में एक-एक आदत थी। एक की आदत थी बार-बार आंखों को खुजलाना, आंखों पर हाथ फेरना। दूसरे की आदत थी शरीर को बार-बार खुजलाना। और तीसरे की आदत हो गयी कि पानी में बार-बार हाथ डालना। ये आदतें कोई काम की नहीं थीं। कोई उपयोग भी नहीं था इनका। पर आदत में उपयोग और अनुपयोग का सवाल नहीं उठता। प्रश्न है संस्कार की प्रगाढ़ता, स्मृति की प्रगाढ़ता। जिसकी स्मृति बहुत गाढ़ बन जाती है, जो संस्कार बहुत गाढ़ बन जाता है, वह काम चाहे-अनचाहे व्यक्ति कर लेता है। उनकी भी ऐसी आदत हो गयी थी। दूसरे व्यक्तियों को बुरा भी लगता। आसपास के लोग टोकते भी, पर करें क्या? उनकी तो विवशता थी संस्कार की। एक व्यक्ति ने एक दिन प्रस्ताव किया कि तुम लोग अगर ये आदतें छोड़ दो तो हम तुम्हें पुरस्कार

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

देंगे। प्रत्येक व्यक्ति को एक-एक हजार रुपया, अगर एक दिन के लिए भी आंख नहीं मलो, शरीर को नहीं खुजलाओ और पानी में हाथ नहीं डालो तो।

लोभ था रुपयों का और इधर विवशता थी आदत की, संस्कारों की। परन्तु लोभ बड़ा था, इसलिए तीनों ने स्वीकार कर लिया। वह व्यक्ति उन तीनों को नौका में बैठाकर चल पड़ा। तीनों थे, साथ में कुछ और लोग भी थे। चलते गये, चलते गये किन्तु आखिर में जब स्मृति तीव्र होती है, उस समय आदमी को दुर्बल बना देती है, संकल्प को क्षीण बना देती है। स्मृति प्रबल हुई। संस्कार जागा। रहा नहीं गया। एक ने सोचा, क्या करूं ? ऐसे तो नहीं होगा। वह बोला, "मैं तुम्हें आज एक बात सुनाता हूं। मेरे था एक मामा और मामा के थी बकरी। बकरी के कान इतने बड़े थे कि जब वह चाहती अपनी आंखों को ऐसे मल लेती" —यों कहकर उसने आंखें मल दीं।

दूसरे ने सोचा,—अरे ! इसने तो काम कर लिया। उसकी स्मृति और जाग गयी। उसने कहा, "तुम कैसी बेवकूफी की बात करते हो ? मैं इससे भी बड़ी बात कहता हूं। मेरे था एक दादा। और इतना बड़ा पहलवान था कि वह सुबह अखाड़े में जाता और अखाड़े की मिट्टी लेकर अपने शरीर को मलता, रगड़ता और इस प्रकार मलत-रगड़ता।" उसने अपने शरीर को भी रगड़ दिया।

तीसरे की स्मृति भी जाग उठी। उसने कहा, "तुम दोनों बेवकूफ हो। कहां तुम्हारा मामा और कहां तुम्हारा दादा ! मरे हुए की बात क्या बताई जाये ? उनको तो श्रद्धांजलि देनी चाहिए।" श्रद्धांजलि के मिष से उसने अपने दोनों हाथ पानी में डाल लिये।

यह क्या है ? पानी में हाथ डालने से उसे कोई आनन्द नहीं आया। आंख मलने से उसे कुछ मिला नहीं। शरीर को मलने से उसे कुछ मिला नहीं, शरीर को खुजलाने से उसे कुछ मिला नहीं। यह है स्मृति का आवेग। स्मृति जब तीव्र होती है, और वह स्मृति जब आदत के रूप में बन जाती है, जब उत्तेजना करती है, तब व्यक्ति सब कुछ भूल जाता है, स्मृति के अधीन हो जाता है। यानी चंचल हो उठता है, क्षुब्ध हो उठता है। यह क्षोभ, यह उत्तेजना और यह चंचलता, इस स्मृति के कारण होती है। कल्पना के कारण भी ऐसा ही होता है और विचार-प्रवाह में भी ऐसा ही होता है।

उत्तेजना क्यों मिलती है ? इसके दो कारण हैं। पहला कारण है—विषय की सन्निधि और दूसरा कारण है—आन्तरिक। विषय सामने आया, आंख ने पकड़ा, आंख का संवेदन मस्तिष्क तक पहुंचा, मन तक पहुंचा और मन की चंचलता बढ़ गयी। यह होती है बाहरी उत्तेजना। एक होती है भीतरी उत्तेजना। वह हमारे लिएं बहुत महत्त्वपूर्ण है। वह है वायु और प्राण। श्वास और वायु। वह है आन्तरिक उत्तेजना। हमारी शरीर की सारी क्रिया वायु के द्वारा संचालित होती है। यदि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वायु न हो, श्वास न हो तो शरीर बिलकुल खंभे जैसा बन जायेगा। ज्ञानवाही तंतु न हों, चेष्टावाही तंतु न हों तो भी यही स्थिति उत्पन्न हो जायेगी।

ज्ञानवाही तंतु को काट देने से हाथ चेष्टा करेगा पर जान नहीं पायेगा। चेष्टावाही तंतु को काट देने से वह जान सकेगा परन्तु चेष्टा नहीं कर पायेगा। मनोविज्ञान ने ऐसे कई प्रयोग किये हैं। एक व्यक्ति के चेष्टावाही तंतुओं को काट दिया। सामने दृश्य है, देखता है पर कोई क्रिया करने की उसमें क्षमता नहीं है। कुछ भी नहीं कर सकता। हाथ को नहीं चला सकता। ये दोनों बराबर मिलते हैं—ज्ञानवाही तंतु और चेष्टावाही तंतु। फिर कल्पना और स्मृति का योग होता है। तत्काल वह क्रिया निष्पन्न हो जाती है। वायु से क्रिया होती है।

पूज्यपाद विद्यानन्दि ने बहुत सुन्दर लिखा है—

> प्रयत्नाद् आत्मनो वायुः, रागद्वेषप्रवर्तितात्।
> वायोः शरीरयन्त्राणि, वर्तन्ते स्वेषु कर्मसु॥

आत्मा के प्रयत्न से वायु पैदा होती है। उस वायु से शरीर का सारा यंत्र संचालित होता है, सारी क्रियाएं निष्पन्न होती हैं। वायु की बहुत बड़ी मुख्यता है। शरीर और वायु इन दोनों को ठीक समझें तो हम चंचलता को ठीक समझ सकते हैं, स्थिरता को समझ सकते हैं। चंचलता को मिटा सकते हैं और स्थिरता को प्राप्त कर सकते हैं। अगर शरीर और वायु को ठीक न समझें तो हम कुछ भी नहीं कर सकते।

चौदह पूर्व हैं। उनमें एक पूर्व था 'प्राणावाय', जिसमें सारा प्राण का विवेक था। वायु का विवेचन था। प्राण और अपान का विवेचन था। आज वह नहीं रहा। इतना बड़ा महत्त्व का है यह काम कि यदि हम ठीक प्राण को समझ लें, शरीर की रचना को ठीक समझ लें, तो फिर यह नहीं सोचेंगे कि मन स्थिर क्यों नहीं होता ? मन को पकड़ने की जरुरत नहीं है। हम मन को तो अपने आप वैसे ही कर लेते हैं कि शेष बंगाल को विजित किया, ढाका अपने आप घिर जायेगा। जब घिर जाता है, मन कहां टिक पायेगा ? मन फिर चल नहीं हो सकता।

पांच वायु मुख्य मानी गयी हैं—प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान। व्यानवायु हमारी त्वचा में व्याप्त रहती है। तिब्बत के योगी इसे कुछ भिन्न प्रकार से मानते हैं। वे व्यानवायु का मुख्य केन्द्र मानते हैं जननेन्द्रिय के पास। उनकी दृष्टि में व्यानवायु का केन्द्र वहां है। संकल्प क्या है ? विकल्प क्या है ? व्यानवायु के साथ मन का योग होना, इसका नाम है संकल्प और विकल्प। आप व्यानवायु से मन को हटा लीजिए, संकल्प-विकल्प उत्पन्न ही नहीं होंगे।

इसीलिए जालंधर बंध की योजना की है। व्यानवायु को जीतने के लिए जालंधर बंध करना, कंठ में संयम करना। कंठ में संयम करने का अर्थ है—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

व्यानवायु को जीतना।

लाडनूं की बात है। एक व्यक्ति बैठा था। उसने कहा—यहां से तीस-चालीस मील की दूरी पर एक मठ है। मैंने वहां जाकर पूछा एक संन्यासी से—आपके यहां ध्यान की पद्धति क्या है? उन्होंने बताया—हम तो विशेष नहीं जानते। इतनी-सी हमारी परम्परा है कि ध्यान करने के लिए जब मन को स्थिर करना होता है तो कंठकूप में ठुड्डी को टिका देते हैं और फिर ध्यान करते हैं। इससे मन शांत और स्थिर हो जाता है।

मैंने उससे कहा कि तुमने मूल बात को पकड़ा है। क्योंकि व्यानवायु के साथ मन का संयोग होने से संकल्प-विकल्प पैदा होते हैं, स्मृतियां उभरती हैं। शरीर की चेष्टाएं चालू होती हैं। व्यानवायु को जीतने का सबसे मौलिक और सुन्दर उपाय है, कंठ पर संयम करना। जब कंठ पर संयम कर लिया जाता है, तो फिर संकल्प कहां से आयेगा? फिर विकल्प कहां से आयेगा? फिर कल्पना कहां से आयेगी? अपने आप संकल्प, विकल्प और कल्पनाएं समाप्त हो जाएंगी और मन की स्थिरता अपने आप सध जायेगी।

शरीर को समझे बिना क्या हम मन की स्थिरता का उपाय समझ सकते हैं? हम परिपार्श्व को नहीं समझें, शरीर को नहीं समझें, श्वास को नहीं समझें तो केवल मन को स्थिर करने की बात कभी भी नहीं समझी जा सकती। प्रक्रिया को समझे बिना मूल विषय को नहीं समझ सकते। दूसरी एक बात मैं आपके सामने और रखूंगा। मद्रास में एक व्यक्ति मिला। जैन था और श्रीमद् रायचन्द की परम्परा में विश्वास रखता था। उस व्यक्ति ने कहा—महाराज! क्या करें? आज के हमारे जैन लोग और मुझे कहना चाहिए कि जैन मुनि भी ध्यान की परम्परा से बहुत दूर चले गये। उन्हें पता ही नहीं कि हमारी परम्परा क्या है? मैंने कहा—तुम करते हो ध्यान? हां, करता हूं। किस परंपरा से करते हो? जैन की परंपरा से करता हूं। मैंने पूछा—क्या परम्परा है जैन की? उसने कहा कि जो मुझे गुरु के द्वारा प्राप्त हुई है। जैनों के ध्यान करने की सीधी परम्परा यह है कि जीभ को उलट दो। बैठ जाओ। मन स्थिर और शांत हो जायेगा। इसे हठयोग में कहा गया है 'खेचरी मुद्रा'। इसे जैन परंपरा में कहा गया है—संवर करना। संवर कैसे होगा? जीभ को उलटकर बैठ जाओ, संवर हो जायेगा। मन का संवर, वाणी का संवर और काया का संवर। मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति—अपने आप ही सध जायेगी।

बात बहुत अच्छी थी। खेचरी मुद्रा के बारे में मैं जानता था। किन्तु जैनों की यह प्रक्रिया है, यह बात मैंने मद्रास में उस भाई से सुनी। इसका भी आशय स्पष्ट होता चला गया। सब वायु में मूल वायु है प्राण। व्यान आदि सब उसी के अवांतर भेद हैं। मूल है प्राण। जीभ को उलटने से क्या होता है? जैसे ही जीभ को

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उलटते हैं, प्राणवायु ऊपर मस्तिष्क में चली जाती है। और प्राणवायु के ऊपर जाने का अर्थ है—मानसिक विकल्पों की शांति। यह महाप्राण ध्यान का पहला चरण है। भद्रबाहु स्वामी ने महाप्राण ध्यान किया था। आचार्य आषाढ़भूति ने महाप्राण ध्यान की साधना की थी। महाप्राण ध्यान की साधना क्या है? वायु को, प्राण को, सिर में केन्द्रित कर देना। एक बिन्दु पर केन्द्रित कर देना, जिससे प्राण की सारी क्रिया समाप्त हो जाये। जीभ को ऊपर उलटने का मतलब है महाप्राण ध्यान का पहला चरण। आपको सोचने की ज़रूरत नहीं, आपको और कुछ करने की ज़रूरत नहीं। जैसे ही जीभ को उलटकर आप बैठ गये, आपका प्राणवायु अपने आप ही ऊपर जाना शुरू हो जायेगा। अगर कोई व्यक्ति घंटा भर रह जाये तो कितना आनन्द उसे मिलता है। जीभ को उलटकर घंटों तक बैठ जाना बड़ी कठिन साधना है। कितनी ऊष्मा बढ़ जाती है! चलते-फिरते अगर यह क्रिया करें तो फफोले भी पड़ जाते हैं। किन्तु शान्तवृत्ति में करने से प्राणवायु ऊपर चली जाती है, फिर यह कोई प्रश्न नहीं रहता कि मन कैसे शान्त हो, मन का विकल्प कैसे मिटे और चंचलता कैसे मिटे? फिर प्रश्न यह हो सकता है कि चंचलता कैसे आये? चंचलता को लाना पड़ता है। ये दो उदाहरण मैंने अभी आपके सामने प्रस्तुत किये, एक खेचरी मुद्रा का या जीभ को उलटकर बैठने का और दूसरा जालन्धर बंध का—कंठकूप में संयम करने का। उससे ध्यानवायु पर विजय होती है और इससे प्राणवायु ऊपर जाता है। न जाने कितने सम्बन्ध हैं शरीर के हमारे। अगर शरीर और प्राण के सारे सम्बन्धों को हम समझ लें और थोड़ा-सा भी अभ्यास करें तो फिर यह मन का प्रश्न, मन की चंचलता का प्रश्न, स्मृतियों की उधेड़-बुन का प्रश्न, विचार का प्रश्न, हमारे लिए रहता ही नहीं।

इस सारी प्रक्रिया में मन को शून्य बनाना एक मुख्य बात है। चेतना के उद्घाटन के लिए मन को शून्य करना ज़रूरी है। मन की दो अवस्थाएं हैं—शून्य और परमशून्य। मन की शून्यता के लिए शरीर और वायु पर ध्यान केन्द्रित करना बहुत ज़रूरी है। इस संदर्भ में हमने श्वास पर विचार किया, शरीर पर विचार किया। और जब ये दोनों ठीक हो जाते हैं तो मन अपने आप शून्य हो जाता है। मन के लिए अलग से कोई प्रयत्न करने की ज़रूरत नहीं, मन अपने आप शून्य हो जाता है। आज हमने शून्य को भरने का प्रयत्न नहीं किया, किन्तु भरे हुए को शून्य करने का प्रयत्न किया है।

आचार्यश्री ने कहा—अगर हम कारणों को पहले मिटा दें तो कार्य को मिटाने का प्रयत्न हमें नहीं करना पड़ता है। और अच्छा यही है कि हम उन कारणों को मिटा दें। निमित्त जब नहीं रहेगा, उपादान नहीं रहेगा, दोनों का मिश्रित योग नहीं होगा तो कार्य की निष्पत्ति होगी ही नहीं। इसलिए यदि हम मन को शान्त करने का प्रयत्न करते हैं और मन को उभारने के कारणों को ज्यों का त्यों रखते

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हैं तो मन कभी त्रिकाल में भी शान्त होने को नहीं है। इसलिए आज का हमारा विवेचन इसी रूप में था कि हम कार्य को छोड़कर कारणों को शान्त करने का प्रयत्न करें। अब इस विषय में जिज्ञासाएं प्रस्तुत की जा सकती हैं।

प्रश्न : समाधान

प्रश्न—शरीर की जो चंचलताएं होती हैं, वे केवल शरीर से ही नहीं होतीं। हमारा हाथ आगे बढ़ता है तो सुखद स्पर्श की कल्पना होती है। आंखें दौड़ती हैं तो उसके पीछे भी मन की कोई कल्पना होती है। शरीर की जो भी क्रियाएं होती हैं, मन की ओर नहीं जातीं। मन शरीर की ओर जाता है। मेरा ऐसा ख़याल है कि शरीर की अपेक्षा हम मन को शान्त कर लेते हैं, तो ये सारी क्रियाएं स्वतः ही शान्त हो जाती हैं। कृपया इसे स्पष्ट करेंगे।

उत्तर—मन पर ध्यान देने वाले लोगों की शिकायत हमेशा यह रहती है कि मन स्थिर नहीं रहता। और यह प्रश्न हज़ारों-हज़ारों लोगों के द्वारा पूछा जाता है। वे प्रयत्न करते हैं ध्यान करने का, पर चंचलता नहीं मिटती। इसका कारण यही है कि मन को तब तक शून्य नहीं किया जा सकता, जब तक हम संस्कार-कोष को नहीं समझ लेते, संस्कार-कोष पर होने वाली उत्तेजना को नहीं समझ लेते और संस्कार-जागरण की प्रक्रिया का शमन कैसे हो सकता है, इस बात को नहीं समझ लेते। चंचलता आ रही है शरीर के माध्यम से या आ रही है स्मृति के माध्यम से। स्मृति और शरीर, ये दोनों बहुत निकट आ जाते हैं। निकट इस अर्थ में कि स्मृति का कोष जो है वह हमारे मस्तिष्क में है। और यह केवल मनोविज्ञान की दृष्टि से नहीं, जैन आगमों की दृष्टि से भी हम विचार करें तो जितना हमारा वीर्य है, शक्ति है, वह सारी-की-सारी पौद्गलिक शक्ति के आधार पर होती है। यह मस्तिष्क हमारी मनःपर्याप्ति है। यह मन की ऊर्जा का केन्द्र है। प्राण की ऊर्जा उत्पन्न होती है, मस्तिष्क से और स्मृति के प्रकोष्ठों से। स्मृति के जो प्रकोष्ठ हैं, उनको केन्द्रित किया जाता है जैसा कि मनोवैज्ञानिकों ने प्रयोग किया। एक कुत्ते के ज्ञानवाहक तंतु को काट दिया। आंख खुली, वह देखता है, पर उसे पता नहीं कि क्या देखता है। समझ नहीं पाता। केवल देखता है। जैसे आजकल क्रोध के तंतु को काट देते हैं तो फिर क्रोध नहीं आता। क्रोध की सामग्री सामने है, फिर भी गुस्सा नहीं आयेगा। शरीर और मन दोनों की मिली-जुली क्रिया है पर्याप्ति और प्राण। पर्याप्ति के बिना प्राण का कार्य नहीं होता। पर्याप्ति के बिना प्राण का प्रयोग भी नहीं हो सकता। उपकरण इन्द्रिय ख़राब है, निर्वृत्ति इन्द्रिय खराब है। हम देख नहीं सकते। हम सुन नहीं सकते। हम कुछ भी नहीं कर सकते। यह तब होता है जब निर्वृत्ति, उपकरण और लब्धि का उपयोग होता है। उपयोग चौथी कक्षा में आता है। उपयोग है मन की चंचलता। सारा उपयोग नहीं, किन्तु

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इन्द्रियों का उपयोग। मन की चंचलता है उपयोग। किन्तु उपयोग होता कब है? निर्वृत्ति है, उपकरण है, किन्तु कान का पर्दा फट गया, फिर चाहे ढोल बज रहा हो, चाहे सायरन बज रहा हो, कुछ भी हो रहा हो, सुनायी नहीं देगा। सुनायी नहीं देगा तो मन क्षुब्ध नहीं होगा।

मन की चंचलता के तीन मुख्य संवेदन हैं :

१. त्वचा का संवेदन।

२. श्रोत्र का संवेदन।

३. चक्षु का संवेदन।

ये तीनों हमें प्रभावित करते हैं।

त्वचा का संवेदन सबसे बड़ा संवेदन है जो बहुत प्रभावित करता है हमारे मन को। दूसरा श्रोत्र का और तीसरा दर्शन का। त्वचा के संवेदन को आप शून्य कर दीजिये, श्रोत्र के संवेदन को शून्य कर दीजिये और चक्षु के संवेदन को शून्य कर दीजिये। फिर कितने ही रूप सामने आ जायें, कितने ही शब्द सामने आ जायें और कितने ही स्पर्श आ जायें, हमारे मन पर कोई असर नहीं होगा। हमारे मन में कोई क्षोभ पैदा नहीं होगा। पानी में एक ढेला फेंकते हैं और हजारों ऊर्मियां उठ जाती हैं। पानी में ऊर्मियां उठती हैं पर वे ढेले के निमित्त से उठती हैं। हमारे मन में भी जो ये ऊर्मियां उठती हैं—राग की ऊर्मियां, द्वेष की ऊर्मियां, इच्छा की ऊर्मियां, वासना की ऊर्मियां—ये सारी ऊर्मियां उठती हैं उत्तेजना को पाकर। प्रज्ञापना सूत्र में बहुत विस्तार से यह समझाया गया है कि निमित्तों के बिना अच्छी से अच्छी शक्तियां निकम्मी चली जाती हैं और बुरी शक्तियां भी निकम्मी चली जाती हैं। हम इस बात को गौण नहीं कर सकते कि जो निमित्त हैं, वे हमारे उपादान को अभिव्यक्ति देते हैं। बिना निमित्त के अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। विद्युत् की धारा प्रवाहित हो रही है किन्तु बल्ब नहीं है, आप प्रकाश नहीं कर सकते। प्रकाश तभी होगा जब उसे अभिव्यक्ति देने वाला बल्ब होगा। निमित्त उपादान को हमारे सामने रखता है।

हम इस बात को मान लें, हमारे सामने कोई कठिनाई नहीं, कि मन को शांत करने से यह सब अपने आप ठीक हो जाता है। और मैं यह एकान्त की भाषा में नहीं कह रहा हूं। कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो सीधा मन पर प्रहार करते हैं। किन्तु यह आपवादिक बात है। यह उन लोगों के लिए होती है, जिन्होंने काफी शक्ति का संचय पहले कर लिया है। इतनी शक्ति अर्जित है कि सीधा आक्रमण किया और विजय पा ली। किन्तु यह सामान्य प्रक्रिया नहीं है। सामान्य बात नहीं है। सामान्य बात है कि निमित्तों पर ध्यान केन्द्रित कर, निमित्त की समस्याओं को सुलझाकर फिर उपादान को वश में लाना।

हम कर्मशास्त्र को अगर गहराई से पढ़ें तो हमें आश्चर्य होगा। उदय में आने

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वाले कर्म को हम समाप्त कर देते हैं। अगर स्थितियों में, निमित्तों में तथा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव में परिवर्तन किया तो उदय में आने वाले को विफल बना देते हैं, संक्रमण कर देते हैं। उदीरणा करके अन्यथा कर देते हैं। कर्म बंधा था पाप का। अशुभ पुद्‌गलों का संचय किया था। ऐसा तीव्र प्रयत्न किया शुभ भावों का, कि सारे के सारे पुद्‌गलों को पुण्य में बदल दिया। संक्रमण कर दिया। हमने निमित्तों को बहुत गौणता दी है किन्तु उतनी गौणता नहीं है। निमित्तों का भी बहुत बड़ा स्थान है। हम 'अश्रुत्वा-केवली' जैसी बात को छोड़ दें। वह भी घटित होता है, जिस व्यक्ति ने धर्म को नहीं सुना, कोई निमित्त का आश्रय नहीं लिया, केवली बन जाता है. उत्कृष्ट साधक बन जाता है। किन्तु अश्रुत्वा-केवली की बात प्रक्रिया नहीं हो सकती। प्रक्रिया होगी 'श्रुत्वा-केवली' की—जो सुनकर के केवली बनता है। अगर हम व्यवस्था पर विचार करें तो हमें इस बात पर बहुत अधिक महत्त्व देना होगा कि शरीर और श्वास की प्रक्रिया से हम चलें। यह प्रक्रिया सचमुच एक वैज्ञानिक प्रक्रिया होगी। प्रक्रिया की दृष्टि से जहां हमारा विचार है, वहां हमें प्रक्रिया के सन्दर्भ में शरीर और श्वास, इन दोनों को गहराई से समझकर फिर मन का स्पर्श करना चाहिए। वह हमारी उचित प्रक्रिया होगी।

प्रश्न—संस्कार के केन्द्र को किस प्रकार संयत किया जाये ?

उत्तर—संस्कार संचित रहते हैं। यह संचय-शक्ति, निमित्त के बिना जागृत नहीं होती। अमुक व्यक्ति को मैंने देखा। पांच वर्ष हो गये, मुझे याद नहीं आया। किन्तु सामने ऐसी पगड़ीवाला आदमी आता देखा और तत्काल दूर से ही सोच लिया कि यह अमुक व्यक्ति है। यह अमुक की स्मृति क्यों हुई ? पगड़ी के निमित्त से हुई। यह व्यक्ति की आकृति के निमित्तसे हुई। संस्कार जागृत होता है विषय की उत्तेजना पाकर। प्रतिसंलीनता का और मतलब क्या है ? इंद्रियों की प्रतिसंलीनता (प्रत्याहार) करो अर्थात् संस्कार को विस्मृत करो। संस्कार की विस्मृति की एक साधना है—प्रतिसंलीनता। अब रहा संस्कार के जागरण का आंतरिक निमित्त। वह है शरीर का क्षोभ, प्राण का क्षोभ और वायु का क्षोभ। वायु पर विजय पाना बहुत जरूरी है। प्राण पर विजय पाना बहुत जरूरी है।

आप स्वयं अनुभव करते होंगे कि जिस दिन आपके शरीर में वायु बहुत ज्यादा हो जाती है, आपको बेचैनी-सी अनुभव होती है। और ऐसा लगता है कि इतने विचार ऊपर से आते जा रहे हैं कि मानो विचारों का सागर ही उमड़ पड़ा है। और अधिक वायु हो जाती है तो लोग बहकने लग जाते हैं, बातचीत करने लग जाते हैं। वायु का प्रकोप होने पर स्वप्न भी बहुत आने लग जाते हैं। वायु की तीव्रता, हमारे जो संस्कार-केन्द्र हैं, स्मृति के कोष्ठ हैं, उन पर आघात पहुंचाती है। इसीलिए योग के आचार्यों ने इस पर काफी चिंतन करके एक मार्ग निकाला कि प्राण को मध्य में ले जाओ—इड़ा और पिंगला इन दोनों से हटाकर सुषुम्ना

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

में ले जाओ। जब प्राण सुषुम्ना में चला जायेगा, तो वायु का जो आघात मस्तिष्क पर लगता है वह समाप्त हो जायेगा। स्मृति-कोष्ठों पर जो आघात लगता है वह समाप्त हो जायेगा। कोई भी व्यक्ति प्राण को मध्यवर्ती किए बिना, सुषुम्ना में ले जाए बिना, स्मृति-चक्र से मुक्ति पा सके, यह बहुत कठिन बात है।

भगवान् महावीर ने कहा—मज्झत्थो निज्जरापेही। मध्यस्थ का अर्थ हम करते हैं—राग नहीं, द्वेष नहीं, समता में रहने वाला। अर्थ तो ठीक है पर सूत्रकार का क्या इतना ही आशय था ? क्योंकि जो अर्थ चल रहे हैं वे इतने ही नहीं हैं।

मैं एक पुस्तक पढ़ रहा था। उसमें एक शब्द आया—महावीथी। तत्काल आचारांग का एक वाक्य ध्यान में आया—पणया वीरा महावीहीं—अर्थात् वीर मनुष्य वह है जो महावीथी पर उतर पड़े। ऐसे कोई अर्थ समझ में नहीं आया। महावीथी पर चल पड़े यानी राजमार्ग पर चल पड़े। राजमार्ग हो तो उस पर चले, संकरी पगडंडी आ जाये तो उस पर चले। यह स्पष्ट दीख रहा है कि अभिधा का अर्थ तो यहां नहीं है। महावीथी का एक सांकेतिक अर्थ रहा है। इसका अर्थ यह क्यों नहीं हो सकता कि साधना की जो महावीथी—कुंडलिनी है, उस पर जो चल पड़ा है, वह सचमुच वीर आदमी है। महावीथी अर्थात् कुंडलिनी।

आप किसी भी तंत्र के ग्रन्थ को उठाकर देखिये, आपको यह मिलेगा कि जिस व्यक्ति के प्राण ने सुषुम्ना में प्रवेश नहीं किया, वह संकल्पों से मुक्ति नहीं पा सकता।

'मज्झत्थो निज्जरापेही'—वह मध्यस्थ होता है, क्योंकि निर्जरापेक्षी है। बहुत निर्जरा करता है। निर्जरा करने की बहुत सुन्दर प्रक्रिया है—प्राण का सुषुम्ना में प्रवेश। आन्तरिक स्मृति को जो उत्तेजनाएं होती हैं, उनके उपशमन का मार्ग है—प्राण का मध्यवर्ती होना। न इधर, न उधर। मध्य में आ जाना। संतुलन स्थापित करना। स्मृति पर होने वाले प्राण के आघातों को कम करने के लिए हम प्राण को मध्यवर्ती बनायें। मध्यस्थ बनें। संतुलित बनें।

एक बात और है। समता का भाव जैसे ही आया, वैसे ही आप चाहें या न चाहें, जानें या न जानें, प्राण मध्यवर्ती हो जायेगा। यह समता और प्राणों का मध्यवर्ती होना, दोनों ही जाने-अनजाने सध जाते हैं। अगर आप प्राण को मध्य में ले जायेंगे तो आपके मन में समता का प्रवाह बहने लगेगा। और समता में आप चले गये तो आपका प्राण मध्यवर्ती हो जायेगा। यह हमारी आंतरिक प्रक्रिया है। इन दोनों से स्मृतियों का जो ताना-बाना है, वह स्वयं शान्त हो जायेगा।

प्रश्न—स्मृति, विचार और कल्पना हमारे मन को चंचल करते हैं। इन हेतुओं का निरसन करने के लिए दो क्रियाएं हमारे सामने हैं—एक योग की और दूसरी मनोविज्ञान की। दोनों में किसको मान्यता दी जाये ?

उत्तर—मनोवैज्ञानिक बड़े विचित्र ढंग से आदतों का निवारण करते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हमें दीखता कुछ है और कारण नीचे कुछ और होता है। एक आदमी को आंखों से कम दिखायी देने लगा। उसने डॉक्टरी चिकित्सा करवायी, कोई लाभ नहीं हुआ। डॉक्टर देखता है, आंख बिलकुल ठीक है। उसमें कोई खराबी नहीं है। परन्तु दिखायी साफ़ नहीं देता है। रोगी गया मनोवैज्ञानिक के पास। मनोवैज्ञानिक तो यह नहीं देखता कि आंख ठीक है या खराब। वह पूछता है कि तुम्हारी स्मृतियां क्या हैं? तुमने क्या-क्या किया है? उसने बताते-बताते कहा, एक बार भय का एक ऐसा धक्का लगा कि आंख जिस रूप में थी वैसे ही रह गयी। मनोवैज्ञानिक ने आंख का कोई इलाज नहीं किया। उसने भय की ग्रंथि को खोलने का प्रयास किया। भय की ग्रंथि खुलते ही आंख ठीक हो गयी। उसने उसे अभय के वातावरण में रखा। प्रेम के वातावरण में रखा। मैत्रीपूर्ण बातें करता रहा। भय की बात धीरे-धीरे निकल गयी और वह अच्छी तरह देखने लग गया। ऐसे ही हजारों चिकित्साएं हो रही हैं और आश्चर्यकारी ढंग से हो रही हैं।

जो भी बात चलती है, हम उसे एकांगी दृष्टि से न देखें। एकांगी दृष्टि से लेना तो हमारा मार्ग ही नहीं है। हम तो सबका समन्वय करके चलते हैं। हमारा सम्यक् दर्शन क्या है? हमारा व्रत संवर क्या है? व्रत संवर और सम्यक् दर्शन—ये दोनों ग्रंथि-विमोचन की क्रियाएं हैं।

सम्यक् दर्शन हो गया, ग्रंथिपात का मार्ग बंद हो जाता है। हम प्रतिक्रमण करते हैं। प्रतिक्रमण क्या है? प्रतिक्रमण को हमने एक पारम्परिक रूप दे दिया। अन्यथा प्रतिक्रमण आज के मनोविज्ञान के ग्रंथिविमोचन की प्रक्रिया से अधिक सुंदर मार्ग है। आप किसी मनोवैज्ञानिक के पास जाइये। वह सबसे पहले आपको सुला देगा। और वह आदेश देगा कि शिथिल होकर सो जाइये, तनाव को मिटा दीजिये। यानी पहले कायोत्सर्ग करायेगा।

प्रतिक्रमण में हम पहले कायोत्सर्ग करते हैं। ठीक मनोवैज्ञानिक भी वही काम करता है। सुला देने के बाद वह निर्देश देगा कि बतलाओ, तुमने आज क्या किया, कल क्या किया, परसों क्या किया, एक महीने पहले क्या किया, वर्षों पहले क्या किया? वह बार-बार यह निर्देश देगा कि तुम मेरे सामने कोई बात छिपाओ मत। जैसे भोला बच्चा अपनी मां के सामने बात कहे, वैसे ही कहते चले जाओ।

प्रतिक्रमण क्या है? पुरानी बातों को याद करो। दशवैकालिक में आता है—'आलोएज्ज जहक्कमं'—क्रम से आलोचना करो। अगर व्यतिक्रम हो गया तो फिर वापस चलो। मनोवैज्ञानिक भी ऐसा ही कहता है कि क्रम से सारी बातें कहते चले जाओ।

क्या प्रतिक्रमण हमारी साधना नहीं है? बहुत बड़ी साधना है। हरिभद्र सूरी ने बहुत सुंदर बात कही थी—हमारा प्रतिक्रमण, हमारी ईर्या समिति, हमारी भाषा-समिति, हमारा प्रतिलेखन, हमारा आहार और उत्सर्ग सारा का सारा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

योग है। हमारा चलना भी योग है। हमारा प्रतिक्रमण भी योग है। हमने साधना को एक अलग अर्थ में बांध दिया। भगवान् महावीर ने कहा—चक्षु का उन्मेष-निमेष भी उपयोगपूर्वक करो। और जो व्यक्ति चक्षु का उन्मेष-निमेष उपयोगपूर्वक करता है, उसके कर्म की धारा आती है। पहले समय आती है, दूसरे समय वह उसे भोगता है और तीसरे समय समाप्त कर देता है। इतना सरल होता है। यह भी एक प्रक्रिया है।

शरीर को साधना, श्वास को साधना और उसके द्वारा मन को शांत करना वह भी एक प्रक्रिया है। दोनों साधना की प्रक्रियाएं हैं। अब चुनाव हमें करना है कि आज किसकी जरूरत है। रोटी की भी जरूरत है, दूध की भी जरूरत है और साग की भी जरूरत है। यह निर्णय तो स्वयं व्यक्ति को करना है कि आज क्या खाना है? पेट गर्म हो गया है और गड़बड़ा रहा है तो दूध की जरूरत नहीं। दूध की जरूरत तब है, जब पेट ठीक है, स्वस्थ है। पेट ठीक नहीं है, दस्तें लग रही हैं तो दूध और अधिक नुकसान कर देगा। यह तो किस समय किस क्रिया का उपयोग है, किस पद्धति का हमारे लिए कब उपयोग है, यह पद्धतियों का चुनाव करना एक प्रश्न है। उपयोगिता के कोण से दोनों पद्धतियां हमारे लिए उपयोगी हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

६

स्मृति का वर्गीकरण

- स्मृति के चार प्रकार—
  - संबद्ध स्मृति
  - असंबद्ध स्मृति
  - निरुद्ध स्मृति
  - स्मृति-शून्यता
- स्मृति को उत्तेजित करने के तीन साधन—
  - मन
  - शरीर
  - श्वास

•

धार्मिक व्यक्ति को दोहरा जीवन जीना पड़ता है। एक भौतिक जीवन और एक उसके भीतर छिपा हुआ चेतना का जीवन या आध्यात्मिक जीवन। जो भौतिक व्यक्ति है, वह केवल दृश्य जीवन जीता है, शारीरिक जीवन जीता है या भौतिक जीवन जीता है। उसे बहुत अधिक गहराई में जाने की आवश्यकता नहीं होती। किंतु आध्यात्मिक व्यक्ति उस भौतिक आवरण को चीरकर और चेतना की गहराई तक पहुंचने का प्रयत्न करता है। इसलिए उसे बहुत सूक्ष्म और गहरे तल में उतरना होता है। हमारी चेतना अनावृत होती है और अनावृत होती चली जाती है। आवरण काफी हटता जाता है किंतु चेतना के जगत् में तो वह ठीक है कि चेतना अनावृत हो गई किंतु चेतना की अभिव्यक्ति होती है शरीर के माध्यम से। कोई भी चेतना शरीर के माध्यम के विना अभिव्यक्त नहीं होती। अनावृत

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चेतना और अभिव्यक्त चेतना—ये चेतना के दो स्तर बन जाते हैं। अनावृत चेतना, चेतना का अस्तित्व है और वह अपने स्वरूप में रहती है। किंतु उसकी जितनी अभिव्यक्ति है, वह सारी-की-सारी शरीर के माध्यम से होती है। चाहे इंद्रियों की अभिव्यक्ति, चाहे मन की अभिव्यक्ति। इंद्रिय चेतना हमारे गोलकों के माध्यम से अभिव्यक्त होती है।

चक्षु एक गोलक है, उससे देखने की चेतना अभिव्यक्त होती है। श्रोत्र का गोलक है, सुनने की चेतना अभिव्यक्त होती है। तो सारी अभिव्यक्ति इंद्रियों के माध्यम से यानी शरीर के माध्यम से होती है। मन अपना काम करता है। मन के स्तर की चेतना अभिव्यक्त होती है मस्तिष्क के माध्यम से। या मेरुदंड के माध्यम से। बृहद् मस्तिष्क, लघु मस्तिष्क और मेरुदंड के माध्यम से मानसिक चेतना अभिव्यक्त होती है। चाहे ऐंद्रिक स्तर की चेतना हो, चाहे मानसिक स्तर की चेतना, दोनों अभिव्यक्त होती हैं शरीर के माध्यम से। इसीलिए हमें शरीर के रहस्य का समझना बहुत जरूरी है। मैं समझता हूं कि जो व्यक्ति शरीर के रहस्यों को नहीं समझता, वह अपनी चेतना की अभिव्यक्ति ठीक नहीं कर पाता। और उस अनावृत चेतना तक पहुंचने में भी उसे कठिनाई होती है।

एक मंत्री था। राजा क्रुद्ध हो गया। मंत्री को ऊंचे बुर्ज पर कैद कर दिया। पत्नी उसकी पतिव्रता थी। वह रोज पति का दर्शन करने के लिए आती। आती और देखकर चली जाती। कुछ दिन बीते, पत्नी ने पूछा—आप मुक्त कैसे हो सकते हैं, कोई उपाय बताइये ? आप आखिर मंत्री हैं, बुद्धिमान हैं, कोई उपाय सुझाइये। मंत्री ने कहा—एक उपाय हो सकता है। कल तुम कुछ चीजें ले आओ। पत्नी ने कहा—क्या चीजें लाऊं ? मंत्री ने कहा—एक लाना भंवरा, थोड़ा-सा शहद और एक रेशमी धागा। एक सूती धागा तथा एक मोटा धागा और एक लाना रस्सा। दूसरे दिन वह आयी और सारी चीजें अपने साथ लायी। मंत्री बुर्ज पर बैठा है। वह नीचे आकर खड़ी हो गई। जैसे बताया था उस विधि से उसने किया। भंवरे के रेशमी धागा बांध दिया। रेशमी धागे से पतला धागा बांध दिया, पतले धागे से मोटा धागा बांध दिया और फिर उसके साथ रस्सा बांध दिया। फिर थोड़ा-सा शहद भंवरे के माथे पर लगाया और छोड़ दिया। भंवरे को शहद की गंध आती है। वह ऊपर की ओर जाता है। सोचता है कहीं ऊपर से गंध आ रही है। वह ऊपर की ओर उड़ा। मंत्री बुर्ज पर बैठा था। उसने भंवरे को पकड़ लिया।

मंत्री ने रेशमी धागे को खींचा तो छोटा धागा आया। उसे खींचा तो पतला धागा आया। उसे खींचा तो मोटा धागा और उसे खींचा तो मोटा रस्सा हाथ में आ गया। रस्से को ठीक से बांधा और उसके सहारे नीचे उतरकर भाग गया।

यह एक बौद्धिक-सी बात लगती है पर बहुत ही महत्त्वपूर्ण रूपक है। जो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

व्यक्ति रेशमी धागे को पकड़ लेता है, उसके हाथ में पतला धागा आ जाता है। जिसके हाथ में पतला धागा आ जाता है, उसके हाथ में मोटा धागा आ जाता है। जिसके हाथ में मोटा धागा आ जाता है, उसके हाथ में रस्सा आ जाता है। और जिसके हाथ में रस्सा आ जाता है, वह उतर जाता है, मुक्त हो जाता है। गहराई में चला जाता है।

यह श्वास रेशमी धागा है। यह हाथ में आता है तो पतला धागा अर्थात् नाड़ियां हाथ में आ जाती हैं। जब नाड़ियां पकड़ में आ जाती हैं तो विचार का धागा भी पकड़ में आ जाता है। और जब विचार का धागा पकड़ में आ जाता है तो प्राण का रस्सा भी हमारी पकड़ में आ जाता है और उसके सहारे हम मुक्त हो जाते हैं, उतर जाते हैं चेतना की गहराई में। चेतना की गहराई में चले जाते हैं तो बंधनों से मुक्त हो जाते हैं।

श्वास, नाड़ियां, विचार और प्राण को समझने की आवश्यकता है। प्राण की गहराई में गये तो चेतना की गहराई में जाने का द्वार हमारे लिए खुल जाता है, उन्मुक्त हो जाता है। यह बहुत ही मर्म और रहस्य की बात है। श्वास को समझे बिना हम नाड़ियों को नहीं समझ सकते। नाड़ियों को समझे बिना हम विचार को नहीं समझ सकते। विचार को समझे बिना हम प्राण को नहीं समझ सकते। प्राण को समझे बिना हम चेतना की गहराई में नहीं जा सकते और जहां हमें पहुंचना चाहिए, वहां नहीं पहुंच सकते।

हमें पहुंचना है चेतना की गहराई में। किंतु यह पहुंचने का जो रास्ता है, पहुंचने का जो क्रम है, उसे छोड़कर हम पहुंचने का प्रयत्न करते हैं, तो शायद हम उलझ जाते हैं, बीच में लटक जाते हैं और ऐसा महसूस होता है कि हमने इतना प्रयत्न किया किंतु जहां पहुंचना था, वहां पहुंच नहीं पाये। इसीलिए श्वास को समझना जरूरी है। इसके संबंध में पहले भी अपनी चर्चा हो चुकी है और काफी बातें प्रस्तुत भी की जा चुकी हैं। पिछली गोष्ठी में नाड़ियों के संबंध में भी चर्चा हुई थी कि हमारे जो तंतु हैं, संपूर्ण नाड़ी-संस्थान है, उसे हम नहीं समझते हैं तो शायद विचारों को समझने में हमें कठिनाई होगी। उसे समझना बहुत जरूरी है और उसे समझ लेते हैं तो विचारों को समझने में कठिनाई विशेष नहीं होती है। विचार से मतलब यहां चिंता या स्मृति से है। हमारी सारी कठिनाई क्या है? यह स्मृति की कठिनाई है। स्मृति का छेद ऐसा है कि उसमें से सब कुछ झरता रहता है। इसलिए हमें आज गहराई से और विस्तार से स्मृति को समझना है।

हमारे जीवन का बहुत सारा व्यवहार स्मृति के सहारे चलता है, स्मृति के आधार पर चलता है। स्मृति के चार प्रकार हैं :

१. संबद्ध स्मृति

२. असंबद्ध स्मृति

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

३. निरुद्ध स्मृति
४. स्मृति-शून्यता।

पहली है—संवद्ध स्मृति, सामान्य स्मृति। जो बात हम याद करते हैं, वह बात हमें याद आती चली जाती है। मनुष्य में सामान्य स्मृति होती है और उसी के आधार पर ही जीवन का काम चलता है। अगर स्मृति नहीं होती तो आप लोग यहां एकत्र नहीं होते। स्मृति है कि आज एक बजे गोष्ठी में पहुंचना है। यह धारणा थी, स्मृति हुई और सब लोग यहां एकत्रित हो गये। स्मृति होती है, तब हम खाते हैं। स्मृति होती है, तब हम बातचीत करते हैं। स्मृति होती है, तब हम व्यवहार करते हैं। स्मृति के बिना हमारे जीवन का कोई भी काम नहीं चलता। यह है हमारी सामान्य स्मृति जो कि हमारे सारे व्यवहार का संचालन करती है। किंतु इस स्मृति में भी एक कठिनाई पैदा हो जाती है। वह है असंबद्ध स्मृति। यानी स्मृति अस्त-व्यस्त हो जाती है। संबंधहीन स्मृति होने लग जाती है। एक बात याद करनी शुरू की और बीच में इतनी बातें याद आने लग जाती हैं कि स्मृति अस्त-व्यस्त होने लग जाती है। वह होती है असंबद्ध स्मृति। असंबद्ध स्मृति में कोई संबंध नहीं रहता। संबंध टूट जाता है। तो एक होती है संबद्ध स्मृति और दूसरी होती है असंबद्ध स्मृति, जिसे विक्षेप या पागलपन भी कहा जाता है। असंबद्ध स्मृति के कई रूप होते हैं। जैसे स्मृति का आवर्तन। एक बात याद आ गयी। सर्दी तो चली गयी, दोपहर का समय आ गया, फिर भी सर्दी खूब थी, यह विचार मन में चक्कर काटता रहा। वह स्मृति छोड़ने से भी छूटती नहीं है। स्मृति का आवर्तन होता रहता है। यह असंबद्ध स्मृति के कारण ऐसा होता है।

एक होता है स्मृति का विपर्यय। कहा कुछ और याद कुछ रहा। कहा था कि तुम्हें भीनासर जाना है किंतु चला और चलते ही भूल गया। बीकानेर की ओर चला गया। ऐसा होता है बहुत बार। कहा—चार बजे बातचीत करने के लिए आना है। पांच बजे पहुंचा और जब पूछा कि इतनी देरी से क्यों आये तो उत्तर मिला कि आपने मुझे पांच बजे के लिए ही कहा था। यह स्मृति का विपर्यय हो जाता है। देश का विपर्यय, काल का विपर्यय, वस्तु का विपर्यय हो जाता है।

आचार्य ने शिष्य को बताया—तुम्हें साधना के मार्ग में जाना है। और मैं तुम्हें एक सूत्र देता हूं। जीव देह से भिन्न है—यह सूत्र दे दिया। कुछ दूर रटता रहा, फिर भूल गया। आगे गया। देखता है कि एक खलिहान में तुष अलग किये जा रहे हैं। मासे अलग किये जा रहे हैं। उसने देखा। याद आ गया। ओह! आचार्यजी ने यही कहा था—तुषणां मासों भिन्नः। तुष से मास भिन्न है। कितना विपर्यय हो गया। कहा था कुछ, याद रहा कुछ। वह उस बात को भूल गया कि 'जीवो देहाद् भिन्नः।' इस प्रकार स्मृति का विपर्यय भी होता रहता है।

स्मृति का आवर्तन होता है। स्मृति का विपर्यय होता है। और एक होती है

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विस्मृति। यानी बिलकुल ही भूल जाना। अभी कहा और दो मिनट के बाद भूल जाते हैं। भुलक्कड़ स्वभाव हो जाता है। ये सारे असंबद्ध स्मृति के स्रोत हैं या उसके पर्याय हैं। असंबद्धता—संबंधहीन स्मृति होना, स्मृति का विपर्यय होना, स्मृति का आवर्तन होना और विस्मृति होना—यह सारा एक वर्ग में आ जाता है। ऐसा क्यों होता है ? मनोविज्ञान ने इसका कारण माना है, संस्कार-प्रसक्ति। यानी असंबद्ध स्मृति क्यों होती है ! एक स्मृति बार-बार क्यों आती है ? यहां संस्कार की प्रसक्ति हो जाती है, संस्कार इतना गाढ़ जम जाता है कि फिर छुटाए नहीं छूटता है।

स्मृति अपने आप में कोई चीज नहीं है। वह तो केवल अभिव्यक्ति है। मूल चीज है धारणा, संस्कारकोष। वह है मूल। संस्कारकोष अगर ठीक होता है तो स्मृति ठीक हो जाती है। संस्कारकोष में अगर गड़बड़ियां होती हैं तो स्मृति में गड़बड़ी हो जाती है। इसीलिए भारतीय वैद्यों ने कुछ औषधियों का आविष्कार किया। ब्राह्मी, सारस्वत चूर्ण, मालकांगनी आदि-आदि औषधियों का आविष्कार किया। यदि धारणाशक्ति दुर्बल हो गयी तो इन औषधियों का उपयोग करो, धारणाशक्ति पुष्ट हो जायेगी। स्मृति में गड़बड़ी नहीं होगी। मालकांगनी का, ब्राह्मी का सेवन करने वाले लोग स्मृति का, धारणाशक्ति का बहुत विकास कर लेते हैं।

पंडित रघुनन्दनजी बहुत बार कहा करते थे कि जब मैं विद्यार्थी था, ब्राह्मी के पत्ते बहुत खाता था। उनकी स्मृति भी बहुत विलक्षण हो गयी थी। धारणाशक्ति बहुत प्रबल हो गयी थी कि सैंकड़ों-सैंकड़ों श्लोक एक दिन में याद कर लेते थे। आश्चर्य होगा सुनकर कि चरक और सुश्रुत जैसे ग्रंथ लगभग कंठस्थ जैसे हो गये थे। काफी श्लोक वे याद कर लिया करते थे। धारणाशक्ति का विकास इन द्रव्यों से होता है।

प्रज्ञापना सूत्र की वृत्ति में यह बतलाया गया है कि ब्राह्मी आदि के सेवन से मतिज्ञान की शक्ति पुष्ट हो जाती है। मतिज्ञान की शक्ति बढ़ जाती है।

होमियोपैथी में इस पर बहुत विचार किया गया है। और वहां तो एक-एक चीज के लिए औषधि का विधान किया गया है। आवेश के कारण स्मृति क्षीण हो तो अमुक औषधि ली जा सकती है। एक-एक औषधि के पीछे उसका लक्षण तथा सारा वर्णन मिलेगा।

योग की पद्धति ने आसनों का विधान किया। स्मृति दुर्बल है, धारणाशक्ति दुर्बल है तो आप शीर्षासन कीजिए, सर्वांगासन कीजिये, जालन्धर बंध कीजिये। रंग चिकित्सा और रंगों की पद्धति में रंगों का विधान किया। स्मृति की दुर्बलता है, धारणाशक्ति कमजोर है तो आप अपने मस्तिष्क में पीले रंग का दस मिनट तक चिंतन कीजिये, दस मिनट तक धूसर वर्ण का चिंतन कीजिये, आपकी धारणा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

की शक्ति तेज हो जाएगी, प्रबल हो जायेगी। ओंकार का जप कीजिये तो मकार की ध्वनि से जो आहनन होगा मस्तिष्क में, आपकी स्मृति-शक्ति तेज हो जाएगी। ये सारे-के-सारे धारणाशक्ति को पुष्ट करने के लिए, शक्तिशाली बनाने के लिए, वैद्यों ने, डॉक्टरों ने, यौगिक आचार्यों ने, भिन्न-भिन्न प्रकार से, अपने-अपने सिद्धान्त प्रस्तुत किये। उनका उपयोग भी है तथा आज भी किया जाता है।

यहां तक साधना का कोई बड़ा मूल्य नहीं है। साधना का मूल्य अब आगे शुरू होता है। जब हमारी स्मृति ठीक होती है, स्मृति अपना काम ठीक करती है तो हम असंबद्ध स्मृति से हटकर, संबद्ध स्मृति की भूमिका में आ जाते हैं। स्मृति का जो विक्षेप है, वह हमारा कम हो जाता है। अन्यथा होता क्या है; बैठते हैं भोजन करने के लिए और दुनिया भर की बातें याद आने लग जाती हैं। वह हमारा स्मृति का विक्षेप है, असंबद्ध स्मृति है। पागल आदमी कौन होता है? पागल वह होता है, जिसकी धारणा-प्रसक्ति होती है। एक बात को पकड़ लेता है, उसकी रट छोड़ता नहीं है। वह धारणा का वेग इतना बलवान हो जाता है कि आदमी पागल बन जाता है। एक बात की रट लगाये रहता है। वह बात भुलाए नहीं भूली जाती। पागल हो जाता है। यह है स्मृति का आवेग, धारणा का प्रसारक और धारणा की प्रसक्ति। तो असंबद्ध स्मृति से संबद्ध स्मृति में आना, एक भूमिका होती है।

अब संबद्ध स्मृति में हमें कहां जाना है साधना की दृष्टि से? वहां हमारी दो भूमिकाएं और होती हैं। एक है निरुद्ध स्मृति की भूमिका, दूसरी है स्मृति-शून्यता की भूमिका। निरुद्ध स्मृति, यानी स्मृति को एक दिशा में प्रवाहित करना। निरुद्ध करना। निरुद्ध का मतलब रोकना नहीं है। निरुद्ध का मतलब है एक चीज में लगा देना, व्याप्त कर देना।

ध्यान क्या है? एकाग्रे चिन्तानिरोधो ध्यानम्—एक आलम्बन पर चिंता—स्मृति को व्याप्त कर देना ध्यान है। एक व्यक्ति को एक मकान में बंद कर दिया गया, रोक दिया गया। इसका मतलब यह नहीं कि वह कमरे में घूम-फिर नहीं सकता, किंतु उस मकान से बाहर नहीं जा सकता। एक धारावाही जो स्मृति हो जाती है, एक दिशागामी जो स्मृति हो जाती है, वह होती है निरुद्ध स्मृति। यहां से साधना का क्रम प्रारंभ हो जाता है। स्मृति को धारावाही बनाना, एक दिशागामी बनाना, एक दिशा में उसका बहाव कर देना जिससे कि उसका भटकाव न हो, और उसके द्वारा उत्पन्न होने वाली शक्ति या ऊर्जा बिखरे नहीं, यह है निरुद्ध स्मृति।

निरुद्ध स्मृति दो प्रकार की होती है—विषयानुगत और एकबिंदु-अनुगत। यानी शब्दानुगत या रूपानुगत। एक विषय में एक स्मृति का बहाव कर दिया, वह विषयानुगत स्मृति होती है। यानी उस विषय से बाहर हमारी स्मृति नहीं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जाती है। और उससे भी उसका संक्षिप्त रूप यह होता है कि उस स्मृति को हमने किसी एक बिंदु पर टिका दिया। चाहे किसी शब्द पर, चाहे किसी रूप पर, चाहे परमाणु पर, चाहे किसी स्थूल वस्तु पर हमने टिका दिया। वह हमारी होती है एकबिंदु-अनुगत स्मृति।

अंतिम है स्मृति-शून्यता। बिलकुल स्मृति से शून्य हो जाना। स्मृति से शून्य होने का मतलब है, हम चेतना के स्तर पर चले गये। हमारी चेतना स्मृति से अतीत, विचार से अतीत और कल्पना से अतीत है।

वीतराग चेतना होने के बाद न कोई स्मृति होती है, न कोई कल्पना होती है और न कोई विचार होता है। यह स्मृति होती है इन्द्रिय के स्तर पर, मानस के स्तर पर, जब हमारी चेतना होती है। और स्मृति होती है, तब हमारे मन में विचार होता है। स्मृति के बिना कोई विचार हो नहीं सकता। जिसमें स्मृति नहीं है, उसमें विचार भी नहीं है। और जहां विचार और स्मृति नहीं है, वहां कल्पना भी नहीं हो सकती। विचार और कल्पना, इन दोनों का मूल आधार है स्मृति। यानी स्मृतिमूलक विचार और स्मृतिमूलक कल्पना। ये सारे स्मृति के कारण होते हैं। चंचलता का मतलब है स्मृति। मन में छेद होने का मतलब है स्मृति। स्मृति आती है, मन में छेद डाल जाती है। मन का पानी टिकता नहीं, झरने लग जाता है। मन चंचल हो जाता है, उद्विग्न हो जाता है। सारी बात का मूल है स्मृति।

बात अच्छी है कि स्मृति को हम निरुद्ध कर दें। स्मृति-शून्य बनें, पर कैसे बनें? मूल प्रश्न तो यह है कि कैसे बनें? और इस बनने में शरीर का, हमारे नाड़ी-संस्थान का और हमारे श्वास का योग क्या है?

हमारी स्मृति जागृत क्यों होती है? उत्तेजना के कारण स्मृति जागृत होती है। बाह्य उत्तेजना मिलती है, स्मृति जागृत होती है। हम जब-जब उत्तेजना को पकड़ते हैं, तब-तब स्मृति जागृत होती है। स्मृति जागृत होती है प्रकम्पन के द्वारा। अगर प्रकम्पन न हो तो स्मृति जागृत नहीं हो सकती। जो बात धारणा में है, वह धारणा में रह जायेगी, धारणा उद्‌बुद्ध नहीं होगी। और धारणा जागृत हुए बिना स्मृति जागृत नहीं होती। स्मृति के जागरण का मतलब है धारणा का, संस्कार का उद्‌बुद्ध होना, जागृत होना। वह होता है प्रकम्प के द्वारा।

हमें प्रकम्पन के सिद्धांत को समझ लेना बहुत जरूरी है। प्राचीन काल में चीन में एक स्कूल चलता था। उसका नाम था मिंगचायी। स्कूल से मतलब विद्यालय नहीं बल्कि एक सम्प्रदाय से है। उस सम्प्रदाय का काम था व्यक्तियों और वस्तुओं के नामों का निर्धारण करना। उनका यह मानना था कि व्यक्ति या वस्तु के जो नाम रखे जाते हैं, अगर नाम ठीक नहीं होता है तो उसके द्वारा होने वाला प्रकम्पन ठीक नहीं होता। उससे हमारी शक्ति का ह्रास हो जाता है। और

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उसके वाईब्रेशन (प्रकम्पन) ठीक होते हैं तो हमारी शक्ति का संवर्द्धन हो जाता है। उस स्कूल के जो अधिकारी व्यक्ति थे, उनके पास जाकर सब लोग नामों का चुनाव करते थे। वे नाम चुनकर देते। उसके पीछे प्रकम्पनों का सिद्धान्त था। यानी नाम के उच्चारण से किस प्रकार के प्रकम्पन उत्पन्न होते हैं।

यह बहुत बड़े महत्त्व का सिद्धान्त है। क्योंकि हमारे चित्त का निर्माण प्रकम्पनों के द्वारा होता है। जिस प्रकार के प्रकम्पन हम उत्पन्न कर सकते हैं, उसी प्रकार की क्रिया होने लग जाती है। आप लोगों ने पढ़ा है, कृष्ण-वासुदेव ने तेला (तीन उपवास) किया। तेला पूरा होते-होते देवता का आसन प्रकम्पित हुआ, देवता को पता चला कि कौन याद कर रहा है। वह कृष्ण-वासुदेव के पास आ गया।

अभयकुमार ने तेला किया। जप करते-करते देवता का आसन प्रकम्पित हुआ, देवता आ गया। कहां देवता असंख्य योजनों की दूरी पर और कहां अभयकुमार और कहां कृष्ण-वासुदेव? कैसे पता चला? यह प्रकम्पनों का सिद्धान्त काम कर रहा है। हमारे मन के द्वारा छोड़े हुए धारावाही प्रकम्पन, एक दिशा में जानेवाले प्रकम्पन इतने तीव्र हो जाते हैं कि वहां पहुंचकर उस व्यक्ति के आसन को भी प्रकम्पित कर देते हैं। और उस व्यक्ति को पता चल जाता है कि मुझे कोई याद कर रहा है।

आजकल भी विचार-सम्प्रेषण का सिद्धान्त चल रहा है। एक मकान में पांच कमरे हैं। पांच कमरे में पांच व्यक्ति बैठ जाते हैं, और परस्पर में संकेत होता है। एक व्यक्ति एक बात को सोच रहा है। और जो मध्यवर्ती कमरे में बैठा है उससे कहता है कि मैं तुम्हें विचारों का सम्प्रेषण कर रहा हूं। तुम ध्यान रखना। वह अपने विचार को बार-बार इतनी तीव्रता से और उसी एक धारा में, एक लय में, एक संगीत में, एक प्रवाह में प्रवाहित करता चला जाता है। सामने वाले व्यक्ति को ऐसा लगता है कि कोई बात कर रहा है। और कुछ बात ऐसी आ जाती है और वह लिख देता है कार्ड पर कि यह बात मुझे सूझी। और वहां वह लिख देता है। दोनों को आप मिलाइये। दोनों की एक समान वर्णमाला होगी। समान विचार और समान चिंतन होगा। यह विचार का संप्रेषण कैसे होता है? यह प्रकम्पन की प्रक्रिया के द्वारा होता है। जब हम एक दिशागामी प्रकम्पन उत्पन्न कर देते हैं, एक दिशा में अपने विचारों को प्रवाहित कर देते हैं, विचार संप्रेषित हो जाते हैं। जैसे ही हमारे विचार बाहर आते हैं वैसे ही उनका भेदन होता है। विचारों का भेदन अर्थात् मन के परमाणुओं का भेदन, वचन के परमाणुओं का भेदन और शरीर के परमाणुओं का भेदन होता है। और इतना तीव्रगामी भेदन होता है कि परमाणु उससे टूट जाते हैं। जैसे परमाणु का भेदन होने पर शक्ति और ऊर्जा पैदा होती हैं, उसी प्रकार मन का भेदन होने पर एक शक्ति पैदा होती

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है, और वह शक्ति इतनी सूक्ष्म और दूरगामी हो जाती है कि वह हमारे विचार के प्रकम्पनों को हमारे संकल्प के स्थान तक ले जाती है।

यह निरुद्ध स्मृति प्रकम्पन का सिद्धान्त है। हमारी स्मृति को एक दिशा में इतना प्रवाहित करना कि जिससे एक ऐसी धार बन जाये, कि वह धार इतनी सशक्त बने जहां हम उसे पहुंचाना चाहते हैं, वहां तक पहुंच जाये। इन्दौर में नेमीचन्दजी मोदी थे। वे विचार-संप्रेषण का बहुत प्रयोग करते थे। एक बार उन्होंने अपनी पत्नी से कहा कि जब सन्तान हो, उस समय मुझे याद करना। वे थे इन्दौर में और पत्नी थी किशनगढ़ में। काफी दूर थे। पत्नी ने याद किया और उन्होंने अपने घरवालों को बता दिया कि अमुक समय में मेरे सन्तान हुई है। फिर ठीक उसका प्रामाणिक संवाद मंगाया गया। तो पता चला कि दो घंटे के पश्चात् यह समय निकलता है। यानी सन्तान दो घंटे पहले पैदा हो गयी थी। फिर जांच की गयी कि ऐसा क्यों हुआ ? तब पता चला कि दो घंटा तक पत्नी बेहोश रही। और जब स्मृति आयी, तब याद किया। और जब याद किया, वह समय ठीक उन्होंने नोट कर लिया। यानी जागृत होने पर संप्रेषण हुआ।

स्मृति को जब हम एक जगह रोक लेते हैं, एक दिशा में प्रवाहित करते हैं, तो हमारे प्रकम्पन की क्षमता बढ़ जाती है। अगर दोनों ओर से हो तो और अधिक सुविधा हो जाती है। कभी-कभी दो व्यक्ति एक समय में ही एक विचार प्रकट करते हैं। आश्चर्य होता है कि दोनों की शब्दावली भी एक ही होती है। यह अनुभव की बात है। कभी-कभी ऐसा हो जाता है।

अब प्रश्न है कि निरुद्ध स्मृति कैसे हो ? उसके लिए हमें नाड़ियों का बोध होना बहुत अपेक्षित है। हमारे शरीर में जो नाड़ियां हैं, उनमें कुछ हैं ज्ञानग्राही और कुछ हैं ज्ञानवाही। इन दोनों का बोध होना बहुत ही जरूरी है। मैं समझता हूं कि जिसे यह ठीक बोध नहीं होता, वह ठीक योगी भी नहीं हो सकता। कौन-सी नाड़ी कहां से चलती है और कहां जाकर अपना काम शुरू करती है, इसका ज्ञान होना चाहिए। आंख हमारी बिलकुल ठीक है। कोई गड़बड़ नहीं है। किन्तु मस्तिष्क में जहां आंख को शक्ति देने का यन्त्र है, उसे आप काट दीजिये। आंख बिलकुल ठीक है पर दिखायी नहीं देगा। बृहद् मस्तिष्क में जो श्रोत्रग्राही तंतु है, इसे हम अपनी भाषा में उपकरण कह सकते हैं, उसे आप काट दीजिये। कान ठीक है, पर्दा ठीक है, शब्द हो रहा है तेज, पर सुनायी कुछ भी नहीं पड़ेगा। हमारे शरीर में जो मुख्य-मुख्य ग्रंथियां हैं, इनके द्वारा हमारे शरीर और मन का बहुत नियंत्रण होता है। पीच्युटरी जो हमारे मस्तिष्क के मध्य में एक आधा इंच की ग्रन्थि है, वह ग्रन्थि अगर विकसित नहीं होती, तो ज्ञान होने पर भी ज्ञान के उपयोग की क्षमता हमारे में नहीं होती। हम काम नहीं ले सकते। जिस व्यक्ति की जननेन्द्रिय की ग्रन्थियां, सेक्स की ग्रन्थियां बहुत सक्रिय हो जाती हैं, विचित्र

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रूप में काम-वासना उभर आती है। काम-वासना उभरी है और यदि उस पर हमें नियन्त्रण पाना है, तो हमें यह समझना होगा कि जो सेक्स-ग्रन्थियां हैं, उनको किस प्रकार निष्क्रिय बनाया जाये? यह सिद्धासन का विकास क्यों हुआ? काम-ग्रन्थियों को निष्क्रिय बनाने के लिए ही हुआ था। यह पादांगुष्ठ-आसन का विकास क्यों हुआ? इसीलिए हुआ कि इसके द्वारा काम-ग्रन्थियों को निष्क्रिय किया जा सकता है, उस अनुभूति को मिटाया जा सकता है।

आज्ञाचक्र पर ध्यान करने की प्रक्रिया पर अधिक ध्यान क्यों दिया गया? आज्ञाचक्र पर जब हम ध्यान केन्द्रित करते हैं, तब हमारा ज्ञानचक्र, भावनाचक्र, यानी हृदयचक्र और विशुद्धिचक्र इतने जल्दी जागृत हो जाते हैं, वे सक्रिय हो जाते कि जिससे नीचे के चक्र अपने आप ही निष्क्रिय बन जाते हैं। इन सारी प्रक्रियाओं का आशय यही था कि हमारे ज्ञानवाही तन्तुओं को, किस तन्तु को सक्रिय बनाना और किस तन्तु को निष्क्रिय बनाना, इसका ठीक-ठीक बोध यदि हमें मिल जाये तो अनावश्यक उभरने वाली स्मृतियां शांत हो जायें। इसीलिए इनका विकास किया गया था। क्या आप कल्पना करते हैं, हमारे शरीर की रचना को और शरीर में हमारे ज्ञान के तन्तुओं को समझे बिना हम ठीक योग की बात को समझ लेंगे? या मन को वश में करने की बात समझ लेंगे? मैं समझता हूं कि ऐसा नहीं सोचा जा सकता। और जबकि सिद्धान्ततः हम यह मान चुके हैं, कि हमारी सारी चेतना की जो अभिव्यक्ति होती है वह सारी की सारी शरीर के माध्यम से ही होती है। शरीर के माध्यम के बिना, चेतना का चाहे जितना विकास हो, आपके कोई काम का नहीं हो सकता। इन्द्रिय की उपलब्धि और उपयोग हो सकता है किन्तु आकार, रचना और उपकरण ठीक नहीं है, इन्द्रियां कुछ काम नहीं देंगी। मानसिक विकास बहुत अच्छा है, किन्तु मस्तिष्क आहत हो गया तो मन कोई काम नहीं देगा। आपने जोधपुर के लोढाजी के बारे में पढ़ा होगा कि मस्तिष्क पर कोई ऐसा धक्का लगा कि पांच-सात वर्ष तक केवल यन्त्र की तरह जीते रहे। उनको कोई स्मृति नहीं थी। वह आहनन मिटा। चेतना लौटी तो सारे कार्य पूर्ववत् करने लगे। किन्तु जब तक मस्तिष्क आहत था, मन काम नहीं दे रहा था।

इस प्रकार चेतना को बाहर लाने का जो साधन है, वह शरीर है। इसीलिए शरीर पर हमें इतना बल देने की जरूरत है कि साधना की दृष्टि से शरीर को समझना हमारे लिए बहुत आवश्यक है। अगर साधना की दृष्टि से शरीर को न समझें तो जहां पहुंचना चाहते हैं, वहां पहुंचने में बाधा हो सकती है।

स्मृति-शून्यता को समझने के पूर्व हमें यह जान लेना है कि किन कारणों से स्मृति की उत्तेजना होती है? उन कारणों को गौण कर दें, स्मृति-शून्यता अपने आप ही आ जायेगी। हमारी स्मृति को सबसे पहले मन उत्तेजित करता है, दूसरे में शरीर और तीसरे में श्वास। सबसे सूक्ष्म चोट होती है श्वास की। इसीलिए

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शरीर को शिथिल कर दो। वचनों के प्रकम्पन को समाप्त कर दो। और ध्यान कर लो, यानी मन को भी स्थिर कर लो। श्वास मंद, मन शान्त, वचन शान्त तथा शरीर निष्क्रिय और निश्चेष्ट की स्थिति आती है, तब स्मृति को उत्तेजित करने का कोई भी साधन नहीं रहता। न बाहर से कोई प्रत्यय होता है, जो स्मृति को उत्तेजित कर सके। क्योंकि इन्द्रियां समाप्त हो जाती हैं, उस स्थिति में अपने आप प्राण ऊपर चला जाता है, श्वास ऊपर चला जाता है, मन्द हो जाता है और स्मृति-शून्यता की, निर्विकल्प प्रत्यक्ष की स्थिति हमारी चेतना में आ जाती है। हम सविकल्प प्रत्यक्ष से निर्विकल्प प्रत्यक्ष की स्थिति में आ जाते हैं। सविकल्प चेतना से निर्विकल्प चेतना की स्थिति में आ जाते हैं। यह है हमारी स्मृति-शून्यता की स्थिति।

जब श्वास हमारा नियंत्रित, शरीर हमारा नियंत्रित और मन हमारा नियंत्रित ज्ञानपूर्वक हो जाता है तो उस स्थिति में अपने आप चेतना को ऊपर जाने का मार्ग मिल जाता है, ऊर्ध्वारोहण हो जाता है और चेतना के ऊर्ध्वारोहण में कोई प्रत्यक्ष बाधा उस स्थिति में नहीं आती।

प्रश्न : समाधान

प्रश्न—लम्बे समय तक साधना की जाती है, फिर भी जो उपलब्धियां होनी चाहिए नहीं होतीं। इसमें क्या शरीर के विषय में अज्ञान है या नाड़ियों का ज्ञान न होना है? कौन-सा तत्त्व बाधक है?

उत्तर—भारतीय योग में इस प्रश्न को दो दृष्टियों से विचारा जाता है। प्रथम तो यह कि हमारे पुराने संस्कार कैसे हैं? हम केवल शरीर और नाड़ी संस्थान तक ही सीमित नहीं रह सकते। यद्यपि उस साधन को भुला नहीं सकते। बहुत महत्त्वपूर्ण साधन है, फिर भी उसके आगे सूक्ष्म संस्कार होता है, जिसे कर्म कहते हैं। यदि हमारे संस्कारों की अनुकूलता है, यानी ऐसा कोई कर्म बाधक नहीं है और हमें साधना की प्रक्रिया का ठीक ज्ञान है तो साधना के मार्ग में हम चलना शुरू हो जाते हैं। अब लम्बी अवधि का जो प्रश्न है, वह चेतना जगत् का है। क्योंकि एक यांत्रिक चीज होती है, वह उतने समय में ही बन जाती है। एक धागा बनता है, एक कपड़ा बनता है। निश्चित समय है। इतने समय में धागा बन जायेगा, इतने समय में कपड़ा बन जायेगा। अचेतन के प्रति तो यह नियम किया जा सकता है, किन्तु जहां चेतना की स्वतंत्रता और संस्कारों की विचित्रता है, वहां यह लम्बी अथवा छोटी अवधि का नियम नहीं बनता है। भगवान् महावीर ने पूर्व-जीवन की साधना के बाद भी साढ़े बारह वर्ष तक अनवरत साधना की। जागरूक साधना की। इतनी जागरूक साधना की जो हर व्यक्ति के लिए संभव नहीं। साढ़े बारह वर्ष के बाद केवलज्ञान की उत्पत्ति हुई और तीर्थंकर मल्लिनाथ जिस दिन दीक्षित

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हुए, उसी दिन केवलज्ञानी हो गये। बड़ा गूढ़ प्रश्न है कि भगवान् महावीर को साढ़े बारह वर्षों तक कठोर साधना करनी पड़ी और मल्लिनाथ को एक दिन में ही केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। किसी को कितना समय लगा और किसी को कितना लगा। इसमें अनेक कारण हैं और सबसे महत्त्वपूर्ण कारण है, कर्म या पिछले संस्कार। आवरण को हमने कितना गाढ़ा बना रखा है। हमारा आवरण जितना गाढ़ा है उतना ही लम्बा समय लगेगा। और आवरण को हटाने में कितनी देरी करते हैं, उतना और अधिक समय लगेगा। वर्तमान के योगियों को लें तो हमें मालूम होता है कि अरविन्द ने अठारह वर्षों तक काफ़ी श्रम किया। अठारह वर्ष के बाद उन्हें ठीक रास्ता मिला। महर्षि रमण ने भी कठोर यातनाएं साधना के लिए सहन कीं। काफ़ी लम्बा समय लग सकता है। जो लोग बहुत थोड़े समय में साधना की उपलब्धि चाहते हैं वे शायद कच्चा फल तोड़कर खाना चाहते हैं जो कि खट्टा होता है। समय का परिपाक होना चाहिए।

साधना में समय लगे, कोई कठिनाई की बात नहीं है। अगर हमें यह लगे कि रास्ता ठीक है, दिशा सही है, और फिर चल रहे हैं तो दो वर्ष बाद आये या दो वर्ष पहले आये, कोई चिन्ता की बात नहीं है। दिशा सही, पथ सही और गति सही, इसको विशेष ध्यान में रखना चाहिए। और ये तीनों सही हैं तो समझना चाहिए कि साधना का पथ सही है और उस पर हम अग्रसर हो रहे हैं। समय का छोटा होना और बड़ा होना कोई महत्त्वपूर्ण प्रश्न नहीं है।

आचार्यश्री ने कहा—जिसमें सीधा फल पाने की भावना रहती है, मैं नहीं समझता कि वह कोई साधना है। क्योंकि उसमें तो सीधा फल पाने की भावना रहती है। अगर कोई सही मार्ग पर चल रहा है तो उसके मन में यह संदेह होना ही नहीं चाहिए कि उसकी साधना सिद्ध हो रही है या नहीं हो रही है।

प्रश्न—ऐसा सुना है कि कुछ लोग भोजन नहीं करते हैं। इसका कारण पेट का अन्दर चिपक जाना, नाड़ियों का पीछे की ओर चले जाना है या और कुछ? योग में जिन नाड़ियों का वर्णन है वे वर्तमान शरीर-विज्ञान के अनुसार उपलब्ध हैं?

उत्तर—पेट को अन्दर चिपकाने से भूख बन्द नहीं होती। उससे तो अच्छी भूख लगती है। किन्तु एक बात अवश्य है, जठराग्नि तो प्रज्वलित होगी परन्तु अन्न की मात्रा कम हो जायेगी। अल्प मात्रा में ही तृप्ति हो जायेगी। कभी-कभी हमारे शरीर में इतना आकस्मिक परिवर्तन होता है कि हमारे शरीर को खाने की आवश्यकता नहीं होती। नाड़ियों पर घृणा, शोक, भय आदि का कभी-कभी इतना प्रभाव पड़ता है कि कुछ नाड़ियों का आहनन हो जाता है। ऐसी स्थिति में फिर खाने-पीने की आवश्यकता नहीं रहती है। पतंजलि ने भी लिखा है कि कंठकूप-संयम करो, भूख-प्यास अपने आप मिट जायेगी। जीभ को ऊपर की ओर लौटाने

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

से अर्थात् खेचरी मुद्रा करने से भूख कम हो जाती है। वर्णन मिलता है कि पहले लोग महीने-महीने की तपस्या करते और पारणे में कुश की नोक पर टिके उतना खाते। यह आश्चर्य की बात नहीं है। उनकी ग्रहणशक्ति इतनी तीव्र हो जाती है कि थोड़े से अन्न को भी इतनी सूक्ष्मता से ग्रहण करते हैं कि उतना ही उनके लिए पर्याप्त हो जाता है।

दूसरी बात है कि डॉक्टरों ने जो परीक्षण किया, उसके अनुसार योग में जो नाड़ियों का विधान है, वह प्राप्त नहीं है। इस बारे में दो बातें हैं। कुछ तो, योग में इतनी सूक्ष्म नाड़ियों का प्रतिपादन है कि उनका अभी तक ठीक अर्थ समझ में नहीं आया है। जैसे मेरुदंड का योग में इतना सूक्ष्म वर्णन है कि यंत्र में उसको नहीं पकड़ा जा सकता। दूसरी बात है शब्दों की और परिभाषाओं की। आप लोग जानते हैं कि छह पर्याप्तियां होती हैं। ये पर्याप्तियां शरीर में हैं। अब कोई कहेगा कि हमारे शरीर में छह पर्याप्तियां बतलाई गयी हैं, आज डॉक्टरों और शरीर-शास्त्रियों ने एक-एक अवयव को चीर-फाड़ दिया परन्तु कहीं भी पर्याप्ति तो नहीं मिली? पर्याप्ति तो बोलती नहीं है। पर्याप्ति हमारी भाषा में है। डॉक्टर लोगों की अपनी भाषा होती है। इस सन्दर्भ में थोड़ा चिन्तन किया तो पता चला कि केवल नामों का भेद है। जैसे बृहद् मस्तिष्क मनःपर्याप्ति का स्थान है, जहां सारी शक्तियां केन्द्रित हैं। इसी प्रकार अन्यान्य पर्याप्तियों के भी स्थान हैं। आज इतना ही।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

७

वृत्तियों का वर्तुल

- दस प्रकार की वृत्तियां, मूर्च्छाएं या संज्ञाएं।
- वृत्तियों को तोड़ने का उपाय—
    - शुद्ध चेतना का अनुभव करना।
    - आत्म-सम्मोहन।
    - केवल कुंभक।
    - विशुद्धिकेन्द्र और ज्ञानकेन्द्र पर स्थिरीकरण।
    - सूक्ष्म प्राणायाम।
    - नो-संज्ञोपयुक्त अवस्था।

•

हमारी चेतना पर मूर्च्छा और संज्ञा का आवरण है, वृत्ति और संस्कार का आवरण है, उसे हम कैसे तोड़ें? चित्त को संज्ञामुक्त कैसे करें? चित्त से मूर्च्छा और संस्कार को कैसे मिटाएं? यह साधना के क्षेत्र में ज्वलंत प्रश्न है।

दस प्रकार की संज्ञाएं, चित्तवृत्तियां या मूर्च्छाएं हैं। वास्तव में वे एक ही हैं। आयुर्वेद का सिद्धान्त है कि बीमारी एक ही होती है। स्थान-भेद के कारण उसके अनेक नाम हो जाते हैं। दर्द दर्द है। पर उसके स्थान-भेद से सिर का दर्द, घुटने का दर्द, छाती का दर्द, कंधे का दर्द, गर्दन का दर्द—आदि-आदि नाम हो जाते हैं। प्राकृतिक चिकित्सा का सिद्धांत भी यही है कि बीमारी एक ही है। शरीर में विजातीय तत्त्व संचित हो जाता है और वह बीमारी का रूप धारण कर लेता है। इसी प्रकार मूर्च्छा एक ही है। कारण-भेद के आधार पर वह अनेक प्रकार की हो जाती है। आहार के प्रति आसक्ति होती है, वह आहार संज्ञा कहलाती है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परिग्रह के प्रति आसक्ति होती है, वह परिग्रह संज्ञा कहलाती है। वास्तव में मूर्च्छा एक ही है। इतना-सा होता है कि किसी विषय पर मूर्च्छा सघन होती है और किसी विषय पर वह विरल होती है। यह सच है कि एक ही व्यक्ति में सभी संज्ञाएं सघन नहीं होतीं और सभी संज्ञाएं विरल नहीं होतीं। कुछ संज्ञाएं सघन होती हैं और कुछ संज्ञाएं विरल होती हैं। किसी में कोई संज्ञा सघन होती है और किसी में कोई संज्ञा सघन नहीं होती। इसीलिए साधना करने वाले व्यक्ति को सबसे पहले यह निश्चय करना होता है कि उसमें कौन-सी संज्ञा प्रबल है, कौन-सी चित्तवृत्ति प्रखर है। उसे उसी पर प्रहार करना होता है।

नारकीय जीवों में भयसंज्ञा, देवताओं में परिग्रहसंज्ञा, तिर्यञ्च में आहारसंज्ञा और मनुष्य में मैथुनसंज्ञा प्रबल होती है। यह विभाजन प्रधानता की दृष्टि से किया गया है। वैसे तो प्रत्येक प्राणी में ये चारों संज्ञाएं होती हैं। किन्तु सबमें इनका प्रबल होना आवश्यक नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति सभी संज्ञाओं में से गुजरता है। उसकी चित्तवृत्ति सभी संज्ञाओं से संक्रान्त होती है।

एक ही पदार्थ के उपयोग भिन्न-भिन्न हो जाते हैं। एक संन्यासी था। उसकी कंबल चोरी में चली गयी। भक्तों ने दौड़-धूप की। पुलिस में रिपोर्ट दी। चोर पकड़ा गया। उसे न्यायाधीश के समक्ष उपस्थित किया गया। संन्यासी को भी बुलाया गया। न्यायाधीश ने चोर से पूछा—"तुमने संन्यासी का क्या चुराया ?"

चोर ने कहा—"संन्यासी के पास एक कंबल थी। वह मैंने चुरा ली।"

संन्यासी से न्यायाधीश ने पूछा—"तुम्हारा क्या गया ?"

संन्यासी बोला—"मेरा सब कुछ चला गया। मेरा बिछौना, सिरहाना, ओढ़ने का वस्त्र, सब कुछ चला गया।"

चोर ने कहा—"संन्यासी झूठ बोल रहा है। मैंने केवल एक कंबल ही चुराया है।"

न्यायाधीश असमंजस में पड़ गया। उसने चोर के आत्मविश्वास को देखते हुए संन्यासी से पूछा—"महाराज ! सच-सच बतायें। केवल कंबल ही गया या सब-कुछ चला गया ?"

संन्यासी ने कहा—"सब कुछ चला गया। कंबल ही मेरा सब कुछ था। मैं कभी कंबल बिछा लेता हूं, कभी ओढ़ लेता हूं और कभी सिराहने दे देता हूं। यही मेरा बिछौना है, यही मेरा सिरहाना है। सब कुछ यही है।"

एक ही कंबल सब कुछ बन गया। एक ही मूर्च्छा सब कुछ बन जाती है। एक ही मूर्च्छा कहीं आहार की आसक्ति बन जाती है, कहीं भय की आसक्ति बन जाती है और कहीं क्रोध की, कहीं झूठी मान्यताओं की और कहीं भीड़ के पीछे चलने की आसक्ति बन जाती है। इस प्रकार एक ही मूर्च्छा, एक ही संज्ञा विभिन्न रूपों में सामने आती है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हमें मूर्च्छा को तोड़ना है। जब तक मूर्च्छा के घने बादलों को हम बिखेर नहीं देते तब तक चेतना के आकाश में तेजस्वी सूर्य का उदय नहीं हो सकता। वह सूर्य तभी प्रकाश दे सकता है जब ये बादल उस पर छाये हुए न रहें।

प्रश्न है कि हम उन बादलों को कैसे हटायें ? मूर्च्छा को कैसे तोड़ें ? संज्ञाओं को समाप्त कैसे करें ? उसकी प्रक्रिया क्या है ?

संज्ञा को तोड़ने का, मूर्च्छा के बादलों को विरल करने का एकमात्र उपाय है—शुद्ध चेतना का अनुभव करना, आत्मा के द्वारा आत्मा को देखना। यह उपाय समूची साधना को अपने में समेटे हुए है। इससे यह रहस्य उद्‌घाटित होता है कि हम क्या करना चाहते हैं ? आत्मा के द्वारा आत्मा को देखें। इसका अर्थ है—चेतना के द्वारा शुद्ध चेतना को देखें। मन के द्वारा अन्तर्मन को देखें। बहिर्चेतना के द्वारा अन्तश्चेतना को देखें। प्रश्न होता है कि ऐसे देखने का परिणाम क्या होगा ? जो आत्मा के द्वारा आत्मा को देखता है वह अनासक्त हो जाता है। वह आसक्ति के व्यूह को तोड़ देता है। अनासक्ति का उपाय संज्ञा-मुक्त होने का उपाय है, मूर्च्छाओं को तोड़ने का उपाय है। शुद्ध चेतना का अनुभव कर प्राणी अनासक्त हो जाता है। उसकी सारी मूर्च्छाएं टूट जाती हैं। शुद्ध चेतना की संप्रेक्षा का अर्थ है—शुद्ध उपयोग में रहना। शुद्ध उपयोग का अर्थ है—सतत जागरण।

जागरण और मूर्च्छा दो हैं। मूर्च्छा होगी तो जागरण नहीं होगा और जागरण होगा तो मूर्च्छा नहीं होगी।

जागरण का अर्थ है—आत्मा की संप्रेक्षा, शुद्ध चेतना का अनुभव। इसे हम सरल शब्दों में समझें। राग-द्वेष-शून्य क्षणों का अनुभव जागरण है। जागरण ऐसे क्षण का अनुभव है जिसमें न प्रियता का भाव है, न अप्रियता का भाव है, केवल जो है उसका साक्षात्कार है, और कुछ भी नहीं है।

हम श्वास का या अन्तर्दर्शन का आलंबन लेते हैं। श्वास के साथ हमारा कोई लगाव नहीं है। उसके साथ न राग है, न द्वेष है। केवल एक आलंबन के रूप में उसे हमने स्वीकार किया है। श्वास का आलंबन शुद्ध चेतना के अनुभव का एक उपाय है। जहां केवल देखना है, जहां केवल जानना है, जहां केवल साक्षात्कार है, उसके साथ हमारा कोई लगाव नहीं है, राग-द्वेष नहीं है। ऐसे अनेक आलंबन हो सकते हैं जो शुद्ध चेतना के अनुभव के निमित्त बन सकते हैं। संज्ञा से मुक्त होने का सबसे महत्त्वपूर्ण उपाय है—शुद्ध चेतना, शुद्ध उपयोग या नो-संज्ञोपयुक्त चेतना का अनुभव। संज्ञामुक्त चेतना—जहां केवल चेतना है, संज्ञा नहीं है। सूर्य चमक रहा है। कोई बादल उसको घेरे हुए नहीं है। कोरा प्रकाश आ रहा है, और कुछ भी नहीं।

मूर्च्छाओं और संज्ञाओं से मुक्त होने का यह पहला उपाय है। इसमें धैर्य की

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अपेक्षा तो है ही। ऐसा नहीं होता कि अभ्यास के प्रारंभ में ही संज्ञा का घना वलय, चक्रव्यूह टूट जाये। लंबा अभ्यास अपेक्षित है और वह धैर्य के बिना असंभव है।

संज्ञा-मुक्त होने का दूसरा उपाय है—आत्म-सम्मोहन। दूसरे के द्वारा सम्मोहित होने की बात नहीं, किन्तु स्वयं का सम्मोहन। शास्त्रीय भाषा में इसे 'भावना' कह सकते हैं। यदि हम संज्ञा से मुक्त होना चाहते हैं तो हमें संज्ञा-मुक्त होने की भावना को इतनी तन्मयता के साथ करना होगा कि उस विषय में हम स्वयं सम्मोहित जैसे हो जाएं, तदात्म हो जाएं। इतना तादात्म्य स्थापित हो कि हम भावितात्मा बन जाएं। उस तादात्म्य या सम्मोहित अवस्था में वह जो भी सोचता है, वह हो जाता है, जैसा सोचता है वैसा हो जाता है। सम्मोहन और भावना की यह प्रक्रिया लाभप्रद है तो हानिप्रद भी है।

सम्मोहन में दो बातें होती हैं। पहली बात है—तादात्म्य की। सम्मोहन सफल तब होगा जब तादात्म्य होगा। मनोविज्ञान की भाषा में तादात्म्य का अर्थ है—स्थूल या चेतन मन को भुलाकर अवचेतन मन को जगा देना। अवचेतन मन को जगाये बिना तादात्म्य की बात नहीं हो सकती। तब तक हम अपने ध्येय के साथ एकरस नहीं हो सकते जब तक अवचेतन मन जागृत नहीं हो जाता। अवचेतन मन को जगाने का सबसे अच्छा अभ्यास है—कंठ से श्वास लेना और चिद् आकाश को देखना, उस पर ध्यान केन्द्रित करना।

सबसे पहले हम कायोत्सर्ग की मुद्रा में बैठें। कंठ से श्वास लें। पांच-सात मिनिट तक श्वास लेने की क्रिया चलती रहे। स्थूल मन सो जायेगा, अवचेतन मन जाग जायेगा। जब वह जाग जाये तब उसे सुझाव दें, निर्देशन दें। यहां हमें सतर्कता रखने की आवश्यकता है। अवचेतन मन के जाग जाने पर यदि गलत सुझाव चला गया तो वह भी क्रियान्वित हो जायेगा। खतरा पैदा हो जायेगा। लाभ के बदले हानि हो जायेगी। इसलिए पूरी सावधानी बरती जाये कि उस समय मन में गलत सुझाव या गलत विकल्प न आये। एक धारा जो बह रही है, उस धारा के प्रतिकूल, उसका प्रतिरोधी कोई भी विकल्प मन में आ गया तो वह क्रियान्वित होगा और बहुत बड़ा खतरा पैदा कर देगा।

एक पौराणिक कथा है। एक बार देवता और दानवों में युद्ध हुआ। दानवों ने विजय के लिए अनुष्ठान किया। उन्होंने मंत्र-साधना प्रारंभ की। मंत्र था—'इन्द्र शत्रुर्वधंस्व'। मंत्र की साधना चली। युद्ध हुआ और दानवों की हार हो गयी। देवता जीत गये। दानवों को आश्चर्य हुआ कि मंत्र-साधना के बावजूद हार कैसे हुई। विमर्श करने पर यह तथ्य सामने आया कि 'इन्द्र' शब्द के आगे विसर्ग का उच्चारण होना चाहिए था। वह नहीं हुआ। मंत्र या संकल्प का एक हिस्सा ही है सुझाव। सुझाव गलत हो गया।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सुझाव देने में कोई भूल हो जाती है तो उसका बुरा परिणाम भोगना पड़ता है। इसलिए यह आवश्यक है कि सुझाव सुनिश्चित भाषा में हो और वह पहले से ही सुस्थिर हो। तत्काल कोई सुझाव नहीं देना चाहिए। सुझाव की भाषा विधायक हो और पहले ही यह जांच कर ली जाए कि उस भाषा में कोई त्रुटि तो नहीं है। ऐसे ही आत्म-सम्मोहन का कार्य शुरू कर दिया और जो मन में आया वह सुझाव देने लगे तो संभव है जो होने का है वह नहीं होगा और जो नहीं होने का है वह हो जायेगा।

साधना के क्षेत्र में आत्म-सम्मोहन या भावना का प्रयोग बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इसका उपयोग वृत्तियों को खंडित करने के लिए करें।

संज्ञा-मुक्त होने का तीसरा उपाय है—केवल कुंभक। इसका अर्थ है—श्वास-संयम। पूरक और रोचक के साथ होने वाला कुंभक इतना उपयोगी नहीं होता जितना केवल कुंभक उपयोगी होता है। इसका प्रयोग जब चाहें तब किया जा सकता है। इससे कोई खतरा नहीं होता। पढ़ते हुए, बात करते हुए, देखते हुए या सुनते हुए जब कभी ध्यान गया तो एक क्षणभर के लिए श्वास को रोक लें, श्वास का संयम करें, कुंभक करें। दस-बीस बार उसे दोहरा दें। कभी क्रोध का आवेश आये, कभी वासना का आवेश आये, कभी भयंकर कल्पना आये, कभी लुभाने वाली बात आये तो तत्काल कुंभक कर लें। आवेश टल जायेगा। एक बार आवेश को टाल देते हैं तो उसका वेग समाप्त हो जाता है। वेग शून्यता में चलता है। जब नदी के पानी को अनेक स्थानों पर बांध दिया जाता है, फिर उसमें बाढ़ नहीं आ सकती। जिन नदियों में पहले बाढ़ आती थी, उन पर बांध बांध देने से अब उन नदियों के पानी का अधिक उपयोग होने लगा है, क्योंकि उसके वेग को रोक दिया गया है। एक बार हम आवेग के वेग को रोक देते हैं 'तो उसकी गति स्खलित हो जाती है। स्खलित हो जाने पर उसका वेग समाप्त हो जाता है और वह नष्ट हो जाता है। श्वास-संयम की यह प्रक्रिया वृत्ति-चक्र के प्रतिरोध की उत्तम प्रणाली है। यह अखंड चेतना के अनुभव का मार्ग है।

शुद्ध चेतना का अनुभव, आत्म-सम्मोहन और कुंभक—इन तीन उपायों की हमने चर्चा की। अब हम कुछ शारीरिक क्रियाओं पर भी विचार करें।

हमारे शरीर में ऐसे कुछ स्थान हैं जो हमारे इस कार्य में सहयोगी बनते हैं। वृत्तियों के उभार में भी शरीर सहयोगी बनता है। जैसे दूध की अपनी कोई प्रकृति नहीं है, वैसे शरीर की भी अपनी कोई प्रकृति नहीं है। जैसे कफ़ प्रकृति वाला आदमी दूध पीता है तो वह दूध कफ़ करता है, पित्त प्रकृति वाले को पित्त और वात प्रकृति वाले को वात, इसी प्रकार कोई संज्ञा या मूर्च्छा शरीर में उभरती है तो शरीर उसमें सहयोगी बन जाता है। यदि संज्ञा या मूर्च्छा को मिटाने का प्रयत्न होता है तो शरीर उसमें सहयोगी बन जाता है। शरीर की अपनी कोई

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकृति नहीं है।

हमारा यह शरीर साधना में सहयोग करता है। इसके ज्ञानतंतुओं, ज्ञानचक्रों तथा नाड़ी-संस्थान के विभिन्न नाड़ी वलयों को हम समझें और साधना के क्षेत्र में उनका उपयोग करना सीखें। इसके लिए अनेक उपाय खोजे गये हैं। इतनी खोजें हुई हैं कि आज हमें वे ज्ञात भी नहीं हैं।

हृदय, कंठ और मस्तिष्क—ये तीन स्थान साधना में उपयोगी हैं। हृदय 'आनन्द-केन्द्र' है, कंठ 'विशुद्धि-केन्द्र' है और मस्तिष्क 'ज्ञान-केन्द्र' है। ये ज्ञान-तंतुओं के बड़े-बड़े गुच्छक हैं। हृदय भावपक्ष का स्थान माना जाता है। क्रिया का स्थान है सुषुम्ना—शीर्ष और भाव का स्थान है—हृदय। अच्छी-बुरी भावना को हृदय के साथ जोड़ा जाता है। आनन्द-केन्द्र, विशुद्धि-केन्द्र और ज्ञान-केन्द्र पर जितना स्थिरीकरण होगा उतना ही वृत्तियों का क्षय होगा। वृत्तियों को क्षीण करने का, शारीरिक प्रक्रिया में, सबसे बड़ा स्थान है सहस्रारचक्र। यह ज्ञान-केन्द्र है। इस पर ध्यान केन्द्रित करने पर वृत्तियों का क्षय होता है, संज्ञाएं शांत होती हैं। कुछ अभ्यास-काल के पश्चात् यह स्वयं अनुभव होने लगता है कि कुछ हो रहा है, कुछ घटित हो रहा है। शारीरिक क्रिया की दृष्टि से संज्ञा-मुक्ति का चौथा उपाय है—आनन्द-केन्द्र, विशुद्धि-केन्द्र और ज्ञान-केन्द्र पर चित्त का स्थिरीकरण। इस स्थिरीकरण का परिणाम है—वृत्तियों का क्षय, मूर्च्छाओं का विनाश, संज्ञाओं की समाप्ति।

संज्ञा-मुक्ति का पांचवां उपाय है—सूक्ष्म प्राणायाम।

निश्चय-दृष्टि से नो-संज्ञोपयुक्त होता है वीतराग और व्यवहारदृष्टि से प्रत्येक मुनि 'नो-संज्ञोपयुक्त' होता है। वह व्यवहार से वीतराग होता है। शुद्ध चेतना का अर्थ है—वीतरागता। शुद्ध चेतना का अनुभव करना, संज्ञा-मुक्त होना—इसका तात्पर्य है कि वीतराग होना। यह हमारा आदर्श है। हमें यह बनना है। यह हमारे सामने निरंतर रहना चाहिए। जब यह आदर्श बना रहेगा तभी हम वैसा बन पायेंगे। हम वीतराग की भावना करें। वीतराग सत्त्व गुण वाला होता है। सत्त्व, रजस् और तमस्—ये तीन गुण होते हैं। सत्त्व का वर्ण है सफ़ेद, रजस् का लाल और तमस् का काला। वीतराग के साथ श्वेत वर्ण की भावना करें। वीतराग के गुणों का स्पष्ट चित्र हमारे सामने आ जाये। वीतराग के स्वरूप की स्पष्ट धारणा हो। पहले हमने स्पष्ट धारणा बना ली। फिर उसका चित्र बनाया। चित्र की स्पष्टता के बाद हम कायोत्सर्ग की मुद्रा में बैठ जाएं और बाएं स्वर से श्वास लें। पूरक करें। उस पूरक के साथ-साथ हमारी यह दृढ़ भावना और दृढ़ संकल्प बना रहे कि वीतराग हमारे अन्तःकरण में उतर रहा है। विधायक कल्पना रेचन के साथ नहीं की जा सकती, वह पूरक के साथ ही की जा सकती है। जब श्वास को हम बाहर निकालते हैं, रेचन करते हैं, तब उसके साथ कोई अच्छी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कल्पना नहीं जोड़नी चाहिए। उस समय तो ऐसी कल्पना की जा सकती है कि पेट की खराबी बाहर निकल रही है। पेट का रोग दूर हो रहा है। किंतु जब विशिष्ट भावना का प्रवेश कराना हो, जिस भावना को मन में स्थिर करना हो, उसे रेचन के साथ नहीं जोड़ना चाहिए। उसे पूरक के साथ जोड़ना चाहिए। चन्द्रस्वर से पूरक करते समय यह दृढ़ संकल्प और भावना करें कि हृदय में वीतराग का अवतरण हो रहा है। पूरक के बाद कुंभक करें। जितने समय तक सुगमता से, सरलता से, बिना कष्ट पाये श्वास को रोक सकें, उतने समय तक श्वास को रोककर अन्तर्मन में वीतराग का ध्यान करें। यह एक उपाय है। 'देवो भूत्वा देवं भजेत्'— देवता होकर देवता की पूजा करनी चाहिए। हम स्वयं उस वीतरागता की स्थिति में होकर वीतराग का ध्यान करें। ऐसा करने पर ही हमारे चित्त की सारी वृत्तियां, चित्त की सारी ऊर्जा अपने परिणमन में लग जाती है। परिणमन होता रहता है, परिणति होती रहती है और हम उसी रूप में बदलते रहते हैं। जैसी हमारी बुद्धि होती है, जैसा हमारा चित्त होता है, जैसी हमारी धारणा होती है, वैसे ही हम बदलते रहते हैं।

जैन दर्शन में पांच भाव प्रतिपादित हैं—

१. औदयिकभाव
२. औपशमिकभाव
३. क्षायिकभाव
४. क्षायोपशमिकभाव
५. पारिणामिकभाव

प्रथम चार भावों में कर्म का योग होता है, कर्म का धागा जुड़ा हुआ होता है। पारिणामिक भाव में कर्म का योग नहीं होता। वह हमारी पूरी स्वतंत्रता है। यदि हमारा पारिणामिक भाव पुष्ट होता है तो बहुत बार हम कर्म के विविध परिणामों को टाल सकते हैं। यह हमारी बहुत बड़ी स्वतंत्रता है कि हम कर्मों को बदल सकते हैं, उनमें परिवर्तन ला सकते हैं।

एक ज्योतिषी ने सुकरात से कहा—'मैं तुम्हारे ग्रहों के आधार पर तुम्हारे जीवन के बारे में भविष्यवाणी करूंगा।' सुकरात ने हंसते हुए कहा—'क्या भविष्यवाणी करोगे ? कुंडली किसी ने लिखी है, पर मेरी कुंडली मेरे हाथ में है। मैंने स्वयं के पुरुषार्थ से न जाने कितनी कुंडलियां बना दीं। मैंने न जाने कितनी रेखाएं बदल दीं ! तुम क्या भविष्यवाणी करोगे ?'

यह सचाई है परिणमन की। यदि हम परिणमन के प्रति जागरूक हैं तो हम बहुत सारी बातों को बदल सकते हैं और नयी-नयी परिणतियों को उत्पन्न कर सकते हैं। हम परिणामीभाव के द्वारा अकल्पित परिणामों को ला सकते हैं। ज्योतिषी कुंडली के आधार पर जिन तथ्यों की अभिव्यक्ति नहीं दे सकता उन तथ्यों को हम घटित कर सकते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जब हमारा चित्त वीतरागता की ओर होता है तब वीतराग के सारे घटक तत्त्व हमारे जीवन में आते हैं और वीतरागता की परिणति प्रारंभ हो जाती है।

यदि हमारे चित्त में वासना का विचार अधिक रहा तो परिणमन का एक चक्र बन जायेगा, क्रोध का विचार अधिक रहा तो क्रोध के परिणमन का एक चक्र बन जायेगा, वलय बन जायेगा। हमारे शरीर में ऐसे बड़े वलय हैं जो वास्तव में हमारी चित्तवृत्तियों को संचालित करते हैं। यदि वीतरागता की भावना रही तो वीतरागता का वलय बन जायेगा, चक्र बन जायेगा। यह है वीतरागता को अपने भीतर उतारना, स्थापित करना और वीतरागता का आना।

संज्ञा-मुक्ति के ये कुछेक उपाय हैं। इनके साथ-साथ हमें विस्तार से और कुछ जान लेना होता है। वृत्तियों के केन्द्र मस्तिष्क में कहां हैं उन्हें खोजना, उभरती हुई वृत्तियों को देखना, उनका साक्षात् करना, उनके प्रति जागरूक रहना और उन वृत्तियों को किस प्रकार से विफल किया जा सकता है—इन सारी बातों को यदि हम जान लेते हैं तो असंभव नहीं कि वृत्तियां न टूटें। आदमी बदलता है, संज्ञाओं को तोड़ता है और उन्हें परास्त कर देता है। यदि यह नहीं होता तो साधना की बात व्यर्थ हो जाती। धर्म का कोई अर्थ ही नहीं होता। हमारे पुरुषार्थ की कोई सफलता नहीं होती। हम संज्ञाओं को तोड़ सकते हैं, वृत्तियों को बदल सकते हैं, इसीलिए हमारी साधना है, इसीलिए हम धर्म की आराधना करते हैं और इसीलिए हम ध्यान का प्रयोग करते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चेतना और कर्म

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

८

आचरण के स्रोत

- मनोविज्ञान : आचरण के स्रोत—
  - सहजात
  - अर्जित
- जैन दर्शन : आचरण के स्रोत—दस संज्ञाएं
  - दस संज्ञाओं के तीन वर्ग—
    १. आहार संज्ञा, भय संज्ञा, मैथुन संज्ञा, परिग्रह संज्ञा।
    २. क्रोध संज्ञा, मान संज्ञा, माया संज्ञा, लोभ संज्ञा।
    ३. लोक संज्ञा, ओघ संज्ञा।
- आचरणों का मूल स्रोत है—कर्म।

●

ज्ञान और अध्यात्म दो हैं। दोनों जरूरी हैं। ज्ञान के बिना अध्यात्म का ग्रहण नहीं किया जा सकता और अध्यात्म में उतरे बिना ज्ञान की शुद्धता नहीं हो सकती। ज्ञान का प्रस्फुटन नहीं हो सकता। ज्ञान अध्यात्म को बढ़ाता है और अध्यात्म ज्ञान को नये-नये उन्मेष देता है। पश्चिम के दार्शनिकों ने मन का काफी गम्भीर अध्ययन प्रस्तुत किया है। उन्होंने मन के विषय में अनेक खोजें की हैं, मन का पूरा विश्लेषण किया है। मनोविज्ञान की एक पूरी शाखा विकसित हो गयी। प्रश्न होता है कि भारत के सत्यवेत्ताओं ने क्या मानसशास्त्र का अध्ययन नहीं किया था? इस प्रश्न के उत्तर में हम दो शाखाओं पर ध्यान दें। एक है योगशास्त्र और दूसरी है कर्मशास्त्र।

योगशास्त्र साधना की व्यवस्थित पद्धति है। इसके अन्तर्गत मन का पूरा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विश्लेषण, मन की सूक्ष्मतम प्रक्रियाओं का अध्ययन और उसके व्यवहार का बोध आता है।

कर्मशास्त्र मन की गहनतम अवस्थाओं के अध्ययन का शास्त्र है। कर्मशास्त्र को छोड़कर हम मानसशास्त्र को ठीक व्याख्यायित नहीं कर सकते, मानसशास्त्र में जो आज अबूझ-गूढ़ पहेलियां हैं उन्हें समाहित नहीं कर सकते और न अध्यात्म की गहराइयों में जा सकते हैं। कर्मशास्त्र के गंभीर अध्ययन का मतलब है—अध्यात्म की गहराइयों में जाने का एक गहरा प्रयत्न। जो केवल अध्यात्म का अनुशीलन करना चाहते हैं किंतु कर्मशास्त्र पर ध्यान देना नहीं चाहते, वे न अध्यात्म की गहराइयों को ही समझ सकते हैं और न वहां तक पहुंच ही सकते हैं। इसलिए कर्मशास्त्र और योगशास्त्र तथा वर्तमान मानसशास्त्र—तीनों का समन्वित अध्ययन होने पर ही हम अध्यात्म के सही रूप को समझ सकते हैं और उसका उचित मूल्यांकन कर सकते हैं।

अध्यात्म को समझने के लिए कर्मशास्त्र को समझना आवश्यक है। यह इसलिए आवश्यक है कि कर्मशास्त्र में हमारे आचरणों की कार्य-कारणात्मक मीमांसा है। हम जो भी आचरण करते हैं उसके दो कारण होते हैं। एक है बाहरी कारण और दूसरा है भीतरी कारण। बाहरी कारण बहुत स्पष्ट होते हैं।

एक आदमी चला जा रहा है। रास्ते में आग जल रही है। आग के निकट आते ही वह अपना पैर खींच लेता है। उसने अपना पैर क्यों खींचा, इसे हम स्पष्टता से समझ सकते हैं। कारण स्पष्ट है। रास्ते में आग थी। पैर नहीं खींचता तो पैर जल जाता। यह बाहरी कारण है। हमारी समझ में आ सकता है। कोई कठिनाई नहीं है।

एक आदमी बीमार है। दवा ले रहा है। बीमार होने के कारण अस्वाभाविक प्रवृत्ति भी कर रहा है। उदास है, खिन्न है। और भी दूसरे-दूसरे आचरण कर रहा है। बीमारी के पीछे जो कारण है वह बाहरी कारण नहीं है। वह आंखों से दिखायी देने वाला कारण नहीं है। वह भीतरी कारण है। उस कारण की खोज करनी होगी।

एक बीमार आदमी अस्वाभाविक आचरण कर रहा है, उसके पीछे कारण क्या है? रोग है। रोग का कारण क्या है? वह भीतरी कारण है। उस आन्तरिक कारण को खोजने की जरूरत है। जहां आन्तरिक कारण होता है वहां खोज का प्रश्न आता है और साथ-साथ विभिन्न दृष्टिकोण प्रस्तुत होते हैं।

बीमार चिकित्सक के पास जाता है। बीमार को देखकर विभिन्न चिकित्सक भिन्न-भिन्न बातें कहते हैं—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वैद्या वदन्ति कफपित्तमरुद्विकाराः,
ज्योतिर्विदो ग्रहगतिं परिवर्तयन्ति।
भूताभिषंग इति भूतविदो वदन्ति,
प्राचीनकर्म बलवद् मुनयो वदन्ति ।।

वैद्य कहता है—तुम्हारे रोग का कारण यह है कि शरीर के कफ, पित्त और वात विकृत हो गये हैं।

ज्योतिषी कहता है—तुम्हारे ग्रहों की गति विपरीत हो गयी है, इसलिए यह रोग है।

भूतवादी कहता है—तुम्हारे पर भूत की छाया पड़ गयी है, इसलिए यह रोग उभरा है।

मुनि कहता है—रोग का कारण है अपने किये हुये कर्मों का विपाक।

डॉक्टर कुछ और ही कहेगा। वह कहेगा—कीटाणुओं के कारण रोग हुआ है। वहां वात, पित्त और कफ की बात नहीं होगी। रोग कीटाणुज होगा। किसी ओस्ट्रियोपैथी (हड्डियों के विशेषज्ञ) के पास आप जायेंगे तो वह कहेगा—हड्डियों का संतुलन ठीक नहीं है। पृष्ठरज्जु और अन्यान्य हड्डियों का संतुलन ठीक नहीं है, इसलिए यह रोग उत्पन्न हुआ है। एक ही बीमारी, एक ही रोग, उसके कारणों के प्रति विभिन्न दृष्टिकोण मिलेंगे।

चिकित्सा की एक शाखा है—एक्यूपंक्चर। उसके विशेषज्ञ कहेंगे कि शरीर में विद्युत् का संतुलन ठीक नहीं रहा इसलिए बीमारी हुई है।

अभी-अभी रूस के शरीरशास्त्रीय वैज्ञानिकों ने एक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है—मनुष्य के शरीर में जब विद्युत् का संतुलन ठीक नहीं होता तब बीमारियां पैदा होती हैं। वे विद्युत् की धारा के संतुलन द्वारा, वोल्टेज की कमी और अधिकता के संतुलन के द्वारा, चिकित्सा का प्रतिपादन करते हैं।

रोग एक है। पर उसके कारण की खोज में जाते हैं तो दसों प्रकार के विचार सामने आते हैं। इतना निश्चित है कि मनुष्य कार्य की पृष्ठभूमि को खोजता रहा है और कारण को समझने का प्रयत्न करता रहा है।

जो आन्तरिक आचरण है, आन्तरिक घटना है, उसके कारण की खोज आन्तरिकता में जाकर कर सकते हैं। हमारे जितने भी आचरण हैं; हम जो भी प्रवृत्ति करते हैं, एक अंगुली हिलाने से लेकर बड़ी से बड़ी प्रवृत्ति या आचरण करते हैं, उस आचरण का मूल स्रोत क्या है? कारण क्या है? हेतु क्या है? हम अंगुली क्यों हिलाते हैं? हम क्यों बोलते हैं? हम दूसरों के साथ अच्छा या बुरा व्यवहार क्यों करते हैं? हम गुस्सा क्यों करते हैं? प्रेम क्यों करते हैं? जो भी आचरण हैं उनका मूल स्रोत क्या है? मूल कारण क्या है? इस प्रश्न की खोज में कर्मशास्त्र

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

की दिशा का अनावरण हुआ। संसार में विभिन्नता है। विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों के विभिन्न आचरण और व्यवहार हैं। सबमें विभिन्नता है, पार्थक्य है। सबमें समता का तारतम्य, शक्ति का तारतम्य, आकृति और प्रकृति का तारतम्य, आचरण और व्यवहार का तारतम्य है। यह विभिन्नता, यह तारतम्य सहज ही यह प्रश्न उपस्थित करता है कि यह क्यों ? ऐसा क्यों ? यह विभेद क्यों ? यह पार्थक्य क्यों ? एकरूपता क्यों नहीं ? इस विभिन्नता का कोई-न-कोई हेतु होना चाहिए। यदि कोई हेतु नहीं है, अहेतुक है तो सब समान ही होगा। जो भेद दिखायी देता है, जो अन्तर दिखायी देता है, उसका निश्चित ही कोई न कोई हेतु होना ही चाहिए। बिना कारण या हेतु के यह विभिन्नता हो नहीं सकती। चाहे प्रकृति की विभिन्नता हो, चाहे चेतन जगत् की विभिन्नता हो, चाहे जड़ जगत् की विभिन्नता हो, सबके पीछे कोई न कोई कारण अवश्य है।

मानसशास्त्रियों ने इस विभिन्नता के हेतुओं को खोजने का प्रयत्न किया। यह आज के युग की बात है। किन्तु हज़ारों-हज़ारों वर्ष पूर्व भी इस विभिन्नता को खोजने का प्रयत्न हुआ था।

महावीर ने धर्मध्यान के चार प्रकार बतलाये—आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय। हम इनमें से दो—अपायविचय और विपाकविचय की चर्चा करेंगे।

धर्मध्यान कारणों को खोजने की एक प्रक्रिया है। कोई विपाक हो रहा है, कोई चीज़ पक रही है। निष्पत्ति सामने आ रही है। विपाक है तो उसका हेतु भी होना चाहिए। परिणाम है तो उसका कारण भी होना चाहिए। यह कारण है—अपाय। अपायविचय है उस कारण की खोज। कोई भी फलित हुआ है तो उसके पीछे कोई-न-कोई उपाय है ही। कोई दोष हो या कोई गुण हो—कुछ-न-कुछ अवश्य है। हम केवल विपाक को ही सब कुछ नहीं मान सकते, पर्याप्त नहीं मान सकते। हम विपाक को वर्तमान क्षण का पाक, वर्तमान क्षण की बात मान सकते हैं; किन्तु उस विपाक के पीछे रहा हुआ जो हेतु है, अपाय है, जो लंबा अतीत है, उसे भी हमें समझना चाहिए। दोनों की खोज साथ-साथ चलती है—अपायविचय और विपाकविचय।

एक व्यक्ति का व्यवहार बहुत रूखा है, कठोर है, अशिष्ट है। यह एक घटना है। यह विपाक है, परिणति है। इसके पीछे अपाय क्या है ? कारण क्या है ? इसे समझे बिना विपाक का निदान नहीं किया जा सकता। यदि कोई सोचे कि विपाक का निदान कर दूं तो वह गलत होगा। निदान नहीं होगा, भ्रान्ति होगी। निदान होता है पहले। विपाक हो ही नहीं। विपाक में आये ही नहीं। बीज उग गया है। अंकुर फूट पड़ा है। वृक्ष का रूप सामने आ गया है। अब उसका प्रतिकार क्या होगा ? अब प्रतिकार नहीं हो सकता। चिकित्सा नहीं हो सकती। फिर तो छेदन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ही हो सकता है। फोड़ा पक गया, अब तो वह फूटेगा ही।

आज विकास का युग है। आज चिकित्सा की ऐसी शाखा उद्घाटित हो गयी है जो सूक्ष्म फोटोग्राफी के आधार पर, भविष्य में होने वाली बीमारी का पहले ही चित्रांकन कर लेती है। छह महीने बाद, वर्ष या दो वर्ष बाद कौन-सी बीमारी होने वाली है, यह पता चल जाता है। पहले से ही उसकी चिकित्सा कर ली जायेगी, जिससे कि वह शरीर में हो ही नहीं। बहुत अद्भुत बात है।

प्राचीनकाल में भी यह विद्या ज्ञात थी। पहले से ही बीमारी जान ली जाती और उसके न होने की स्थिति पैदा कर दी जाती। यह पद्धति थी कर्मशास्त्र की। कर्म के विपाक को जान लिया जाता और वह न हो, इसकी व्यवस्था पहले से ही कर ली जाती।

हमें केवल वर्तमान को ही नहीं देखना है। ध्यान के लिए यह बताया जाता है कि वर्तमान को देखो, वर्तमान के क्षण को देखो, यह भी एक बात है, किन्तु पूरी बात नहीं। वर्तमान को देखना—यह अच्छा है। मन को शांत करने के लिए बहुत जरूरी है वर्तमान को देखना। किन्तु तथ्यों की समग्र जानकारी के लिए केवल वर्तमान ही पर्याप्त नहीं होता, अतीत को भी देखना जरूरी होता है। जिस अतीत का परिणाम वर्तमान बनता है, जिस अतीत का विपाक वर्तमान बनता है, उस अतीत को समझना भी आवश्यक है। अतीत को समझे बिना वर्तमान के विपाक को, वर्तमान की प्रवृत्ति को, वर्तमान की रचना को नहीं समझा जा सकता। उसको समझने का कोई लाभ भी नहीं है। जो वर्तमान का क्षण है, उसकी पहले की संपत्ति को समझना, यह है कर्मशास्त्र को समझ लेना। कुछ तथ्य ऐसे होते हैं जो अनादि और अनन्त हैं। उनका न आदि है और न अन्त। हमारा अस्तित्व जो है, उसका आदि भी नहीं है और अन्त भी नहीं है। कुछ तथ्य ऐसे होते हैं जो अनादि हैं और सान्त हैं। उनका आदि नहीं है, किन्तु उनका अन्त अवश्य है। उनके प्रारंभ का, आदि का हमें पता नहीं है किन्तु वे एक दिन समाप्त अवश्य होंगे।

अंधकार कब से है, इसका कोई पता नहीं। जब भी दीया जलाया, बिजली जलायी, वह समाप्त हो गया। अंधकार समाप्त होता रहता है। ऐसा भी क्षेत्र मिल जाये जहां आज तक भी सूर्य की रश्मियां नहीं पहुंची हैं; कोई आदमी नहीं पहुंचा है, वहां सदा अंधकार ही रहा है। वहां भी कोई आदमी जाये, दीया जलाये, बिजली जलाये, तो अंधकार समाप्त हो जाता है। अंधकार अनादि है किन्तु वह सान्त है, उसका अन्त होता है, वह समाप्त होता है।

जिस व्यक्ति को कभी सम्यग्दृष्टि प्राप्त नहीं हुई, जिस व्यक्ति ने कभी संबोधि का अनुभव नहीं किया, जिसकी अविद्या का आवरण कभी समाप्त नहीं हुआ, आज तक नहीं हुआ, किन्तु ऐसा कोई योग मिला कि मिथ्यादृष्टि विलीन हो गयी, मिथ्यादर्शन समाप्त हो गया, अबोधि मिट गयी, अविद्या का आवरण टूट

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गया। मिथ्यादर्शन का आदि नहीं है किन्तु उसका अन्त अवश्य है।

एक बार जिस व्यक्ति को सम्यग्दर्शन हो जाता है, वह रहता ही है, समाप्त नहीं होता। एक बार जिस व्यक्ति की अविद्या का आवरण टूट गया, फिर वह आवरण कभी नहीं आ पायेगा। वह व्यक्ति विद्या के क्षेत्र में चला जायेगा। एक बार भी जिसके मानस की प्राची में संबोधि का सूर्य उग गया, वह कभी अस्त नहीं होगा। आदि तो है, किन्तु अन्त नहीं है।

सादि है और सान्त है—ऐसी घटनाएं हैं जिनका आदि भी है और अन्त भी है। आदमी कितनी बार गुस्सा करता है, कितनी बार क्षमाशील बनता है। हमारे बहुत सारे दैनिक व्यवहार सादि-सान्त होते हैं। उनका आदि भी है और अन्त भी है। दोनों साथ-साथ चलते हैं।

हम उस प्रवाह को सोचें जिसके आदि का हमें कोई पता नहीं है। जो अनादि से चला आ रहा है, उसका अनादि-हेतु है। हमारे प्रत्येक आचरण का, प्रत्येक व्यवहार का अनादि-हेतु है, अनादि-कारण है, जो अनादि काल से चला आ रहा है, जिसका आदि-बिन्दु खोजना हमारे लिए संभव नहीं है, किंतु उसका अंत किया जा सकता है। साधना का क्षेत्र इसीलिए तो है। अध्यात्म की साधना किसलिए? वह इसीलिए की जाती है कि अनादि-हेतु को खोजा जाये, उसका अन्त किया जाये। जो हेतु है, कारण है, आचरण के पीछे और आचरण की विसंगतियों के पीछे, उसको खोज निकालना अध्यात्म साधना का प्रयोजन है। जो कारण हमारे आचरण में विभिन्न प्रकार की विसंगतियां पैदा करता है और व्यवहार में संतुलन नहीं रहने देता, समरसता नहीं रहने देता, एकरूपता नहीं रहने देता और विभिन्नता उत्पन्न करता रहता है, वह कारण और हेतु अनादि है। उसका अंत किया जा सकता है। उस बिन्दु को खोजना कर्मशास्त्र का प्रयोजन है।

आधुनिक मानसशास्त्रियों ने आचरण के मूल स्रोतों की खोज की और बताया कि हमारे दो प्रकार के आचरण होते हैं—सहजात और अर्जित। आचरण के पीछे कोई-न-कोई प्रवृत्ति होती है। कोई आदत होती है। कोई स्वभाव होता है। एक होता है सहजात स्वभाव और एक होता है अर्जित स्वभाव। सहजात वह है जो मनुष्य जन्म से लेकर आता है। अर्जित वह है जो विभिन्न वातावरण में, विभिन्न प्रकार की परिस्थिति में अर्जित होता है। सहजात स्वभाव या सहजात प्रवृत्ति, अर्जित स्वभाव या अर्जित प्रवृत्ति—ये आचरण के दो मूल स्रोत हैं। विभिन्न मानसशास्त्रियों ने इन स्रोतों की भिन्न-भिन्न संख्या गिनाई है। किसी ने तेरह, किसी ने चौदह और किसी ने एक। ये मौलिक मनोवृत्तियां हैं। काम (सेक्स) मनुष्य की एक मौलिक मनोवृत्ति है। लड़ाई, युद्ध, संघर्ष—यह भी मनुष्य की मौलिक मनोवृत्ति है। भूख, समूह में रहना—यह भी मौलिक मनोवृत्ति है। जिजीविषा—जीने की इच्छा—यह भी मौलिक मनोवृत्ति है। आदमी जीना

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चाहता है, मरना नहीं चाहता। भगवान् महावीर ने कहा—सब जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता। यह सत्य का प्रतिपादन है।

महर्षि पतंजलि ने पांच क्लेश माने हैं। उनमें एक है अभिनिवेश। इसका अर्थ है—सभी जीव जीना चाहते हैं। हम वैदिक ऋषियों से सुनते हैं—'जीवेम शरदः शतम्'—हम सौ वर्ष तक जीते रहें। मनुष्य समझदार प्राणी है, चिंतनशील प्राणी है। वह सोच सकता है, विचार सकता है, अभिव्यक्ति कर सकता है। इसीलिए इसने—'जीवेम शरदः शतम्'—सौ वर्ष तक जीने की कामना प्रकट की। जो सामान्य प्राणी हैं, जिनमें चिन्तन का विशेष विकास नहीं है, अभिव्यक्ति की शक्ति नहीं है, जिनकी भाषा स्पष्ट नहीं है, वे 'जीवेम शरदः शतम्' जैसी भावना व्यक्त नहीं कर सकते। किन्तु उनके अन्तःकरण में भी यह भावना है कि वे जीते रहें, मरें नहीं। यह जिजीविषा प्राणीमात्र की मौलिक मनोवृत्ति है। महत्त्वाकांक्षा, बड़ा बनने की इच्छा—यह भी मौलिक मनोवृत्ति है।

एक गाय जंगल में इधर-उधर घूम रही है। वह दो-चार घंटों तक घूमती रहती है। उसके इस आचरण के कारण की खोज करना कठिन नहीं है। उसके घूमने के पीछे भूख की वृत्ति काम कर रही है। यदि उसमें भूख की वृत्ति नहीं होती तो वह घंटों तक जंगल में चक्कर नहीं लगाती।

हम जान सकते हैं आचरणों के मूल कारणों को, मूल स्रोतों को और उनके द्वारा प्रत्येक आचरण और व्यवहार की व्याख्या कर सकते हैं।

भगवान् महावीर ने दस संज्ञाओं का प्रतिपादन किया—आहार संज्ञा, भय संज्ञा, मैथुन संज्ञा, परिग्रह संज्ञा, क्रोध संज्ञा, मान संज्ञा, माया संज्ञा, लोभ संज्ञा, ओघ संज्ञा और लोक संज्ञा। ये संज्ञाएं आचरणों के मूल स्रोतों को खोजने में बहुत सहायक हैं।

हमारे जितने आचरण हैं, जितनी प्रवृत्तियां हैं, उनके पीछे हमारी दस प्रकार की चेतना काम करती है, दस प्रकार की चित्तवृत्तियां काम करती हैं। संज्ञा का अर्थ है—एक प्रकार की चित्तवृत्ति। जिसमें चेतन और अचेतन—दोनों मनों का योग होता है, कॉन्शस माइण्ड और सब-कॉन्शस माइण्ड—दोनों का योग होता है, उसे कहते हैं—संज्ञा या संज्ञान।

दस प्रकार की संज्ञाओं (चित्तवृत्तियों) को हम तीन वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—

पहला वर्ग—आहार संज्ञा, भय संज्ञा, मैथुन संज्ञा, परिग्रह संज्ञा।

दूसरा वर्ग—क्रोध संज्ञा, मान संज्ञा, माया संज्ञा, लोभ संज्ञा।

तीसरा वर्ग—लोक संज्ञा, ओघ संज्ञा।

पहले वर्ग की मनोवृत्तियां प्राणीमात्र में प्राप्त होती हैं। मानसशास्त्री जिसे भूख की मनोवृत्ति कहते हैं, उसे जैन आचार्य आहारसंज्ञा कहते हैं। सबमें आहार-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri
संज्ञा होती है। इस संज्ञा के कारण प्रत्येक प्राणी आचरण करता है। हमारे आचरण का बहुत बड़ा भाग आहारसंज्ञा से प्रेरित है।

भय की संज्ञा। हमारे बहुत सारे व्यवहार भय के कारण होते हैं। गाय कभी-कभी मनुष्य को देखते ही रौद्र रूप धारण कर लेती है। आदमी ने उसका कुछ भी नहीं बिगाड़ा, गाय का काम भी किसी को चोट पहुंचाना या मारना नहीं है, फिर वह रौद्र रूप क्यों ? इसका कारण है कि उसमें अनायास ही भय जाग गया। भय है आत्मरक्षा का। आत्मरक्षा में सबसे पहला आवेश भय जागृत होता है। डर लगता है कि मुझ पर कोई प्रहार न कर दे। भय जागते ही सारे शरीर में कंपन पैदा हो जाता है, तनाव पैदा हो जाता है। उसके पीछे भय की वृत्ति काम कर रही है।

तीसरी है—मैथुन संज्ञा। मनोविज्ञान की भाषा में यह सेक्स की वृत्ति है। यह वृत्ति प्रत्येक प्राणी में होती है।

चौथी है—परिग्रह संज्ञा। यह संग्रह करने की मनोवृत्ति है। आप यह न मानें कि केवल मनुष्य ही संग्रह करता है। पशु भी संग्रह करते हैं। पक्षी भी संग्रह करते हैं। मधु-मक्खियां संग्रह करती ही हैं। छोटे-मोटे सभी प्राणी संग्रह करते हैं। जैन तत्त्वविदों ने यहां तक खोज की कि वनस्पति भी संग्रह करती है। वनस्पति में संग्रह की संज्ञा होती है। यह परिग्रह की मनोवृत्ति, यह छिपाने की मनोवृत्ति, यह संग्रह की मनोवृति—प्रत्येक प्राणी में होती है। यह एक वर्ग है चार संज्ञाओं का।

दूसरा वर्ग है चार संज्ञाओं का, चार चित्तवृत्तियों का। वह भी प्रत्येक प्राणी में प्राप्त है। कोई भी प्राणी ऐसा नहीं है जिसमें वह प्राप्त न हो। किन्तु थोड़ा-सा अन्तर है। मनुष्य में ये वृत्तियां जितनी विकसित होती हैं उतनी वनस्पति या छोटे प्राणियों में विकसित नहीं होतीं। किन्तु इनका अस्तित्व अवश्य है। वनस्पति में क्रोध की संज्ञा होती है, मान की संज्ञा होती है, माया की संज्ञा होती है और लोभ की संज्ञा होती है। वनस्पति में चारों संज्ञाएं होती हैं। किन्तु वे मनुष्य में जितनी स्पष्ट होती हैं, उतनी स्पष्ट नहीं होतीं। यह दूसरा वर्ग है चार वृत्तियों का।

प्रथम वर्ग की चार वृत्तियों के कारण दूसरे वर्ग की ये चार वृत्तियां विकसित होती हैं, उभरती हैं। क्रोध पैदा होता है, रोटी के कारण। रोटी और पैसे के सवाल पर लड़ाइयां होती हैं, झगड़े होते हैं। आहार क्रोध का कारण बन जाता है। कुत्ते को रोटी डाली। दूसरे कुत्ते आ गये। आपस में झगड़ने लगे। रोटी गुस्से का, झगड़े का कारण बन गयी।

एक आदमी को अच्छी आजीविका प्राप्त है। अच्छे स्थान पर है। दूसरा उस स्थान पर आने का प्रयत्न करता है। पहले वाले की नौकरी छुड़वाने का प्रयत्न करता है। क्रोध प्रारंभ होता है। मनमुटाव होता है। कलह होने लगता है। यह आजीविका या आहार के कारण होता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एक व्यक्ति की आवश्यकताएं अच्छे ढंग से पूरी होती हैं। दूसरा उसे देखता है। उसकी आवश्यकताएं पूरी नहीं होतीं। पहले व्यक्ति के मन में अहंभाव आ जाता है। अहंकार सदा दूसरे को देखकर ही आता है। अपने से हीन व्यक्ति को देखकर दूसरे को अहंकार करने का अवसर मिलता है। यदि सामने हीनता न हो तो अहंकार को प्रकट होने का अवसर ही नहीं मिल पाता। कर्म के उदय से भी अहंकार का भाव अचानक जाग जाता है। यह आकस्मिक होता है। उन परमाणुओं का वेदन करना होता है। परन्तु सामान्यतः अहंकार जागता है हीनता को सामने देखकर। दूसरे की हीनता पर अहंकार जागता है।

एक आदमी को झाड़ू लगाना है, दूसरे को नहीं। अहंकार जाग जायेगा। यह मेरे सामने झाड़ू लगाने वाला है—यह अहंकार का निमित्त बनता है। आजीविका की वृत्ति पर भी अहंकार जागता है।

आजीविका माया को भी जगाती है। रोटी और आजीविका के लिए, न जाने कितने लोग, किस प्रकार की माया का आचरण कर लेते हैं। माया जागती है। लोभ भी जागता है। धनार्जन के लिए कितने लोग किस प्रकार के लोभ का आचरण करते हैं। आहार की वृत्ति के कारण क्रोध आदि चार वृत्तियों की अभिव्यक्ति होती है।

भय के कारण भी चारों वृत्तियां पनपती हैं। इसी प्रकार मैथुन और परिग्रह की वृत्ति के कारण भी ये चारों वृत्तियां पनपती हैं, व्यक्त होती हैं।

परिग्रह से क्रोध की वृत्ति जागती है। अहंकार तो उसके साथ है ही। जिसके पास अधिक संग्रह है, परिग्रह है, वह निश्चित ही अहंकारी बना रहेगा। माया की वृत्ति परिग्रह के कारण जागती है। लोभ परिग्रह से जुड़ा हुआ है।

प्रथम वर्ग की चित्तवृत्तियों में दूसरे वर्ग की चित्तवृत्तियों को जगाने की क्षमता है, उन्हें उभारने की क्षमता है।

तीसरा वर्ग है—ओघ संज्ञा और लोक संज्ञा। ओघ संज्ञा का अर्थ है सामुदायिकता की संज्ञा। मनुष्य में समूह की संज्ञा होती है, समूह की चेतना होती है, समूह में रहने की मनोवृत्ति होती है। मानसशास्त्री मेक्समूलर ने मनुष्य की एक वृत्ति का उल्लेख किया है। वह है—यूथचारिता। इसका अर्थ है समूह में रहने की मनोवृत्ति। इससे ओघ संज्ञा की तुलना की जा सकती है। यह है ओघ चेतना, समष्टि की चेतना, सामुदायिक चेतना। पशुओं में भी यह चेतना है, मनुष्य में भी यह चेतना है। इसीलिए गांव बसा, नगर बसा, समाज बना। समाज में रहने की मनोवृत्ति और समाज का अनुकरण करने की मनोवृत्ति को सामुदायिक चेतना कहते हैं। हम कई बार लोगों को ऐसा कहते हुए सुनते हैं कि 'जो सबको होगा वह हमें भी हो जायेगा। क्या अंतर पड़ेगा। जब सब ऐसा काम करते हैं, तो मैं क्यों नहीं करूं! जो परिणाम सबको होगा, वह मुझे भी हो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जायेगा। मैं अकेला इससे वंचित क्यों रहूं ?' यह सामुदायिक चेतना की बात है। यह ओघ संज्ञा है। इसे यूथचारिता कहा जा सकता है।

एक है लोक संज्ञा। यह वैयक्तिक चेतना है। प्रत्येक प्राणी में कुछ विशिष्टताएं होती हैं। इन विशिष्टताओं के कारण कुछ आचरण होते हैं। जो आचरण सामुदायिक चेतना के कारण नहीं होते किंतु अपनी विशिष्टताओं के कारण होते हैं, वे वैयक्तिक चेतना के कार्य हैं। व्यापारी का लड़का व्यापारी, सुनार का लड़का सुनार, खाती का लड़का खाती और किसान का लड़का किसान होता है। प्राय: यह स्थिति बनती है कि पिता का व्यवसाय पुत्र संभाल लेता है। इसके पीछे एक वैयक्तिक विशिष्टता काम करती है। यह समूचे समाज में, समुदाय में नहीं मिलती। यह विशेषता व्यक्तिगत विशेषता होती है और वह उस ओर चला जाता है। यह व्यक्तिगत चेतना है। यह एक विशेष प्रकार की रुचि है।

ये दस प्रकार की संज्ञाएं हैं। ये व्यवहार और आचरण को प्रभावित करती हैं। इन्हें आचरणों का स्रोत कहा जा सकता है।

प्रश्न होता है क्या ये मूल स्रोत हैं ? प्रश्न और आगे बढ़ गया। उत्तर होगा कि ये स्रोत हैं, किंतु मूल स्रोत नहीं हैं। गंगा बह रही है। प्रवाह को रोककर बांध बना दिया। बांध के फाटक खोल दिये गये। वहां से पानी का प्रवाह आगे चलता है। वह बांध इस प्रवाह का स्रोत बन जाता है, किंतु वह मूल स्रोत नहीं है। मूल स्रोत को खोजने के लिए गंगोत्री तक पहुंचना होगा। गंगा का मूल स्रोत है गंगोत्री। यहां से गंगा का प्रवाह प्रारंभ होता है।

ये दस वृत्तियां बीच के बने हुए बांध हैं। इनके फाटक खुले हैं। इनमें से छनकर निकलने वाली चेतना आगे प्रवाहित होती है और हमारे आचरणों को प्रभावित करती है। किंतु ये मूल स्रोत नहीं हैं। मूल स्रोत की खोज में बहुत आगे जाने की ज़रूरत है। आज के शरीरशास्त्रियों ने बहुत सूक्ष्म खोजें की हैं। पहले पांच मूल तत्त्व या पांच भौतिक तत्त्व ही मूल कारण माने जाते थे। आज के वैज्ञानिक वैसा नहीं मानते। उन्होंने इतने सूक्ष्म तत्त्व खोज लिये हैं कि ये पांच तत्त्व—पृथ्वी, अप्, तेजस, वायु और आकाश तो उनके ही संरक्षक बन जाते हैं। ये मूल कारण नहीं हैं। मूल कारण कुछ और हैं।

प्राचीन शरीर-विशेषज्ञ हृदय, स्नायु-संस्थान, गुर्दा—इनको शरीर के संचालक मानते थे। किंतु वर्तमान शरीरशास्त्र की खोजों ने यह प्रमाणित कर दिया कि मूल कारण इनसे भी बहुत आगे हैं। वे हैं हमारे हार्मोन (Hormone) ग्रंथियों के स्राव। हमारे शरीर की विभिन्न ग्रंथियां जो स्राव करती हैं, वे हारमोन जो निकलते हैं, वे मूल हैं, वे आधार हैं। वे शरीर और मन को जितना प्रभावित करते हैं, उतना प्रभावित हृदय, यकृत, स्नायु-संस्थान आदि नहीं करते। हार्मोन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

की खोज ने, ग्रंथियों के स्राव की खोज ने चिकित्सा जगत् में सचमुच एक क्रांति ला दी, कायाकल्प-सा कर दिया। इस खोज ने मानस-विश्लेषण की और शारीरिक विकास की विधा को दूर तक पहुंचा दिया।

ग्रंथियां हमारे शारीरिक और मानसिक विकास को प्रभावित करती हैं। कंठमणि (थायरायड) शरीर की वृद्धि, शरीर के समूचे विकास को प्रभावित करती है। यदि इसका स्राव ठीक नहीं है तो आदमी बौना का बौना रह जाता है। थायरायड से उत्पादित रस का नाम थायरेक्सिन (Thyrexin) है। यह शरीर की पुष्टि, वृद्धि और मन के विकास का घटक रस है। यदि यह रस समुचित रूप से उत्पन्न नहीं होता है तो शरीर कमजोर रह जाता है और बुद्धि का विकास नहीं हो पाता, मन का विकास नहीं होता। भय और क्रोध की अवस्था में कंठमणि का स्राव समुचित नहीं होता। इसके फलस्वरूप अनेक प्रकार की शारीरिक बीमारियां उत्पन्न होती हैं।

पिनीयल (Pineal) ठीक काम नहीं करती है तो प्रतिभा का विकास नहीं होता। इस ग्रंथि के स्राव के बिना कोई भी व्यक्ति प्रतिभाशाली नहीं हो सकता। यदि समुचित परिमाण में यह रस प्राप्त नहीं होता है तो शरीर का संतुलन, मन और शरीर तथा प्राणों का नियंत्रण ठीक नहीं रह सकता।

एड्रेनल (Adrenals) ग्रंथि का स्राव समुचित नहीं होता है तो भय, चिंता, क्रोध उत्पन्न होता है, सारी अस्त-व्यस्तताएं होती हैं। इसका रस बिना निमित्त के भी बन जाता है। उसके प्रभाव से आदमी अकारण ही चिंतित रहने लग जाता है।

इस ग्रंथि से निकलने वाला रस एड्रेनलिन (Adrenalin) कहलाता है। शारीरिक स्फूर्ति का यह निमित्त बनता है। जब कभी प्राणी खतरे के छोर पर होता है तब यह ग्रंथि अधिक स्राव करती है और वह रस अधिक मात्रा में रक्त में मिलकर प्राणी को खतरे से मुकाबला करने की शक्ति प्रदान करता है। कभी-कभी होने वाले असाधारण कार्य भी इसी के फलस्वरूप होते हैं।

गोनैड (Gonads) ग्रंथि से यौन-उत्तेजना तथा शारीरिक यौन-चिह्न उत्पन्न होते हैं। कर्म-शास्त्र की भाषा में जिसे हम 'वेद' कहते हैं, उससे इस ग्रंथि का संबंध है। लिंग-परिवर्तन—स्त्री से पुरुष हो जाना या पुरुष से स्त्री हो जाना—यह सारा इसी ग्रंथियों के स्राव पर निर्भर होता है।

ग्रंथियों के स्राव से संबंधित ये खोजें बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। शारीरिक ग्रंथियों के स्रावों के परिवर्तन के आधार पर अनेक प्रकार की विभिन्नताएं उत्पन्न होती हैं। किंतु ये ग्रंथियां या इनके स्राव भी मूल कारण नहीं हैं। इनके पीछे भी कुछ सूक्ष्म कारण हैं। ये जो रस स्राव हमारी वृत्तियों को, हमारे व्यवहार और आचरणों को प्रभावित करते हैं उनके पीछे भी कोई दूसरा सूक्ष्म कारण और है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मूलस्रोत या महास्रोत कोई दूसरा ही है। उस मूलस्रोत की खोज करने के लिए ही हमारी यह यात्रा है। इस यात्रा में चलते-चलते हम एक बिंदु पर पहुंचे हैं। उस बिंदु का, उस मूल स्रोत का, उस गंगोत्री का नाम होगा 'कर्म'। यह हमारे आचरणों का, व्यवहारों का, वृत्तियों का मूलस्रोत है, महास्रोत है।

आज केवल कर्म की पृष्ठभूमि की चर्चा की। अब मूलस्रोत का स्वरूप क्या है—इस पर आगे चर्चा करेंगे।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

९

कर्म : चौथा आयाम

- विज्ञान के चार आयाम—लंबाई, चौड़ाई, ऊंचाई, काल।
- कर्मशास्त्र के पांच आयाम—लंबाई, चौड़ाई, ऊंचाई, अदृश्य, अमूर्त्त।
- ग्रंथियों का संबंध स्थूल शरीर से।
- कर्म का संबंध सूक्ष्म शरीर से।
- कुछ आकस्मिक-सा लगता है किंतु वह भी आकस्मिक नहीं है।
- प्रवृत्ति और परिणाम को अलग नहीं किया जा सकता।
- आज की प्रवृत्ति : अतीत का परिणाम। आज का परिणाम : अतीत की प्रवृत्ति।
- कार्य-कारण की मीमांसा में तीनों अपेक्षित—वर्तमान, अतीत और भविष्य।

•

कुछ समय पहले तक विज्ञान तीन आयामों से परिचित था—लंबाई, चौड़ाई और ऊंचाई। ये हमारे जगत् के तीन आयाम हैं। प्रसिद्ध वैज्ञानिक अलबर्ट आइंस्टीन के पश्चात् चौथे आयाम की स्थापना हुई। आज का वैज्ञानिक जगत् चार आयामों से परिचित है। चौथा आयाम है—काल, काल की अवधारणा। इससे बहुत क्रांतिकारी परिवर्तन हुआ, अतीत की यात्रा का उद्घाटन हो गया। इससे पीछे की ओर लौटना संभव हो गया।

कर्म-शास्त्र के क्षेत्र में चौथे आयाम की बात पहले से ही स्वीकृत थी और

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पांचवें आयाम की बात भी बहुत स्पष्ट थी। उसमें चौथा आयाम है—अदृश्य और पांचवां आयाम है—अमूर्त।

एक तत्त्व ऐसा भी है जिसकी कोई लंबाई नहीं, चौड़ाई नहीं और ऊंचाई भी नहीं। वह किसी भी उपकरण के द्वारा दृश्य नहीं है। सूक्ष्मतम उपकरण भी उसे नहीं पकड़ पाते, देख नहीं पाते। उसे हम अदृश्य इसलिए कहते हैं कि वह हमारे चर्म-चक्षुओं द्वारा दृश्य नहीं है। वह दृश्य है अतीद्रिय शक्तियों के द्वारा।

पांचवां आयाम है—अमूर्त। वह वर्ण, रस, गंध और स्पर्श से अतीत है। इस अमूर्त के साथ कर्म का संबंध है, इसलिए हमें पांचवें आयाम तक यात्रा करनी पड़ेगी।

पहले चौथे आयाम की यात्रा पर चलें। हमारे शरीर में जो ग्रंथियों के स्राव हैं, उनका कार्य हमारे स्थूल शरीर में ही होता है। उनका पूरा संबंध स्थूल शरीर से ही है। ये ग्रंथियां स्थूल शरीर के अवयव हैं। इनसे स्थूल शरीर और मन प्रभावित होता है।

कर्म का संबंध स्थूल-शरीर से नहीं है। उसका संबंध है सूक्ष्म शरीर से। कर्म के पुद्‌गल बहुत सूक्ष्म हैं। ये ग्रंथियों के स्राव अष्टस्पर्शी—आठ स्पर्श वाले हैं। वे आठ स्पर्श हैं—शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, गुरु, लघु, मृदु और कठोर। कर्म के पुद्‌गल सूक्ष्म हैं। वे चार स्पर्श वाले हैं। वे चार स्पर्श हैं—शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष। प्रत्येक परमाणु कर्म नहीं बन सकता। वे ही परमाणु कर्म बन सकते हैं जो सूक्ष्म होते हैं, जिनमें केवल चार ही स्पर्श होते हैं, जो केवल चतुःस्पर्शी होते हैं। स्थूल परमाणु कर्म नहीं बन सकते। स्थूल परमाणुओं में कर्म बनने की और उस अमूर्त की शक्तियों को आवृत्त करने की क्षमता नहीं है। किंतु उन सूक्ष्म परमाणुओं में वह शक्ति है, जिनमें केवल चार स्पर्श ही होते हैं। हमारी ग्रंथियों के जितने स्राव हैं, उनमें आठों स्पर्श हैं। किंतु जो कर्म के पुद्‌गल हैं, वे चार स्पर्श वाले ही होंगे। इस प्रकार पुद्‌गलों के दो वर्ग हो गये—एक चतुःस्पर्शी पुद्‌गलों का वर्ग और दूसरा अष्टस्पर्शी पुद्‌गलों का वर्ग। चतुःस्पर्शी पुद्‌गल सूक्ष्म हैं। वे किसी भी सूक्ष्मतम उपकरण के द्वारा अदृश्य हैं। आज अनेक ऐसे सूक्ष्म उपकरण आविष्कृत हुए हैं, जिनके द्वारा चर्म चक्षुओं से नहीं दीखने वाले पदार्थ भी देखे जा सकते हैं। किंतु कर्म पुद्‌गल, कर्म के परमाणु इतने सूक्ष्म हैं कि वे किसी भी उपकरण के द्वारा नहीं देखे जा सकते। वे किसी भी उपकरण के द्वारा ग्राह्य नहीं हो सकते। इस भाषा में उन्हें अदृश्य भी कहा जा सकता है।

यह सारी अदृश्य जगत् की चर्चा है। यह उस जगत् की चर्चा है, जो हमारी इंद्रियों का विषय नहीं है, जो हमारे द्वारा आविष्कृत उपकरणों का विषय नहीं है। उसे जानने के लिए विशिष्ट अतीद्रिय ज्ञान चाहिए।

वैज्ञानिकों ने आज ऐसे उपकरण बनाये हैं जिनके माध्यम से मृत्यु के समय

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्थूल-शरीर से निकलने वाली आत्मा का फोटो लिया जा सकता है। उस समय आत्मा अकेली नहीं होती। उसके साथ सूक्ष्म-शरीर होते हैं।

वैज्ञानिक मानते हैं कि वह आत्मा का फोटो है। आत्मा का फोटो नहीं लिया जा सकता। वह अमूर्त है। अमूर्त को कोई भी उपकरण ग्रहण नहीं कर सकता। किंतु आत्मा जब एक स्थूल शरीर को छोड़कर बाहर निकलती है, तब उसके साथ सूक्ष्म शरीर अवश्य ही रहते हैं। वे सूक्ष्म शरीर दो हैं—तैजस और कार्मण। तैजस शरीर है तेजोमय पुद्‌गलों का और कार्मण शरीर है कर्म पुद्‌गलों का। कर्म का शरीर निश्चित ही उसके साथ रहता है। कर्म-शरीर के बिना नया जन्म नहीं होता, नया शरीर प्राप्त नहीं होता। तैजस शरीर का फोटो लिया जा सकता है, केवल आत्मा का फोटो नहीं लिया जा सकता।

कर्म की चर्चा का अर्थ है—अतीत की चर्चा। हमारी वर्तमान की यात्रा से कर्म का कोई संबंध नहीं है। उसका संबंध है अतीत की यात्रा से। अतीत में जो हमारी प्रवृत्ति हुई है, अतीत में जो कुछ हमने किया है, उसका संबंध हमारी आत्मा से स्थापित हो जाता है। यह है वर्तमान के माध्यम से अतीत को समझने का प्रयत्न।

कर्म पौद्‌गलिक है। महावीर की यह एक महत्त्वपूर्ण स्थापना है कि कर्म पौद्‌गलिक है। महावीर ही एक अकेले व्यक्ति हुए हैं जिन्होंने यह सिद्धांत स्थापित किया कि कर्म पौद्‌गलिक है। अन्यान्य कर्मवादी दार्शनिकों ने कर्म को वासना के रूप में स्वीकार किया है, संस्कार के रूप में स्वीकार किया है, किंतु पौद्‌गलिक रूप में किसी ने स्वीकार नहीं किया।

कर्म एक रासायनिक प्रक्रिया है। जैसे हमारी ग्रंथियों की रासायनिक प्रक्रिया होती है, वैसे ही कर्म की भी रासायनिक प्रक्रिया होती है। कर्म पौद्‌गलिक पदार्थ है। कर्म न तो कोई वासना है, न कोई संस्कार है। वासना और संस्कार ये हमारे ज्ञान के क्रम में होने वाली कड़ियां हैं। हम किसी वस्तु को जानते हैं। सबसे पहले अवग्रह होता है। उस वस्तु का सामान्य ग्रहण होता है। अवग्रह के बाद ईहा होती है। गृहीत वस्तु पर विमर्श होता है कि यह वस्तु क्या है? कोई भी नयी वस्तु को हमने देखा, जाना, ग्रहण किया। फिर विमर्श प्रारंभ होता है कि यह वस्तु क्या है? क्या होनी चाहिए? विमर्श करते-करते हम निष्कर्ष पर पहुंचते हैं। अनेक संशयों में से गुजरते हुए, अनेक तर्क-वितर्क की घाटियों को पार करते हुए, जब कोई निश्चित प्रमाण मिलता है, निश्चित आधार प्राप्त होता है, तब हम निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि यह वस्तु अमुक है, यह अवाय है, निश्चयात्मक ज्ञान है। अब वस्तु के प्रति संशय नहीं रहता, निश्चय हो जाता है कि यह वही है। यह आदमी ही है, यह खंभा ही है, आदि-आदि। निश्चय के पश्चात् धारणा होती है। यह चौथा क्रम है ज्ञान का। जो निश्चय होता है वह हमारी धारणा में स्थिर हो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जाता है। वह हमारे स्मृति-कोष्ठों में चला जाता है। धारणा लंबे समय तक टिक जाती है। अवग्रह में थोड़ा समय लगता है, ईहा में थोड़ा समय लगता है, अवाय में कुछ ज्यादा समय लगता है, किंतु धारणा दीर्घकाल तक चलती है। उसका समय सबसे लंबा है। ग्रहण, विमर्श और निश्चय का कालमान अल्प होता है। धारणा का कालमान दीर्घ होता है। वह वैसी-की-वैसी हजारों वर्षों तक बनी रह सकती है। धारणा का ही एक नाम है—वासना। धारणा का ही एक नाम है—संस्कार। धारणा का ही एक नाम है—अविच्युति। वह च्युत नहीं होती। वह टिकी रहती है। वह वासना बन जाती है। वह संस्कार बन जाती है। वही धारणा, वासना या संस्कार, किसी निमित्त को पाकर जब उद्‌बुद्ध होती है, जागृत होती है, तब स्मृति होती है। स्मृति का हेतु है—वासना। स्मृति का हेतु है—संस्कार। स्मृति का हेतु है—धारणा।

धारणा अच्छी है या बुरी, इसका कोई प्रश्न नहीं है। धारणा अच्छा परिणाम देती है या बुरा परिणाम—इसका भी प्रश्न नहीं है। वह मात्र स्मृति का कारण बनती है। कोई परिस्थिति, कोई परिवेश, कोई हेतु ऐसा मिला और जो बात स्मृति-कोष्ठ में थी, धारणा-पटल में थी, वह जाग गयी और स्मृति के रूप में उभर आयी। हमें ज्ञान हो गया—यह वह है। जो शब्द सुना था, जो दृश्य देखा था, पूरा-का-पूरा चित्र स्मृति के आधार पर हमारे सामने आ जाता है। मनोविज्ञान इसे 'स्मृति-चित्र' कहता है। स्मृति का प्रतिरूप हमारे सामने आ जाता है। जैसा देखा था, जैसा सुना था, वैसा-का वैसा स्मृति-पटल पर उभर आता है। कभी-कभी ऐसा होता है कि संगीत के जो मधुर स्वर कभी सुने थे, वे किसी निमित्त को पाकर स्मृति-पटल पर उभरते हैं और तत्काल कानों में वे स्वर गूंजने लग जाते हैं। यह केवल स्मृति है। इसी प्रकार जो दृश्य वर्षों पूर्व देखा था, जो स्मृति-पटल पर अंकित था, वह निमित्त के मिलते ही साक्षात्-सा हो जाता है। आकृति दीखने लग जाती है। मार्ग, मकान, बगीचे सब-कुछ दीखने लग जाते हैं। ये सारे स्मृति के रूप हैं। ये सारे वासना और संस्कार के कार्य हैं। इनके साथ हम अच्छाई या बुराई को नहीं जोड़ सकते। यह वासना का कार्य नहीं है। संस्कार का भी यह कार्य नहीं है। प्रश्न होता है कि यह कार्य किसका है?

स्मृति के उभरने के बाद, अच्छाई और बुराई को जोड़ने वाली एक तीसरी सत्ता है। वह है कर्म। कर्म न वासना है, न संस्कार है, न धारणा है और न स्मृति। वह इन सबसे भिन्न है, पृथक् है। यह भिन्न इसलिए है कि ज्ञान के क्रम में कर्म नहीं बनता। केवल ज्ञान का जो क्रम है, कोश जानने का जो क्रम है, वहां कर्म की रचना नहीं होती, कर्म का संबंध हमारी आत्मा के साथ स्थापित नहीं होता। यह संबंध कब और कैसे स्थापित होता है, इस प्रश्न पर हमें विचार करना है।

महावीर से पूछा गया—"भंते! कर्म का संबंध कितने स्थानों से होता है?"

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

महावीर ने कहा—"दो स्थानों से कर्म का संबंध होता है। एक स्थान है राग का और दूसरा स्थान है द्वेष का। इन दो स्थानों से आत्मा के साथ कर्म का संबंध होता है। यह राग और द्वेष से स्थापित होने वाला संबंध है। कोरे ज्ञान से कोई संबंध नहीं होता, वासना से कोई संबंध नहीं होता, संस्कार से कोई संबंध नहीं होता, स्मृति से कोई संबंध नहीं होता। जब इनकी पृष्ठभूमि में राग नहीं होता, द्वेष नहीं होता तो कर्म का संबंध स्थापित नहीं होता। हम कितना ही जानें, कर्म का संबंध नहीं होगा। जैसे-जैसे चेतना का विकास होता चला जायेगा, जानने की हमारी क्षमता बढ़ती चली जायेगी, तब भी कर्म का कोई संबंध स्थापित नहीं होगा। कर्म का संबंध होगा राग से। कर्म का संबंध होगा द्वेष से।

दो प्रकार की अनुभूतियां हैं। एक है प्रीत्यात्मक अनुभूति और दूसरी है अप्रीत्यात्मक अनुभूति। प्रीत्यात्मक अनुभूति या संवेदना को राग कहते हैं और अप्रीत्यात्मक अनुभूति या संवेदना को द्वेष कहते हैं। प्रीति और अप्रीति—इनके अतिरिक्त तीसरी कोई संवेदना नहीं होती। सारी अनुभूतियां, सारी संवेदनाएं—इन दो अनुभूतियों, इन दो संवेदनाओं में समा जाती हैं। क्रोध, मान, माया और लोभ—यह इन्हीं का विस्तार है। भय, शोक, घृणा, हास्य, वासना (काम-वासना) ये सारे इन्हीं दो अनुभूतियों का विस्तार है, प्रपंच है, किंतु स्वतंत्र अनुभूतियां नहीं हैं। सारी अनुभूतियां इन दो में समा जाती हैं।

जैन आचार्यों ने क्रोध और अभिमान को द्वेषात्मक अनुभूति और माया तथा लोभ को रागात्मक अनुभूति माना है। राग और द्वेष—यह सामान्य वर्गीकरण है। जब विभिन्न दृष्टियों से विचार किया गया, नयों की दृष्टियों से विचार किया गया तो इस वर्गीकरण का विस्तार हुआ। संग्रहनय की दृष्टि से दो ही वृत्तियां हैं, दो ही अनुभूतियां हैं—एक है रागात्मक, एक है द्वेषात्मक। व्यवहार नय और ऋजुसूत्र नय की दृष्टि से विचार किया गया तो इस वर्गीकरण में परिवर्तन आ गया। यह फलित हुआ कि अभिमान द्वेषात्मक है क्योंकि अभिमान जो है वह दूसरे के गुणों के प्रति असहिष्णुता का प्रतीक है। व्यक्ति दूसरे को सहन नहीं कर पाता इसलिए अभिमान पैदा होता है। यह द्वेष है, अप्रीत्यात्मक संवेदना है। परंतु एक प्रश्न होता है, क्या मान प्रीत्यात्मक नहीं होता? मान प्रीत्यात्मक भी हो सकता है। दूसरे के प्रति हीनता का भाव है असहिष्णुता का भाव है, इसलिए तो मान अप्रीत्यात्मक है। किंतु जब अपने उत्कर्ष की अनुभूति होती है, उस समय वह प्रीत्यात्मक बन जाता है। उत्कर्ष कितना अच्छा लगता है! मानवीय चेतना जब अपने उत्कर्ष का अनुभव करती है तब वह अनुभूति अप्रीत्यात्मक नहीं होती, वह प्रीत्यात्मक होती है। इसलिए मान प्रीत्यात्मक भी है और अप्रीत्यात्मक भी है। दूसरे की हीनता के प्रदर्शन में वह अप्रीत्यात्मक होता है और अपने उत्कर्ष की अनुभूति में वह प्रीत्यात्मक होता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

माया को रागात्मक माना गया है। माया-काल में चेतना की जो अनुभूति होती है वह प्रिय लगती है कि मैंने बहुत समझदारी से काम किया कि वह परास्त हो गया, प्रताड़ित हो गया। उस समय सुखद अनुभव होता है, प्रीति का अनुभव होता है। माया प्रीत्यात्मक होती है। यह एक बात है।

माया वंचनात्मक चेतना है। यह दूसरे को ठगने का काम करती है। यह परोपघात है। जो परोपघात होगा वह निश्चित ही अप्रीत्यात्मक होगा, द्वेषात्मक होगा। इस प्रकार माया की अनुभूति केवल प्रीत्यात्मक या रागात्मक ही नहीं है, वह अप्रीत्यात्मक या द्वेषात्मक भी है।

इसी प्रकार लोभ प्रीत्यात्मक तो है ही, क्योंकि वह एक आसक्ति है, कुछ लेने की भावना है, अपने लिए अर्जित करने की भावना है। बड़ी प्रियता है उसमें। किंतु जब दूसरे के स्व को हड़पने के लिए चेतना काम करती है, दूसरे के अधिकारों को छीनने की भावना होती है, दूसरे के अधिकार में आये हुए पदार्थ को छीनने की इच्छा होती है, तब लोभ अप्रीत्यात्मक बन जाता है। परोपघातक बन जाता है।

माया, मान और लोभ—ये तीनों प्रीत्यात्मक भी होते हैं और अप्रीत्यात्मक भी होते हैं। क्रोध ही एक ऐसा है जो कोरा अप्रीत्यात्मक ही होता है। उसका संबंध है द्वेष से, अप्रीति से। प्रीति से उसका सबंध नहीं जुड़ता। राग से उसका संबंध नहीं जुड़ता।

इस प्रकार हमारी सारी अनुभूतियां, हमारी सारी संवेदनाएं प्रीत्यात्मक या अप्रीत्यात्मक—इन दो चेतनाओं में समाहित हो जाती हैं।

इन सारी अनुभूतियों या संवेदनाओं का कारण है—रागात्मक चेतना और द्वेषात्मक चेतना। दो ही कारण हैं। ये ही उन कर्म पुद्गलों को आकृष्ट करते हैं। इनके अतिरिक्त कोई ऐसी शक्ति नहीं है जो उन कर्म-पुद्गलों को अपनी ओर आकृष्ट कर सके। केवल इन दो अनुभूतियों में वह शक्ति निहित है जो उन कर्म-पुद्गलों को खींचती है और आत्मा के साथ उनका संबंध स्थापित करती है।

ऐसा क्यों होता है? क्या यह आत्मा के लिए इष्ट है? प्रश्न इष्ट और अनिष्ट का नहीं है। यह एक उलझन है, एक चक्र है जिसका मुंह नहीं निकाला जा सकता। यह एक वलय है। पता नहीं लगाया जा सकता कि इसका आदि कहां है और अंत कहां है? मुंह कहां है और छोर कहां है? यह उलझन है कि क्या आत्मा में राग-द्वेष है, इसलिए कर्म-पुद्गल आ रहे हैं या कर्म आ रहे हैं, इसलिए राग-द्वेष चल रहा है। राग-द्वेष के आधार पर कर्म का प्रवेश और कर्म के आधार पर राग-द्वेष का जीवित रहना, चिरजीवी होना—यह एक वलय है। राग-द्वेष के चिर-जीवन का कारण है कर्म और कर्म के प्रवेश का कारण है—राग-द्वेष। यह एक पूरा चक्र है। यह निरंतर गतिमान् है, कहीं टूटता नहीं। राग-द्वेष से कर्म और कर्म से राग-द्वेष चलता रहता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यह एक वृत्त है। इसमें सारी स्थितियां पलती जा रही हैं। यही वृत्त हमारे सभी आचरणों का आधार बनता है। यह स्थिति तब तक चलती रहती है जब तक हम संज्ञातीत चेतना तक नहीं चले जाते, जब तक हमारी चेतना वीतराग नहीं बन जाती। जब तक वीतराग चेतना प्राप्त नहीं होती, संज्ञातीत चेतना उपलब्ध नहीं होती तब तक संज्ञा की चेतना, राग-द्वेष की चेतना चलती रहती है, यह चक्र निरंतर गतिशील रहता है। हमारे सारे आचरण उससे प्रभावित रहते हैं।

हम किसी भी घटना का या मानवीय आचरण की केवल परिस्थिति, हेतु या निमित्त के आधार पर व्याख्या नहीं कर सकते। केवल शारीरिक या रासायनिक परिवर्तनों के आधार पर व्याख्या नहीं कर सकते। उनकी व्याख्या के लिए हमें अतीत को देखना होता है। दूसरे शब्दों में, कर्म के विपाक की व्याख्या करने के लिए, हमें कर्म के बीज को देखना होगा। हमें देखना होगा कि इस विपाक या परिणाम का बीज कहां है और क्या है ? उसके बिना उसकी पूरी व्याख्या नहीं की जा सकती। कभी-कभी हमें लगता है कि यह आकस्मिक हो गया। किंतु कुछ भी आकस्मिक नहीं होता। उसके पीछे एक हेतु होता है, एक कारण होता है। छिपा हुआ जो बीज है, वह कारण है। कारण को हम जब तक ठीक नहीं समझ लेते तब तक उस आचरण का ठीक चित्र प्रस्तुत नहीं कर सकते। एक आदमी सामान्य जीवन जीते-जीते एक असामान्य आचरण कर लेता है। हम आश्चर्य में पड़ जाते हैं—अरे, वह बहुत बड़ा आदमी था। ऐसा काम वह कर नहीं सकता। उससे ऐसा काम हो नहीं सकता। हम एक आश्चर्य के द्वारा उस व्यक्ति के साथ उस आचरण का संबंध जोड़ना नहीं चाहते, किंतु तोड़ना चाहते हैं। यह कोई आश्चर्य नहीं है। आप पचास वर्ष के जीवन को देखकर, वर्तमान और आंखों के सामने गुजरने वाले जीवन को देखकर इतना आश्चर्य नहीं कर सकते। यदि हमारा जीवन केवल पचास वर्ष का ही जीवन होता तो सहज ही हमें यह आश्चर्य हो सकता था कि 'ऐसा नहीं होना चाहिए था।' किंतु यह आश्चर्य ही एक बिंदु है और उस बिंदु पर हम पहुंचकर कुछ रुक सकते हैं तथा अतीत की ओर लौटने को बाध्य हो सकते हैं। तब हमें ज्ञात होता है कि इस व्यक्ति का जीवन पचास वर्ष का ही नहीं है, और पीछे का है। इसका तात्पर्य यह है कि इस व्यक्ति का आचरण, पचास वर्ष में होने वाले जो व्यवहार हैं, उनका प्रतिफलन ही नहीं है किंतु यह और किसी तत्त्व का प्रतिफलन है, जहां से कि यह फलित हो रहा है।

अतीत का दर्शन बहुत विचित्र होता है। आप यह न मानें कि वर्तमान का क्षण समाप्त होते ही सब कुछ समाप्त हो जाता है। संसार में दो प्रकार के पदार्थ हैं—विनाशी और अविनाशी, नश्वर और अनश्वर, नित्य और अनित्य। हम केवल नित्य को ही मानकर न चलें, केवल अनित्य को ही मानकर न चलें। नित्य और अनित्य, नश्वर और अनश्वर, शाश्वत और अशाश्वत—दोनों की संगति के

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आधार पर कुछ निष्कर्ष निकालें तो हमारे निष्कर्ष सही होंगे। अन्यथा वे निष्कर्ष गलत साबित होंगे। यह नित्य और अनित्य की जो युति है, यह क्षणिक और अक्षणिक की जो युति है, उस युति के आधार पर हम निष्कर्ष निकालें तो वह यह होगा कि जिसका अस्तित्व है, वह कुछ भी नष्ट नहीं होता। विज्ञान की भाषा में कहा जाता है कि ऊर्जा कभी नष्ट नहीं होती। पदार्थ भी कभी नष्ट नहीं होता। जो जितना है, वह उतना ही था और उतना ही रहेगा। भगवान् महावीर ने यही कहा—द्रव्य कभी नष्ट नहीं होता। पर्याय बदलती रहती है। वह परिवर्तनशील है। उसमें रूपांतरण होता रहता है। मूल कभी नष्ट नहीं होता। सत्ता कभी नष्ट नहीं होती। जिसका अस्तित्व स्थापित है, वह कभी नष्ट नहीं होता। पर्याय भी चिरकालिक होते हैं। वे भी तत्काल नष्ट नहीं होते।

हमारे शरीर से तदाकार प्रतिकृतियां निकलती हैं। प्रत्येक प्राणी के शरीर से ही नहीं, किन्तु प्रत्येक पदार्थ से उसी आकार की प्रतिकृतियां निकलती हैं और वे आकाश में फैल जाती हैं। हमारे चिन्तन की प्रतिकृतियां निकलती हैं, उनके चित्र निकलते हैं और वे सब आकाश में फैल जाते हैं। हम बोलते हैं। भाषा के पुद्गल आकाश में फैल जाते हैं और वे हजारों-हजारों वर्षों तक उसी रूप में बने रहते हैं। यही तो आधार बनता है अतीत की यात्रा का। यही चौथे आयाम का आधार बनता है।

आज हम अपनी चेतना को विकसित करें, हम अवधिज्ञान और मन:पर्यव ज्ञान का विकास करें, जिससे कि हजारों वर्ष पहले के शरीर की आकृतियों को देख सकें, उसे साक्षात् कर सकें। हजारों-हजारों वर्ष पहले की जो चिंतन की प्रतिकृतियां हैं, उनको देखकर हम उन विचारों को जान सकें। हजारों-हजारों वर्ष पहले बोली गयी भाषा की जो वर्गणाएं हैं, भाषा के जो पुद्गल हैं, उन पुद्गलों को हम सुन सकें। हम देख सकें, सुन सकें और पढ़ सकें कि ये भाषा की प्रतिकृतियां हैं, ये मन की प्रतिकृतियां हैं और ये शरीर की प्रतिकृतियां हैं। चेतना के विकास के द्वारा यह संभाव्य है। ऐसा भी संभव है कि कोई वैज्ञानिक सूक्ष्मतम यंत्रों का आविष्कार कर, उनके माध्यम से यह संभव बना सके।

वैज्ञानिक जगत् में यह प्रयत्न चल रहा है कि राम, कृष्ण, महावीर, बुद्ध आदि-आदि महापुरुषों की वाणी के पुद्गलों को पकड़कर हम उन्हें साक्षात् सुनें। प्रयत्न चल रहा है। सफल कब होंगे—यह कहा नहीं जा सकता। पर ऐसा होना सम्भव है। यह असंभव बात नहीं है। संभव है, क्योंकि आधार निश्चित है। जब भाषा मौजूद है तो प्रश्न भाषा का नहीं रहा, प्रश्न उसे पकड़ने का रहा। यदि हमें पकड़ने का अच्छा माध्यम मिल जाये तो हम शब्दों को सुन सकते हैं, आकृतियों को साक्षात् देख सकते हैं। आत्मा को नहीं देख सकते, किन्तु उन महापुरुषों के

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शरीर की आकृतियों को देख सकते हैं। उनके द्वारा जो सोचा गया था, जो कहा गया था, उसे जान सकते हैं, पढ़ सकते हैं।

इसी प्रकार कर्म के जो परमाणु हैं, जो आत्मा के साथ संबंध स्थापित करते हैं और विपाक के बाद वापस चले जाते हैं, वे भी आकाश में भरे हुए हैं। उनके आधार पर भी यह निर्णय लिया जा सकता है कि इस व्यक्ति का यह विपाक है तो इसने अतीत में क्या किया था और किस प्रकार कितनी मात्रा के राग-द्वेष के द्वारा इन पुद्गलों के द्वारा, आत्मा के साथ संबंध स्थापित किया था। इनका किस प्रकार का विपाक हुआ—यह भी जाना जा सकता है।

हमने सुना है, पढ़ा है कि एक व्यक्ति अतीन्द्रियज्ञानी ऋषि-मुनि के पास जाता है, तीर्थंकर के पास जाता है, केवलज्ञानी के पास जाता है और पूछता है—'भंते! अभी मैं यह विपाक भोग रहा हूं। आप मुझे बताएं कि मैंने क्या किया था, जिसका यह विपाक मुझे भोगना पड़ रहा है? यह किसका परिणाम है?' तब वे अतीन्द्रियज्ञानी कहते हैं—तुमने अमुक जीवन में अमुक प्रवृत्ति की थी, उसी का यह परिणाम है, विपाक है।

भगवान् महावीर के पास सम्राट् श्रेणिक का पुत्र—मेघकुमार दीक्षित हुआ। वह मुनि बना। जीवन के प्रति कुछ अधीरता हो गयी। वह भगवान् के पास आया और बोला—'भंते! आपका साधुत्व आप संभालें। मैं घर जा रहा हूं।' महावीर ने कहा—मेघकुमार! बहुत आश्चर्य की बात है। आज तुम मनुष्य हो, एक सम्राट् के पुत्र हो, मेरे शिष्य हो। मुनि बन गये, फिर भी थोड़े से कष्ट से घबरा गये? इतने अधीर हो गये? तुम्हें याद नहीं है, हाथी के जन्म में तुमने कितने भयंकर कष्ट सहे थे? भूल गये?' भूला कौन था! कोई भूला नहीं था। बस, जो छिपा पड़ा था उसकी स्मृति दिलाने की जरूरत थी। मेघकुमार को पुनर्जन्म की स्मृति हो गयी। हाथी के जन्म में सहे सारे कष्ट चित्रवत प्रत्यक्ष हो गये। अब सब कुछ ठीक हो गया।

हम अतीत से विच्छिन्न होकर केवल वर्तमान की व्याख्या नहीं कर सकते। प्रवृत्ति और परिणाम—इन दोनों को तोड़ा नहीं जा सकता, काटा नहीं जा सकता। जो परिणाम आज दृश्य है, उसके पीछे एक प्रवृत्ति है। परिणाम और प्रवृत्ति, प्रवृत्ति और परिणाम। आज की प्रवृत्ति अतीत का परिणाम, आज का परिणाम अतीत की प्रवृत्ति। जो वर्तमान क्षण की प्रवृत्ति है, उसके पीछे अतीत का संबंध जुड़ा हुआ है, हेतु जुड़ा है, इसलिए वह परिणाम भी है और भावी परिणाम का वह हेतु भी है, इसलिए वह प्रवृत्ति भी है। वह परिणाम भी है और प्रवृत्ति भी है। वह कार्य भी है और कारण भी है। अतीत का कारण उसके पीछे है इसलिए वह कार्य है और भविष्य के कार्य का वह हेतु है, इसलिए वह कारण भी है।

हम वर्तमान, अतीत और भविष्य—इन तीनों की संघटना में जी सकते हैं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और सत्य को पकड़ सकते हैं। केवल वर्तमान के द्वारा नहीं पकड़ सकते।

साधना का एक सूत्र है—वर्तमान में रहो, वर्तमान में रहो। वर्तमान में रहना सीखो। बहुत सुन्दर बात है साधना की दृष्टि से। साधना की दृष्टि से वर्तमान में रहना यानी भावक्रिया करना, जिस समय जो काम कर रहे हैं, उसी में रहना, न अतीत में जाना, न स्मृति में जाना और न भविष्य में जाना, न कल्पना में जाना। कल्पना की उड़ान भी नहीं करना है और स्मृति के समुद्र में गोते भी नहीं लगाना है। किन्तु वर्तमान के बिन्दु पर खड़े रहना है, स्थित रहना है। साधना की दृष्टि से बहुत अच्छा है वर्तमान में रहना। हम अतीत के पंख को भी तोड़ डालें और भविष्य के पंख को भी तोड़ डालें। दोनों पंखों को तोड़ डालें। केवल वर्तमान में रहें।

किन्तु जहां कार्य-कारण की मीमांसा है, जहां सचाई को उद्‌घाटित करने का प्रश्न है वहां केवल वर्तमान से काम नहीं चल सकता। वहां अतीत का भी उतना ही महत्त्व है जितना कि वर्तमान का है। वहां भविष्य भी उतना ही महत्त्वपूर्ण होता है जितना वर्तमान महत्त्वपूर्ण है। काल की अखंडता को लेकर ही हम कार्य, कारण, प्रवृत्ति और परिणाम को जान सकते हैं। काल की अखंडता के द्वारा ही हम उन्हें ठीक से समझ सकते हैं, पकड़ सकते हैं।

कर्म का संबंध अतीत से इसलिए है कि वह दीर्घकाल तक आत्मा के साथ जुड़ा रहता है। वह संबंध स्थापित करता है और संबंध स्थापित करने के बाद लंबे समय तक जुड़ा रहता है। कर्म का संबंध वर्तमान से इसलिए है कि वह लंबे समय तक साथ रहने के बाद एक दिन विसर्जित हो जाता है, सदा साथ नहीं रहता। जो आगन्तुक होता है, वह सदा साथ नहीं रहता। सदा वही रह सकता है जो स्थायी है। स्थायी वही रह सकता है जो सहज होता है। जो आया हुआ है, वह सहज नहीं होता। कर्म सहज नहीं होता, वह स्वभाव नहीं है। सहज है चेतना। सहज है आनन्द। सहज है शक्ति। आत्मा का जो स्वाभाविक गुण है, वह है चैतन्य। कर्म आया हुआ है, सहज नहीं है। वह एक दिन आता है। संबंध स्थापित करता है और जब तक अपना प्रभाव पूरा नहीं डाल देता तब तक बना रहता है। जिस दिन अपना प्रभाव डाल दिया, उसकी शक्ति क्षीण हो जाती है और वह चला जाता है, विसर्जित हो जाता है। विसर्जित होने का क्षण वर्तमान का क्षण है और आने का क्षण अतीत का क्षण है। विनाश का क्षण वर्तमान का क्षण है और संबंध-स्थापना का क्षण अतीत का क्षण है। इन दोनों क्षणों की हम ठीक व्याख्या करें तो कर्म का पूरा सिद्धांत हमारी समझ में आ सकेगा। इन दोनों की लंबाई में हमें कर्म की यात्रा करनी है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१०

कर्म की रासायनिक प्रक्रिया (१)

- अमूर्त आत्मा के साथ मूर्त कर्म का संबंध कैसे ?
- दो प्रकार के चित्त—भाव चित्त और पौद्‌गलिक चित्त। भाव चित्त का संवादी है—पौद्‌गलिक चित्त और पौद्‌गालिक चित्त का संवादी है—स्थूल शरीर।
- भावकर्म—जैविक रासायनिक प्रक्रिया।
- द्रव्यकर्म—सूक्ष्म शरीर की रासायनिक प्रक्रिया।
- बन्ध क्या है ?

  भावकर्म के द्वारा पुद्‌गलों का व्यक्ति के प्रभाव-क्षेत्र में आना।

•

आत्मा अमूर्त है और कर्म मूर्त। अमूर्त आत्मा के साथ मूर्त कर्म का संबंध कैसे स्थापित होता है, सहज ही यह प्रश्न उभरता है। किन्तु अमूर्त और मूर्त में ऐसा विरोध नहीं है कि अमूर्त का मूर्त के साथ और मूर्त का अमूर्त के साथ संबंध न हो। संबंध हो सकता है। आकाश अमूर्त है, किन्तु आकाश का योग प्रत्येक पदार्थ को मिलता है। पदार्थों के आधार पर आकाश का विभाजन होता है। तर्कशास्त्र का एक प्रसिद्ध वाक्य है—घटाकाश, पटाकाश। आकाश असीम है। फिर भी एक है घड़े का आकाश, एक है कपड़े का आकाश, एक है मकान का आकाश—न जाने आकाश की कितनी सीमाएं बन जाती हैं पदार्थों के आधार पर। आकाश का अवगाह, आकाश का आधार प्रत्येक पदार्थ को मिलता है। आकाश से सब द्रव्य

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उपकृत हैं। यदि आकाश नहीं होता, यह शून्य नहीं होता तो कहीं भी रहने का स्थान नहीं होता। अमूर्त का मूर्त के प्रति उपकार है और मूर्त के द्वारा अमूर्त का परिणमन भी होता है, इसलिए यह बात मान्य नहीं हो सकती कि अमूर्त का मूर्त में कोई संबंध स्थापित नहीं हो सकता। अचेतन और चेतन में भी संबंध स्थापित होता है। चेतन का अचेतन के प्रति कुछ उपकार है तो अचेतन का चेतन के प्रति भी कुछ उपकार है। दोनों एक-दूसरे से उपकृत होते हैं। उपकार की बात को शायद आप स्वीकार कर लें, यह संभव है। किन्तु प्रश्न है—एकात्मकता का। यह एकात्मकता कैसे स्थापित होती है ? आत्मा और कर्म में, चेतना और पुद्‌गल में एकात्मकता कैसे स्थापित हो सकती है ? ये एक कैसे बन सकते हैं ? एकात्मकता दो विरोधी द्रव्यों में कभी नहीं होती। एकात्मकता नहीं होती, संबंध हो सकता है। तादात्म्य नहीं हो सकता, संबंध हो सकता है। कर्म के पुद्‌गल कभी चेतन नहीं बन सकते और चेतन कभी कर्म-पुद्‌गल नहीं बन सकता। उनमें एकात्म्य-भाव नहीं हो सकता। पुद्‌गल पुद्‌गल ही रहेंगे, कर्म कर्म ही रहेंगे। चेतना चेतना ही रहेगी। कर्म पुद्‌गलों के द्वारा चेतना के स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं होगा। और चेतना के द्वारा कर्म-पुद्‌गलों के स्वरूप में भी कोई परिवर्तन नहीं होगा। दोनों का संयोग हो सकता है। दोनों का संबंध हो सकता है। संयोगकृत या संबंधकृत परिवर्तन दोनों में होगा। चेतना कर्म-पुद्‌गलों की निमित्त बनेगी। और कर्म-पुद्‌गल चेतना के निमित्त बनेंगे।

परिवर्तन स्वभावगत होता है। कर्तृत्व उपादानगत होता है। चेतना का अपना उपादान है और कर्म-पुद्‌गलों का अपना उपादान है। उपादान में कोई परिवर्तन नहीं ला सकता। चेतना के उपादान में कर्म परिवर्तन नहीं ला सकते और कर्म के उपादान में, पौद्‌गलिक तत्त्व के उपादान में चेतना कोई परिवर्तन नहीं ला सकती। उपादान अपना-अपना रहेगा। केवल निमित्तों का परिवर्तन होगा। चेतना के उपादान जो हैं, उनको कुछ बदलने में कर्म निमित्त बन सकते हैं और कर्म-पुद्‌गलों के जो उपादान हैं, उनके कुछ परिवर्तन में चेतना निमित्त बन सकती है।

आत्मा के उपादान हैं—ज्ञान, दर्शन, आनन्द और शक्ति। आत्मा का मौलिक स्वरूप है—ज्ञान, दर्शन, आनन्द और शक्ति। ये ही आत्मा के मौलिक उपादान हैं। ये कभी नहीं बदलते। कितने ही कर्म-परमाणु लग जाएं, इनमें परिवर्तन नहीं ला सकते। इनके अस्तित्व में कोई परिवर्तन नहीं हो सकता।

पुद्‌गल के उपादान चार हैं—वर्ण, गंध, रस और स्पर्श। आत्मा का कितना ही निमित्त मिले, पुद्‌गल का वर्ण कभी समाप्त नहीं होगा, गंध समाप्त नहीं होगी, रस समाप्त नहीं होगा, स्पर्श समाप्त नहीं होगा। आत्मा इनमें परिवर्तन नहीं ला सकती। आत्मा के निमित्त से इन उपादानों की तनिक भी क्षति नहीं हो सकती।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तो यह प्रश्न होता है कि आत्मा और कर्म में क्या संबंध है ? एक-दूसरे पर क्या उपकार है ? एक-दूसरे पर क्या प्रभाव है ? यह सत्तागत कुछ भी नहीं, उपादानगत कुछ भी नहीं। निमित्त की सीमा में जितना हो सकता है, उतना ही होगा। उसकी भी एक सीमा है। संसार में असीम कुछ भी नहीं है। हर शक्ति की एक सीमा है। हम उसे अनन्त भी कह सकते हैं। अपनी सीमा में आकाश अनन्त है, असीम है। किन्तु जहां आत्मा का अस्तित्व है, वहां आकाश नहीं है। जहां धर्मास्तिकाय का, अधर्मास्तिकाय का और पुद्‌गलास्तिकाय का अस्तित्व है, वहां आकाश का अस्तित्व नहीं है। वह अपने क्षेत्र में है, अपने अस्तित्व में है। आकाश अपने अस्तित्व में है। किन्तु जहां दूसरे द्रव्यों का अस्तित्व है, वहां आकाश नहीं है। यह अस्तित्व की भी एक सीमा है। पदार्थ की अस्तित्वगत एक सीमा होती है। अस्तित्वगत सीमा में सब हैं। अस्तित्व कुछ भी नहीं बदलता। केवल परिधि में सारे के सारे परिवर्तन होते हैं। परिवर्तन परिधिगत होते हैं। परिधियां बदलती रहती हैं, केन्द्र नहीं बदलता। कर्म का निमित्त मिलता है तो अमूर्त मूर्त रूप में व्यवहृत होने लग जाता है। कर्म का निमित्त मिलता है तो चेतन अचेतन रूप में व्यवहृत होने लग जाता है। इसीलिए आत्मा को पुद्‌गल भी कहा जाता है, मूर्त भी कहा जाता है।

आत्मा अमूर्त है, चेतनामय है, अखण्ड चेतनावान् है—यह हमारी भविष्य की अवधारणा है। यह वह धारणा है जिस दिन सब कर्मों का वियोग हो जायेगा, कर्म परमाणुओं के साथ जो संबंध स्थापित हैं, वे सब टूट जाएंगे, भावकर्म (आस्रव) समाप्त हो जाएंगे और साथ-साथ द्रव्यकर्म (कर्म पुद्‌गल) भी समाप्त हो जाएंगे, उस स्थिति में आत्मा अखंड ज्योतिर्मय, अखंड चैतन्यमय और पूर्ण सूर्य के रूप में प्रकट होगा। जहां कोई आवरण नहीं होता, अचेतन का कोई संबंध नहीं होता, केवल चेतना और चेतना, उस दिन आत्मा अमूर्त होगा। पूर्ण अमूर्त जहां कि किसी भी मूर्त का कोई अंश नहीं है। मूर्त ही तो अमूर्त को मूर्त बनाता है। जिस दिन वह मूर्त सर्वथा टूट जायेगा, दूर हो जायेगा, तब शेष रहेगा अमूर्त, केवल अमूर्त। तब न कोई आकार होगा, न कोई प्रकार होगा, न कोई मूर्त होगी, कुछ भी नहीं, केवल अमूर्त।

जिस स्थिति में संसारी आत्माएं हैं, वे अमूर्त नहीं हैं। वे संसार में कब से हैं, यह हम नहीं जानते। उसका हमें कोई पता ही नहीं है। उस स्थिति में शुद्ध नय की दृष्टि से हम यह नहीं कह सकते कि आत्मा अमूर्त है और हम यह भी नहीं कह सकते कि आत्मा अखण्ड चैतन्य वाला है। वह दो का मिला-जुला रूप है। अमूर्त है तो साथ में मूर्त भी जुड़ा हुआ है। वह चेतनावान् है तो साथ में उस पर अचेतन द्रव्य का आवरण भी है। इसलिए चेतना की पूर्ण सत्ता नहीं है। वहां अचेतन का भी कुछ अस्तित्व है। आत्मा के साथ भावकर्म का योग है। भावकर्म

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थात् कर्म का चित्त। एक है भावकर्म और दूसरा है द्रव्यकर्म। यह द्रव्यकर्म यानी भावकर्म का एक शारीरिक आकार जो कि भावकर्म का संवादि कार्य करता है, इसे हम द्रव्यकर्म या पौद्गलिक कर्म कह सकते हैं। भावकर्म या द्रव्यकर्म, भावचित्त या पौद्गलिक चित्त—इनमें पूरी संवादिता है, विसंवादिता नहीं। द्रव्यकर्म भाव-कर्म का प्रतिबिम्ब है। चित्त का जैसा निर्माण होता है, वैसा ही पुद्गल का निर्माण होता है।

चेतना पर कर्म का इतना घना आवरण है कि ज्ञान की शक्ति आवृत हो गयी। बहुत आवृत हो गयी, केवल जीव का एक अंश बचा उस आवरण से जिससे कि जीव का अस्तित्व सुरक्षित रह सके। वैसे ही कर्म का आकार बना, ठीक उसका संवादी स्थूल शरीर बना और वह एक इन्द्रिय वाला जीव बन गया। एकेन्द्रिय जीव होने का मतलब क्या है ? न्यूनतम चेतना का विकास। प्रश्न होता है कि न्यूनतम चेतना का विकास एकेन्द्रिय जीव में ही क्यों होता है ? कोई वैज्ञानिक यही मानेगा कि जीव के जिस प्रकार के गुणसूत्र थे, उसी प्रकार के जीव की संरचना हो गयी। वैज्ञानिक व्याख्या तो यहां तक पहुंची है। किन्तु कर्मशास्त्रीय व्याख्या बहुत दूर गहराई में चली जाती है। उसके अनुसार चेतना का निर्माण ऐसा हुआ, चित्त या भावकर्म का निर्माण ऐसा हुआ कि जिसमें राग-द्वेष बहुत प्रबल हो गये। उस राग-द्वेष की प्रबलता ने ऐसे चित्त का निर्माण किया कि चेतना गहरी नींद में, सघन नींद में चली गयी। इस नींद का पारिभाषिक नाम है—स्त्यानर्द्धि निद्रा। वैसी नींद जिसमें चेतना स्त्यान हो जाती है, जम जाती है, सघन हो जाती है, ठोस हो जाती है। उस स्थिति में चेतना इतनी जम गयी, प्रगाढ़ निद्रा में चली गयी कि मात्र चेतना का एक छोटा-सा अंश अनावृत बचा और वह भी इसलिए कि जीव का अस्तित्व कभी मिटता नहीं है। यदि वह अंश भी आवृत हो जाये, जम जाये तो संभव है जीव अजीव बन जाये। जीव और अजीव के बीच की भेदरेखा भी तो यही है। वह भी समाप्त हो जाये। यह कभी हो नहीं सकता। इसीलिए चेतना का थोड़ा-सा प्रकाश बचा रहता है। वह प्रकाश उस भावचित्त में बचा। उस भावचित्त ने प्रभावित किया पुद्गलों को, तो सूक्ष्म शरीर भी वैसा ही बन गया, पौद्गलिक चित्त भी वैसा ही बन गया, कर्मचित्त भी वैसा ही बन गया। उसने चेतना के अणु-अणु पर, जो ज्ञान के स्रोत थे, अपना आवरण डाल दिया। सब पर आवरण डाल देने पर भावकर्म का संवादी द्रव्यकर्म (पौद्गलिक कर्म) और पौद्गलिक कर्म का (सूक्ष्म शरीर का या कर्म शरीर का) संवादी बना स्थूल शरीर। उसमें एकमात्र स्पर्शन इन्द्रिय का प्रकाश रहा। एक स्पर्शन इन्द्रिय का स्थान मिला, शेष सारी इन्द्रियां समाप्त।

आप यह न मानें कि जिसे हम एकेन्द्रिय कहते हैं, वह एक ही इन्द्रियवाला होता है। उसमें और इन्द्रियों का बोध भी होता है, किन्तु उनका आकार नहीं बनता।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आकार इसलिए नहीं बनता कि इन्द्रियों के पूरे विकास की क्षमता उस सूक्ष्म शरीर में नहीं है। सूक्ष्म शरीर में जब इन्द्रिय-विकास की पूरी क्षमता नहीं है, पूरा विकास नहीं है, तो स्थूल शरीर उसका संवादी नहीं होता, उसमें उसके आकार नहीं बनते। आकार के बिना इन्द्रिय-बोध भी स्पष्ट नहीं होता। एकेन्द्रिय जीव में भी पांचों इन्द्रियों का अस्पष्ट बोध होता है। उन्हें स्पष्ट बोध इसलिए नहीं होता कि उन इन्द्रियों के स्थान विकसित नहीं होते। शरीर में इन्द्रियों के जो स्थान हैं, जो कोशिकाएं हैं, वे सक्रिय नहीं होतीं, विकसित नहीं होतीं। इसीलिए स्पष्ट ज्ञान का अभाव रहता है।

यह एक श्रृंखला है—भावचित्त का संवादी होता है पौद्गलिक चित्त और पौद्गलिक चित्त का संवादी होता है स्थूल शरीर। स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और भाव शरीर (कर्मशरीर)—इन तीनों में परस्पर संवादिता है। एक जैसा होता है, दूसरा भी वैसा ही होता है। और दूसरा जैसा होता है, तीसरा भी वैसा ही होता है। हम इस सचाई को न भूलें कि सूक्ष्म जगत् में जिस प्रकार के हमारे चित्त का निर्माण होता है, जिस प्रकार का भावकर्म होता है, वैसा ही पौद्गलिक कर्म होता है। आत्मा कभी पुद्गल को आकर्षित नहीं करती, क्योंकि आत्मा के पास पुद्गल को आकर्षित करने की कोई शक्ति नहीं है। किन्तु एक माध्यम है उसके पास जिसके द्वारा वह पुद्गल को आकर्षित करती है। वह माध्यम है—भावकर्म या आस्रव। भावकर्म या आस्रव पांच हैं—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। ये पांच शक्तियां हैं पुद्गलों को आकर्षित करने वालीं। ये हमारे पांच चित्त हैं। एक चित्त है मिथ्यात्व का, एक चित्त है अविरति का, एक चित्त है प्रमाद का, एक चित्त है कषाय का और एक चित्त है योग का। इन पांचों चित्तों का निर्माण होता है और समय-समय पर ये चित्त मंद-तीव्र होते रहते हैं। जिस प्रकार के ये चित्त होते हैं, उसी प्रकार के द्रव्यचित्तों, पौद्गलिक चित्तों का निर्माण होता चला जाता है, और संबंध की संरचना होती चली जाती है।

आस्रवों के बिना कर्मों का आकर्षण नहीं हो सकता और न कर्मों का एक विशेष संरचनात्मक रूप ही बन सकता है। हम पुद्गलों को आकर्षित करते हैं और एक विशेष प्रकार का उन्हें रूप देते हैं, सांचे में ढालते हैं। ये दोनों काम भावचित्त के बिना या भावकर्म के बिना नहीं हो सकते, इसीलिए हम कर्म पर बहुत चिंतित नहीं होते, किन्तु भावचित्त पर ज्यादा चिंतित होते हैं, भावकर्म पर ज्यादा ध्यान देते हैं। राग-द्वेष का प्रत्येक क्षण कर्म-आकर्षण का या कर्म-बंध का क्षण है। हम साधना की दृष्टि से जब विचार करते हैं, तब इस बात से चिंतित न हों कि कर्म का बहुत आकर्षण होता है या हो रहा है। किन्तु जो राग-द्वेष का क्षण कर्म को आकृष्ट करता है, उसके प्रति जागरूक हों। हम बहुत बार कहते हैं—जागरूक रहें, अप्रमत्त रहें। प्रश्न होता है कि किसके प्रति जागरूक रहें? किसके प्रति

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अप्रमत्त रहें ? हम उस क्षण के प्रति जागरूक रहें, जिस क्षण में राग-द्वेष उत्पन्न होता है। राग-द्वेष का क्षण हिंसा का क्षण है। राग-द्वेष का क्षण ही असत्य का क्षण है। राग-द्वेष का क्षण ही चौर्य का क्षण है। राग-द्वेष का क्षण ही अब्रह्मचर्य का क्षण है। राग-द्वेष का क्षण ही परिग्रह का क्षण है। जितने भी दोष हैं, उन सबका क्षण है राग-द्वेष का क्षण। राग-द्वेष का क्षण ही समूची कर्म-वर्गणाओं के आकर्षण का क्षण है। इसलिए साधना के क्षेत्र में जागरूकता का अर्थ है—उस राग-द्वेष के क्षण के प्रति जागरूक रहना जो कर्मों को आकर्षित करता है और अनेक आचरणों के माध्यम से करता है। उस क्षण के प्रति हम जागरूक रहें, तटस्थ रहें, सामायिक करें, समभाव में रहें।

जागरूकता का अर्थ इतना ही नहीं है कि हम नींद न लें। नींद नहीं लेने का ही नाम जागरूकता हो तो एक मजदूर जो आठ-दस घंटे कठोर श्रम करता है, वह पूर्ण जागरूक है, जागृत है। वह नींद कहां लेता है ? बेचारे को नींद लेने का कोई क्षण ही प्राप्त नहीं होता। वह पूरा जागृत है, और पूर्ण जागरूकता से अपने काम में लगा हुआ है। किन्तु साधना की दृष्टि से जागरूक रहने का अर्थ है—किसी भी क्षण में राग-द्वेष को उत्पन्न न होने देना।

राग और द्वेष का अक्षण ही तटस्थता का क्षण है। राग और द्वेष का अक्षण ही ध्यान का क्षण है। इसके अतिरिक्त कोई ध्यान नहीं है। हम प्राणायाम करें या प्रेक्षा करें, शरीर को देखें या पदार्थ को देखें, अनिमेष दृष्टि रखें या आंख मूंद-कर साधना करें—यह ध्यान नहीं है। यह तो मात्र ध्यान का आलंबन है। ध्यान वह है कि जिसमें राग और द्वेष का कोई क्षण ही न आये। राग और द्वेष के क्षण का न आना ही यथार्थ में ध्यान है। अन्यथा सारी क्रियाएं बाह्य क्रियाएं हैं, केवल शारीरिक क्रियाएं हैं। वे निष्प्राण क्रियाएं हैं। उनसे वह अर्थ सिद्ध नहीं होता जो ध्यान के द्वारा होता है। वे क्रियाएं अधिक-से-अधिक आगे बढ़ती हैं, तो प्रामाणिक क्रियाएं बन जाती हैं, जो प्राण को प्रभावित करने वाली या प्राणशक्ति के कुछ चमत्कार दिखाने वाली सिद्ध हो सकती हैं। जो चमत्कार प्रचलित हैं, वे सारे के सारे प्राणशक्ति के चमत्कार हैं, प्राणिक चमत्कार हैं। किन्तु जिन क्रियाओं के द्वारा मनुष्य के चरित्र में परिवर्तन होना चाहिए, आवेगों और संवेगों में परिवर्तन होना चाहिए, जिनके द्वारा क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, घृणा—इनमें परिवर्तन होना चाहिए। वह उस ध्यान के द्वारा नहीं हो सकता यदि हम राग-द्वेष के क्षण के प्रति जागरूक नहीं हैं। यदि हम भावकर्म के प्रति जागरूक नहीं हैं तो आने वाले उन पौद्गलिक कर्मों को हम रोक नहीं सकते और उनको रोके विना, वे आने वाले कर्म अपना प्रभाव डाले विना नहीं रह सकते, निमित्त बने बिना नहीं रह सकते। यदि वे निमित्त बनेंगे तो राग-द्वेष का चक्र चलना बंद नहीं होगा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावकर्म द्रव्यकर्मों को प्रभावित करते हैं और द्रव्यकर्म (पौद्‌गलिक कर्म) भावकर्म को प्रभावित करते हैं। दोनों की एक ऐसी संधि है कि दोनों एक-दूसरे का परस्पर सहयोग करते हैं। दोनों एक-दूसरे को जीवनी-शक्ति दे रहे हैं। दोनों में एक समझौता है। भावकर्म द्रव्यकर्मों को जिला रहे हैं और द्रव्यकर्म भावकर्मों को जिला रहे हैं। साधना में यही करना है कि 'येनकेन प्रकारेण' हम इन दोनों की संधि को छिन्न-भिन्न कर सकें, तोड़ सकें। या हम दोनों में एक ऐसा विभेद पैदा कर दें जिससे कि भावकर्म एक ओर हो जाये और द्रव्यकर्म एक ओर हो जाये। दोनों में ऐसी भेदवृत्ति जाग जाये, जिससे कि अनादिकाल से चली आ रही उनकी संधि में दरार पड़ जाये, छेद हो जाये। हम इस बांध में ऐसा कोई छेद कर दें, जिससे बांध का पानी बह जाये और बांध पूरा खाली हो जाये।

यदि साधना के हार्द को हम समझ सकें तो हमें इस प्रक्रिया को करना ही होगा। यह वास्तविकता है कि कर्म के मर्म को समझे बिना कोई साधना के मर्म को समझ नहीं सकता। आज मैं कर्म की चर्चा कर रहा हूं। वह कुछ साधकों को आश्चर्यकारी लग सकता है और उनके मन में यह प्रश्न भी हो सकता है कि साधना के क्षेत्र में कर्म की चर्चा का क्या प्रयोजन है? मैं समझता हूं कि कर्म के रहस्यों को पकड़े बिना साधना के रहस्य को समझा ही नहीं जा सकता। साधना केवल आकाशीय उड़ान नहीं है। यह गहराई में जाने की प्रवृत्ति है, जहां जाकर हम अपने वास्तविक अस्तित्व को पहचान सकते हैं, पकड़ सकते हैं। इसलिए यह बहुत आवश्यक है कि हम मूलस्रोत को पकड़ें। कर्म मूलस्रोत है किन्तु कर्मों का भी मूल-स्रोत है—भावकर्म। भावकर्म को समझे बिना, साधना की कोई बात समझ में नहीं आ सकती।

भावकर्म के द्वारा द्रव्य कर्मों का आकर्षण होता है। भावकर्म है—जैविक रासायनिक प्रक्रिया। जीव में होने वाली रासायनिक प्रक्रिया। भावकर्म जैविक रासायनिक प्रक्रिया है और द्रव्यकर्म सूक्ष्म शरीर की रासायनिक प्रक्रिया है। एक जैविक है और एक पौद्‌गलिक। दोनों में संबंध स्थापित होता है। दोनों प्रक्रियाएं एक-दूसरे से प्रभावित होती हैं। एक-दूसरे को प्रभावित करती हैं। जैविक रासायनिक प्रक्रिया के साथ सूक्ष्म शरीर की रासायनिक प्रक्रिया का योग है। सूक्ष्म शरीर की रासायनिक प्रक्रिया के साथ जैविक रासायनिक प्रक्रिया का योग है। इसीलिए संबंध स्थापित होता है। यदि दोनों में संबंध न हो तो वे एक-दूसरे को प्रभावित नहीं कर सकतीं।

चन्द्रमा मनुष्य को प्रभावित करता है। इसकी वैज्ञानिक खोज से पता चला कि मनुष्य के शरीर में अस्सी प्रतिशत जल का भाग है। चन्द्रमा जलीय है, इसीलिए चन्द्रमा का जल के साथ संबंध है। चन्द्रमा के कारण जैसे-जैसे तिथियां घटती-बढ़ती हैं, वैसे-वैसे ज्वार-भाटे का क्रम भी चलता है। यह इस बात का

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सूचक है कि चन्द्रमा का जल के साथ संबंध है। इसीलिए चन्द्रमा मनुष्य के मन को प्रभावित करता है। ज्योतिषियों ने भी ठीक निर्णय किया था कि मन का स्वामी चन्द्रमा है। चन्द्रमा मन को प्रभावित करता है। जिनमें कोई संबंध नहीं होता, वे एक-दूसरे को प्रभावित नहीं कर सकते। आज जो प्रभावों की खोज हुई है, उससे अनेक नये तथ्य उद्‌घाटित हुए हैं।

काकेसस रूस का एक भाग है। वहां के एक वैज्ञानिक ने बताया कि काकेसस में जो भूकंप आते हैं, उनका संबंध सौर-विकीर्णों से है। जब-जब ठीक समय आता है सौर-विकीर्णों का, तब काकेसस में भूकंप शुरू हो जाते हैं। जब सूर्य में विस्फोट होते हैं, तब उसके परिणामस्वरूप भूकंप आने शुरू हो जाते हैं। यह सारा संसार संक्रमण का संसार है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य में संक्रांत होता है। असंक्रांत कोई नहीं है। अप्रभावित कोई नहीं है। हम सब इतने संक्रमणों में से गुजरते हैं और इतने तत्त्वों से प्रभावित होते हैं कि जिसकी कोई सीमा नहीं है। हम सब प्रभाव-क्षेत्र में हैं। हर बंधी हुई आत्मा, हर कर्मयुक्त आत्मा प्रभाव-क्षेत्र में होती है। वह प्रभाव-क्षेत्र से मुक्त नहीं होती। प्रभाव-क्षेत्र में रहने वाला कोई भी व्यक्ति बाहरी प्रभावों से मुक्त नहीं हो सकता, संक्रमणों से मुक्त नहीं हो सकता। सौर मण्डल से इतने विकीर्ण आते हैं कि हम उनकी कल्पना भी नहीं कर सकते। समूचे ज्योतिषशास्त्र का यही आधार है। मंगल के विकीर्ण, चन्द्र के विकीर्ण, बुद्ध के विकीर्ण। जितने ग्रह हैं, जितने नक्षत्र हैं, उन सबसे विकीर्ण आते हैं और हम सब उनसे प्रभावित होते हैं। यदि विकीर्णों की बात नहीं होती तो ज्योतिषशास्त्र का आधार ही समाप्त हो जाता। ज्योतिषशास्त्र अवैज्ञानिक नहीं है। यह संभव है कि कोई फलित को ठीक न बता सके। यह सब बताने वाले की अपूर्णता है, न कि ज्योतिषशास्त्र की अवैज्ञानिकता। ज्योतिषशास्त्र की वैज्ञानिकता में कोई संदेह नहीं होता क्योंकि ग्रहों के विकीर्णों का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है।

एक व्यक्ति था। वह रमण विद्या का ज्ञाता था। एक बार वह राजा की परिषद् में गया और अपना परिचय देते हुए कहा—मैं रमण विद्या का ज्ञाता हूं। मैं भूत, भविष्य—सब कुछ बता सकता हूं। राजा ने एक क्षण तक सोचा। अपनी मुट्ठी बंद कर राजा ने पूछा—अच्छा बताओ, मेरी मुट्ठी में क्या है? उसने अपना गणित किया। ध्यान को एकाग्र किया। उसे लगा कि मुट्ठी में जो है, उसके एक सूंड है, चार पैर हैं और उसका रंग काला है। उसने कहा—राजन्! आपकी मुट्ठी में हाथी है। सारी परिषद् स्तब्ध रह गयी। मुट्ठी में हाथी।

रमणवेत्ता का फलित गलत नहीं था। मुट्ठी में जो चीज थी, उसके एक सूंड थी, चार पैर थे और रंग काला था। सब कुछ सही था। किंतु वह इस बात को भूल गया कि मुट्ठी में हाथी कैसे समा सकता है? वह यह भूल गया

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कि कौन-सी चीज कहां, कैसे किस स्थिति में होती है। वह व्यावहारिक ज्ञान को भूल गया।

राजा की मुट्ठी में मक्खी थी। मक्खी के सूंड भी होती है, चार पैर भी होते हैं, और काला रंग भी होता है। किंतु वह मक्खी को भूल गया। उसने हाथी को पकड़ लिया। सूंड आदि की दृष्टि से दोनों समान हैं, किंतु मुट्ठी में समाने की दृष्टि से दोनों में बहुत बड़ा अंतर है। मक्खी मुट्ठी में समा सकती है। हाथी मुट्ठी में नहीं समा सकता। ऐसी भूलें होती हैं।

जहां विकीर्णों की वैज्ञानिकता का प्रश्न है, जहां विकीर्णों का मनुष्य पर होने वाले प्रभाव का प्रश्न है, वहां उसकी सचाई को नकारा नहीं जा सकता।

हम प्रभाव की दुनिया में जीते हैं। हम प्रभावित होते हैं। द्रव्यकर्म हमें प्रभावित करते हैं, आत्मा को प्रभावित करते हैं और आत्मा भी उनको प्रभावित करती है। दोनों का यह प्रभाव-क्षेत्र बन गया। उस प्रभाव-क्षेत्र में यह सारा का सारा चलता है। उस प्रभाव-क्षेत्र का नाम है—बंध। बंध का मतलब है—आत्मा और कर्म का प्रभाव-क्षेत्र। एक रचना हो गयी। अब प्रश्न होता है कि यह कैसे होता है ? यह कहां से आता है ?

यह सही है कि यह बाहर से आता है। बहुत दूर से नहीं। समूचे आकाश-मंडल में कर्म की वर्गणाएं व्याप्त हैं। एक सूची जितना अंश भी रिक्त नहीं है इन कर्म-वर्गणाओं से। समूचा आकाश खचाखच भरा है। हम यहां बैठे हैं। हमने जिस प्रकार के भावचित्त का निर्माण किया, हमारी जिस प्रकार की रागात्मक-द्वेषात्मक अनुभूतियां हुईं, हम वहीं बैठे-बैठे अपने आसपास के आकाश-मंडल से उन पुद्गलों को टान लेते हैं। टान लेने के बाद वे पुद्गल हमारे प्रभाव-क्षेत्र में आ जाते हैं। क्षणभर पहले जो आकाश में व्याप्त थे, वे अब हमारे प्रभाव-क्षेत्र में आ गये, हमारे संबंध-स्थापना की स्थिति में आ गये। उनका हमारे साथ पहले संबंध स्थापित नहीं था। पुद्गल पुद्गल के स्थान में थे और हम हमारे स्थान में, आत्मा आत्मा के स्थान में थी। किंतु जैसे ही भावचित्त बना, आसपास के पुद्गल आकर्षित हुए या किये गये, वे पुद्गल हमारे आस्रव के द्वारा, भावकर्म के द्वारा, भावचित्त के द्वारा आकर्षित होकर हमारे प्रभाव-क्षेत्र में आ गये। उनके साथ हमारा संबंध स्थापित हो गया। यह है बंध।

बंध की पूरी रासायनिक संरचना के बारे में भी हमें समझना है। जैसे ही पुद्गल हमारे प्रभाव-क्षेत्र में आते हैं, उनकी एक विशिष्ट संरचना हो जाती है। उसकी चर्चा हम आगे करेंगे।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

११

कर्म की रासायनिक प्रक्रिया (२)

- कर्म-फल का दाता कौन ?
- क्या कोई नियन्ता है ?
- प्रवृत्ति के चार कोण—शमन, विलयन, मार्गान्तरीकरण और उदात्तीकरण।
- साधना का मार्ग है—उदात्तीकरण या मार्गान्तरीकरण।

•

हमारे व्यक्तित्व के दो पहलू हैं। एक है आंतरिक चेतना और दूसरा है बाहरी चेतना। एक है सूक्ष्म और दूसरा है स्थूल। एक है अंतर्वृत्ति और दूसरा है बहिर्वृत्ति। प्रत्येक व्यक्ति का व्यक्तित्व इन दो भागों में विभक्त है। मनुष्य बाहरी जगत् में जो कुछ भी करता है, उससे उसका अन्तःकरण प्रभावित होता है, सूक्ष्म जगत् प्रभावित होता है। और सूक्ष्म जगत् में जो घटनाएं घटित होती हैं उनसे उनका स्थूल जगत् प्रभावित होता है, बाहरी पर्यावरण प्रभावित होता है।

हम एक अंगुली भी हिलाते हैं, यह स्थूल जगत की घटना है, किंतु इससे हमारा सूक्ष्म जगत भी आंदोलित होता है। सूक्ष्म जगत में जो कुछ परिवर्तन होता है, उसका प्रतिबिम्ब या प्रभाव स्थूल जगत में पड़ता है। वह हमारे बाहरी वातावरण में या शरीर के परिवेश में आ जाता है। इसीलिए व्यक्तित्व की व्याख्या के लिए दोनों पहलुओं को समझना बहुत जरूरी है।

प्राणी जिन कर्म परमाणुओं को स्वीकार करता है, ग्रहण करता है और अपने साथ संबद्ध करता है, वे कर्म परमाणु व्यवस्थित हो जाते हैं। स्वीकरण के समय उनकी एक व्यवस्था होती है। पहले उनमें कोई व्यवस्था नहीं होती। जब तक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

किसी प्राणी के द्वारा वे परमाणु स्वीकृत नहीं होते तब तक वे कर्म-प्रायोग्य पुद्गल कहलाते हैं, उन परमाणुओं में कर्म के रूप में बदलने की योग्यता होती है, किंतु वे अभी तक कर्म नहीं होते हैं। जब आकाश-मंडल में वे परमाणु फैले हुए होते हैं, तब तक वे परमाणु मात्र हैं, कर्म नहीं हैं। किंतु उनमें कर्म बनने की योग्यता है। एक बात ध्यान में रहे कि हर परमाणु कर्म नहीं बनता। कर्म वही बनता है जिस परमाणु में कर्म बनने की योग्यता होती है।

परमाणु के विभिन्न प्रकार हैं। एक हाइड्रोजन का परमाणु है, एक ऑक्सीजन का परमाणु है, एक नाइट्रोजन का परमाणु है। अनेक गैसें हैं। उनके परमाणु भिन्न-भिन्न हैं। उनकी अपनी-अपनी क्षमता है। जो कर्म-वर्गणा है, जो परमाणु कर्म के रूप में बदल सकते हैं उनकी भी अपनी विशिष्टता है। परमाणुओं के पचासों वर्ग हैं, पचासों वर्गणाएं हैं, पचासों समूह हैं। उनकी अपनी-अपनी विशेषताएं हैं। किंतु एक पुद्गल वर्गणा ऐसी है जो कर्म के रूप में बदल सकती है। वही वर्गणा हमारी प्रवृत्ति के द्वारा, हमारी चंचलता के द्वारा आकृष्ट होती है। आकृष्ट होते ही, आकर्षण के क्षण में ही उसकी व्यवस्था शुरू हो जाती है। पहले कोई व्यवस्था नहीं होती। उस अवस्था में एक विभाजन होता है। जो परमाणु आते हैं उनका विभाजन प्रारंभ होता है और स्वभाव का निर्माण होने लग जाता है कि कौन से परमाणु किस स्वभाव में काम करेंगे। पहले दो व्यवस्थाएं होती हैं—एक विभाजन की व्यवस्था और दूसरी स्वभाव-निर्माण की व्यवस्था, प्रकृति की व्यवस्था कि उनकी प्रकृति क्या होगी? उनका कार्य क्या होगा? वे क्या करेंगे? इनके साथ-साथ दो व्यवस्थाएं और होती हैं। एक व्यवस्था होती है अनुभाव की, फल देने की क्षमता। उन परमाणुओं में जो रसाणु हैं, जो रस-शक्ति है, रस का परिपाक होता है कि ये परमाणु किस प्रकार के रस का संवेदन करायेंगे और उनसे किस प्रकार का प्रभाव होगा। यह है अनुभाव, फलदान की शक्ति।

बहुत बार यह प्रश्न होता है कि कर्म का फल मिलता है, पर कौन देता है? देने वाला कौन है? इस प्रश्न पर विभिन्न दृष्टियों से विचार किया गया। कुछ चिंतकों ने यह प्रतिपादन किया कि फल देने वाली एक सत्ता है। आदमी कर्म करता है, पर वह स्वयं उसका फल भोगना नहीं चाहता। अतः कोई न कोई नियामक अवश्य है, नियंता अवश्य है, जो कि फल देता है। यह बात स्वाभाविक-सी लगती है कि आदमी स्वयं अपने आप फल भोगना क्यों चाहेगा? वह अच्छे कर्म का फल भोगना तो अवश्य ही चाहेगा, बुरे कर्म का फल भोगना कभी नहीं चाहेगा। वह कभी उसे इष्ट नहीं होगा कि जो उसने बुरा किया है उसका वह फल भोगे। उस स्थिति में यह तर्क बहुत स्वाभाविक लगता है कि कोई फल देने वाला अवश्य ही होना चाहिए। इसका समाधान भी स्थूल व्यवस्था के आधार पर किया गया कि कोई भी अपराधी अपने आप दंड भुगतना नहीं चाहता।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

न्यायाधीश या प्रशासक उसे दंड देता है, उसके दंड की व्यवस्था करता है। अपराध के दंड के लिए भी कोई तीसरा व्यक्ति होता है तो विश्व की इस विराट् व्यवस्था के लिए कोई नियामक या नियंता न हो, कोई प्रशासक न हो तो फल देने की व्यवस्था कैसे चल सकती है? इस संदर्भ में यह जो कहा गया कि कोई फल देने वाला होना चाहिए, यह अस्वाभाविक भी नहीं लगता। किंतु यह तर्क जब मीमांसित होता है, इस पर गहराई से विचार करते हैं तो कुछ और नये तर्क खड़े हो जाते हैं। कुछ और नये प्रश्न उभर आते हैं। वे प्रश्न सचमुच उलझाने वाले प्रश्न हैं।

यदि कोई नियंता है, नियामक है, प्रशासक है, फल देने वाला है तो फल देने की बात 'द्वयम्' हो जायेगी, उसका नंबर दूसरा होगा। उससे पहले कर्तृत्व की बात आ जायेगी कि कोई कराने वाला भी है। कर्तृत्व और उसका फलभोग—दोनों जुड़े हुए प्रश्न हैं। यदि कोई कराता है तो फल भोगाने वाला भी है और यदि कोई कराने वाला नहीं है तो फल भुगताने वाला भी नहीं है। यदि कोई कराने वाला है तो बहुत बड़ी एक पहेली सामने आती है कि वह एक इतनी विराट् सत्ता होगी जो विराट् जगत् में सब कुछ कराये, करा सके, कराने की क्षमता से सम्पन्न हो। वह फिर ऐसा कोई कार्य करायेगी ही क्यों, जिससे प्राणियों को अशुभ फल भोगना पड़े। मनुष्यों द्वारा फिर अप्रिय व्यवहार होगा ही क्यों? उसे अप्रिय फल भुगतना ही क्यों पड़ेगा? यह एक जटिल प्रश्न है। यह दूसरों को उलझा देने वाला प्रश्न है। यदि फल भुगताने वाली बात को हम मान भी लें कि कोई एक ऐसी शक्तिशाली सत्ता है जो फल भुगतने में माध्यम बनती है, और वहां कोई न्याय न हो तो उसे शक्ति-संपन्न सत्ता कहने को जी नहीं चाहता, क्योंकि इतनी विसंगतियां, इतने अभाव और अतिभाव के कारण इतनी कठिनाइयां, इतना अन्याय, इतने अत्याचार, इतनी क्रूरताएं, इतने प्रताड़न—इन सबको यदि किसी कर्तृत्व की सत्ता के साथ जोड़ा जाये और उस शक्ति-संपन्न सत्ता के रहते हुए ये सारे घटित हों तो हम उस सत्ता को परम सत्ता कैसे कह सकते हैं?

प्रत्येक राज्य-व्यवस्था भी यह कामना करती है कि हमारे राज्य में अच्छी से अच्छी व्यवस्था हो, शोषण न हो, अत्याचार न हो। इसके लिए वह पूरी व्यवस्था करना चाहती है, पर कर नहीं पाती क्योंकि वह सर्वशक्ति-संपन्न होने का दावा नहीं करती। इसलिए यह उसके वश की बात नहीं है। वह व्यवस्था मात्र करती है कि ऐसी अव्यवस्था न हो। अच्छी सरकार का यह लक्षण होता है कि उसके प्रशासन द्वारा अपराधों में कमी हो, बुराइयों में कमी हो और एक मनुष्य का दूसरे मनुष्य के प्रति जो अन्यायपूर्ण व्यवहार या क्रूरतापूर्ण व्यवहार होता है वह कम होता चला जाये। वह सर्वशक्ति-सम्पन्न न होते हुए भी इस प्रकार की

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

व्यवस्था करती है। यदि सर्वशक्ति-सम्पन्न सत्ता हो, सब कुछ करने में समर्थ हो, फिर भी वह इस प्रकार की व्यवस्था न करे कि उसके शासन-काल में, उसके साम्राज्य में, विराट् साम्राज्य में और विश्वव्यापी साम्राज्य में जिसका कोई अतिक्रमण नहीं कर सकता, अपराध भी चले, अन्याय भी चले, क्रूरता भी चले, शोषण भी चले, दमन भी चले और वह सब कुछ चले जो कि मानवीय सत्ता में चलता है तो फिर यह बहुत चिंतनीय प्रश्न बन जाता है।

बादशाह ने बीरबल से पूछा—"बताओ! मेरे में और खुदा में क्या अंतर है?" बीरबल ने कहा—"जहांपनाह! अंतर बहुत बड़ा है। आप जब मुझसे नाराज होते हैं तो अपनी सल्तनत से मुझे निकाल देते हैं, देश से मुझे निर्वासित कर देते हैं। किंतु खुदा एक ऐसी हस्ती है जो किसी को अपने देश से नहीं निकालती।" खुदा यदि देश-निकाला दे तो कौन कहां जाये? जबकि हम यह मान लेते हैं कि ईश्वर की सत्ता सर्वव्यापी है। इस जगत् का एक कण भी ऐसा नहीं है जहां ईश्वर की सत्ता न हो और यदि वही देश निकाला दे दे तो भला कहां जायें?

कृष्ण ने पांडवों से कहा—"मेरे राज्य से चले जाओ।" युधिष्ठिर आये और बोले—"प्रभो! आप यदि और कुछ आदेश देते तो वह हम सहर्ष मान्य कर लेते, किंतु आपके राज्य से चले जाने की बात कैसे संभव हो सकती है? आपका राज्य सर्वत्र व्याप्त है। आप हमें बताएं कि हम जायें कहां? हमें स्थान का निर्देश दें।" युधिष्ठिर ने बहुत अनुरोध किया। तब कृष्ण ने कहा—"दक्षिण में चले जाओ। पांडु मथुरा में जाकर बस जाओ।" स्थान का निर्देश किया। वे उत्तर से दक्षिण में आ गये।

यह तो संभव था। किंतु राज्य से चले जाओ, यह कैसे संभव हो सकता था। वासुदेव कृष्ण का राज्य बहुत बड़ा था, सर्वत्र था। फिर आदमी जाये तो कहां जाये?

ईश्वरीय सत्ता का भी बहुत बड़ा प्रश्न है। उसकी सत्ता में वह सब कुछ चलता रहे जो मानवीय सत्ता में चलता है तो सर्व-शक्ति-सम्पन्नता का कथन अयथार्थ हो जाता है। इस प्रश्न का समाधान बहुत जटिल है। मैं यह नहीं कहता कि इस प्रश्न को समाहित करने का प्रयत्न नहीं किया गया। प्रयत्न किया गया। समाधान दिया गया। किंतु वह समाधान भी असमाधानकारक बन गया। जो समाधान प्रश्न को समाहित करने चला था, उसने अनेक नये-नये प्रश्न खड़े कर दिये। वह वास्तव में समाधानकारक नहीं बना। प्रश्न बना का बना रह गया। डॉक्टर रोगी को स्वस्थ बनाने वाला है और वही यदि रोगी को और अधिक बीमार बनाता चला जाये, उस डॉक्टर को हम बहुत सम्मान नहीं दे सकते। मनुष्य को रोगी बनाने वाला यदि कोई विराट् शक्ति-संपन्न अस्तित्व हो तो यह समझ में आने वाली बात नहीं है। जब कर्तृत्व की बात फल देने की बात से

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

टकराती है तो नये चिंतन के लिए एक आयाम खुलता है। एक नया आयाम उद्घाटित होता है। ऐसा भी हो सकता है कि जहां कर्तृत्व भी दूसरे का न हो और फल देने की शक्ति भी दूसरे में न हो। दोनों स्वचालित हों।

हम शरीर की व्यवस्था पर ध्यान दें। हमारे शरीर में दोनों प्रकार की व्यवस्थाएं हैं। शरीर के कुछ हिस्से ऐसे हैं जो नाड़ी-संथान के द्वारा संचालित हैं। हमारी बहुत सारी क्रियाएं उन्हीं से संचालित हैं। मैं हाथ हिला रहा हूं। यह स्वाभाविक क्रिया नहीं है। यह स्वतः संचालित क्रिया नहीं है। किंतु यह नाड़ियों की उत्तेजना से होने वाली क्रिया है। मैं श्वास ले रहा हूं। यह किसी के द्वारा नियंत्रित क्रिया नहीं है। यह स्वतः संचालित क्रिया है। हमारी अनेक क्रियाएं स्वतः संचालित होती हैं और अनेक क्रियाएं प्रेरणा-जनित होती हैं। दोनों प्रकार की क्रियाएं हमारे शरीर में हो रही हैं। हम भोजन करते हैं। भोजन करने के बाद हम उस क्रिया से निवृत्त हो जाते हैं। आगे की सारी क्रियाएं अपने-आप होती हैं, स्वतः संचालित होती हैं। हमने खाया। खाने के साथ उसको पचाने वाला रस स्वतः उसके साथ मिल जाता है। नीचे उतरा। पाचन हुआ। छना। रस की क्रिया बनी। रस बना। सारे शरीर में फैला। जो सार-सार था वह फैला। रक्त बना। क्रियाएं संचालित हुईं। जो असार था वह बड़ी आंत में गया। उत्सर्ग की क्रिया संपन्न हुई। ये सारी क्रियाएं अपने-आप होती चली गयीं। आपको पता ही नहीं चला। न आपने उसके लिए कोई प्रयत्न किया। फिर भी वे क्रियाएं संपन्न हो गयीं। क्या आप कभी इस बात पर ध्यान देते हैं कि अब भोजन को पचाना है, रस बनाना है, रक्त बनाना है, मांस बनाना है। नहीं सोचते, कोई प्रयत्न नहीं करते, फिर भी ये सारे कार्य संपन्न होते हैं। जहां जो होना होता है वह स्वतः होता चला जाता है। जो शक्ति मिलनी है वह मिल जाती है। जो ऊर्जा में बदलना है, वह ऊर्जा में बदल जाता है।

इसी प्रकार हम क्रिया करते हैं। क्रिया की प्रतिक्रिया होती है। उस प्रतिक्रिया-स्वरूप हम पुद्गलों को आकर्षित करते हैं। यह भी एक प्रकार का आहार है, आहरण है। हम आहार के अर्थ को समझें। उसे सीमित अर्थ में न लें। जो मुंह से खाते हैं वही आहार नहीं है। हमारे शरीर के किसी भी कण के द्वारा, हमारी शारीरिक चंचलता के द्वारा, जो भी पुदगल आकृष्ट होते हैं, वह सब आहार है। कर्म-पुद्गलों का ग्रहण भी आहार है। हम उन्हें खींचते हैं, अपनी ओर आकर्षित करते हैं। वे पुद्गल आकर हमारे साथ मिल जाते हैं, चिपक जाते हैं। चिपकने के बाद उनमें जो व्यवस्था होती है, वह स्वतः होती है। वह अपने आप होने वाली व्यवस्था है। उन गृहीत पुदगलों का वर्गीकरण भी हो जाता है। उनका विभाजन भी हो जाता है। उनके स्वभाव का निर्माण भी हो जाता है, जैसे भोजन में खाये गये बहुत प्रकार के पदार्थों के स्वभाव का निर्णय होता है। शरीर को आवश्यकता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है प्रोटीन की तो भोजन में जो प्रोटीन का भाग होता है वह प्रोटीन की पूर्ति कर देता है। चिकनाई की जरूरत होती है वह स्निग्ध पदार्थों से पूरी हो जाती है। श्वेतक्षार की जरूरत है वह श्वेतक्षार वाले द्रव्यों से पूरी हो जाती है। जिन तत्त्वों की, विटामिनों की जरूरत होती है, वे विटामिन भोजन के माध्यम से पहुंचते हैं और अपना काम प्रारंभ कर देते हैं। बहुत बार अजीब-सा लगता है कि बीमारी है शरीर के किसी हिस्से में, पेट में दवा लेते हैं और वह बीमार हिस्सा स्वस्थ हो जाता है। अंगूठे में दर्द है तो वह दवा अंगूठे में ही लाभ करेगी। वहां वह पहुंच जायेगी। छोटी-सी गोली दी। सिर में दर्द है, अंगूठे में दर्द है, पीठ में दर्द है, तो जहां दर्द है वहीं उस दवा की क्रिया होगी और वह बीमार अवयव स्वस्थ हो जायेगा। प्रश्न होता है कि वह दवा बीमार अवयव तक ही क्यों पहुंचती है? दूसरे अवयव तक क्यों नहीं पहुंचती? आंख में दर्द है तो दवा अंगूठे तक क्यों नहीं पहुंचती? समाधान है कि शरीर में स्वाभाविक व्यवस्था है। जिस अवयव में जिस तत्त्व की कमी है, पदार्थ उस कमी को पहले पूरी करेगा। जिस तत्त्व की जहां कमी है, वह तत्त्व उसी दिशा में स्वतः आकृष्ट हो जायेगा। वह वहीं जायेगा। जिन सेलों में, शरीर के जिन अवयवों में प्रोटीन की कमी है, हम प्रोटीन का भोजन लेते हैं तो वह प्रोटीन उन्हीं सेलों, उन्हीं अवयवों की ओर आकृष्ट होगा। क्योंकि शरीर में आकर्षण की एक व्यवस्था है। हमारे शरीर में ही नहीं, सारे संसार में आकर्षण और विकर्षण की एक ऐसी व्यवस्था है कि अपनी-अपनी अनुकूलता, अपनी-अपनी सजातीयता के प्रति सब की गति होती है। सजातीय उसे टान लेता है।

हमारे कर्म परमाणुओं की भी यही व्यवस्था है। जो परमाणु गृहीत होते हैं वे अपने-अपने सजातीय परमाणुओं के द्वारा खींच लिये जाते हैं और उसी दिशा में वे सक्रिय हो जाते हैं। वे अपना काम करने लग जाते हैं। उनमें फल की शक्ति भी हो जाती है। ये परमाणु इस प्रकार का फल देने में समर्थ हैं, फल देने की व्यवस्था होती है।

आंख की ज्योति कम होती है तब डॉक्टर कहता है कि विटामिन 'ए' का अधिक मात्रा में सेवन करो। यह बात स्पष्ट है कि विटामिन 'ए' में आंख की ज्योति को सहारा देने की क्षमता है। चर्म-रोग होता है तो डॉक्टर विटामिन 'ए' की बात नहीं कहता। वह कहता है—विटामिन 'डी' का सेवन करो। विटामिन 'डी' में यह शक्ति है कि वह चर्मरोगों का निवारण कर सकती है। विटामिन 'ए' या 'डी' की परिणति का कोई नियामक या नियंता नहीं है। औषधि के सेवन के पश्चात् मनचाहा परिणाम लाना डॉक्टर के हाथ की बात नहीं है। वह परिणाम स्वतः उद्भूत होता है।

विश्व के प्रत्येक पदार्थ में, सब परमाणुओं में अपने-अपने प्रकार की एक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विशेष सत्ता होती है। जो कर्म परमाणु हमारे द्वारा आकृष्ट होते हैं, उनमें उसी समय एक विशेष प्रकार की क्षमता निर्मित हो जाती है। उस क्षमता का नाम है—रसानुभाव, यानी अनुभाग बन्ध। इसका अर्थ है—फल देने की क्षमता, फलशक्ति। कर्म के सभी परमाणुओं में फलदान की समान क्षमता निर्मित नहीं होती। वह विभिन्न प्रकार की होती है। हम जानते हैं कि विश्व के सभी पदार्थों में एक ही प्रकार की क्षमता नहीं होती। होम्योपैथिक दवाएं अलग-अलग क्षमताओं वाली होती हैं। कुछ हाई पोटेन्सी की होती हैं और कुछ लो पोटेन्सी की। कुछ औषधियां एक लाख पोटेन्सी की होती हैं और कुछ केवल तीस या उससे भी कम पोटेन्सी की। क्षमता के निर्माण में कितना अन्तर होता है।

गाय के दूध में भी चिकनाई है, भैंस के दूध में भी चिकनाई है, तिल्ली और सरसों के तेल में भी चिकनाई है, किन्तु चिकनाई की मात्रा में बहुत अन्तर है। सबमें समान चिकनाई नहीं है।

यह शक्ति और मात्रा का जो तारतम्य होता है वह पदार्थ की विशेष संरचना के आधार पर होता है। वैसे ही कर्मों की जो फलदान की शक्ति है, उसमें भी तारतम्य होता है और वह तारतम्य उन कर्म-परमाणुओं की संरचना के कारण होता है। यह संरचना हमारी राग-द्वेष की तीव्रता और मंदता के आधार पर होती है।

जिस क्षण में हम कर्म-पुद्गलों को आकर्षित करते हैं, उस क्षण में यदि राग-द्वेष तीव्र होता है तो उन कर्म-पुद्गलों की फलदान-शक्ति भी तीव्र हो जाती है और यदि राग-द्वेष मंद होता है तो फलदान-शक्ति भी मंद हो जाती है। यह तीव्रता या मन्दता, यह तारतम्य—यह सब हमारे कषायों, आवेगों और राग-द्वेष के आधार पर होता है। इसलिए साधना का एक बड़ा सूत्र यह है—जो करो, अनासक्तभाव से करो। आसक्ति को तीव्र मत होने दो। इसका तात्पर्य यह है कि आसक्ति की जितनी तीव्रता होगी, कर्म का फल उतना ही तीव्र होगा। आसक्ति की जितनी मन्दता होगी, कर्म का फल उतना ही मंद होगा। अनुभाव की तीव्रता और मंदता आसक्ति की तीव्रता और मंदता पर आधृत है।

यह सच है कि साधना करने वाला भी प्रवृत्ति को सर्वथा रोक नहीं सकता और साधना करने वाले के समक्ष प्रवृत्ति को रोकने का प्रश्न भी नहीं है। साधना करने वाले के लिए खाना भी जरूरी है, श्वास लेना भी जरूरी है, बोलना भी जरूरी है, सोचना भी जरूरी है। जीवन-संचालन की जो क्रियाएं, जो प्रवृत्तियां हैं, वे सारी जरूरी हैं। उन्हें रोका नहीं जा सकता। कोई मौन करता है तो वह आधा घंटे का, दो घंटे का, दस घंटे का, एक दिन का, दस दिन का या महीने तक का मौन कर सकता है। बारह वर्ष भी मौन रह सकता है। किन्तु आखिर बोलना ही पड़ेगा। बिना बोले काम कैसे चलेगा ? बोलने की एक स्वाभाविक व्यवस्था

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है। उसे तोड़ा नहीं जा सकता। चलने की भी एक व्यवस्था है। वह भी स्वाभाविक है। जीवन भर एक स्थान पर बैठा नहीं रहा जा सकता। ध्यानकाल में एक स्थान पर बैठ सकते हैं, किन्तु पूरे दिन तक तो ध्यान नहीं किया जा सकता। कायोत्सर्ग-काल में कुछ समय तक स्थिर रहा जा सकता है। किन्तु जीवन से मृत्यु-पर्यन्त ऐसा नहीं हो सकता। प्रवृत्ति को छोड़ा नहीं जा सकता। चिन्तन भी एक प्रवृत्ति है। उसे भी रोका नहीं जा सकता। यह ठीक है कि ध्यानकाल में हम निर्विकल्प रह सकते हैं, निर्विचार रह सकते हैं, एक ही विचार पर एकाग्र रह सकते हैं, दूसरे विचार को रोक सकत हैं, किन्तु यह सदा-सर्वदा के लिए नहीं हो सकता। क्या चिन्तन के बिना काम चल सकता है? चल नहीं सकता। चिन्तन जरूरी है, गति जरूरी है, क्रिया जरूरी है। शरीर की, मन की और वाणी की प्रवृत्ति को रोका नहीं जा सकता।

जब हम कर्म की बात कर रहे हैं तो हमें सूक्ष्म जगत् तक पहुंचना है। प्रवृत्ति और निवृत्ति—दोनों के पीछे एक तत्त्व है। उस तक पहुंचने का हम अभ्यास करें। यही वास्तव में साधना है, यही उसकी सार्थकता है।

प्रवृत्ति और निवृत्ति आसक्ति और अनासक्ति से जुड़ी होती है। हम यह अभ्यास करें कि प्रवृत्ति के प्रति आसक्ति न हो या कम हो। प्रवृत्ति हो किन्तु उसके पीछे आसक्ति का, राग-द्वेष का भाव कम हो। प्रवृत्ति के साथ समभाव की धारा जुड़ जाये। फिर चाहें आप प्रवृत्ति करें किन्तु उस प्रवृत्ति के पीछे एक प्रहरी खड़ा मिलेगा और वह आपको सतर्क करता रहेगा। जैसे ही आपने प्रवृत्ति में दोष लाना प्रारम्भ किया, तत्काल कानों में एक ध्वनि गूंज उठेगी—समभाव, तटस्थता, सामायिक, समता। तब आपकी प्रवृत्ति में आने वाला जो दोष है वह अपने आप नीचे उतर जायेगा, दूर हट जायेगा। प्रवृत्ति के दोषों का प्रक्षालन करने के लिए, उसके दोषों का संशोधन और परिमार्जन करने के लिए हमें जिस बात का अभ्यास करना है वह है समभाव का अभ्यास, समता का अभ्यास, सामायिक का अभ्यास। मनोविज्ञान की भाषा में इसे मार्गान्तरीकरण और उदात्तीकरण कहा गया है।

प्रवृत्ति का शमन होता है, विलयन होता है, मार्गान्तरीकरण होता है, उदात्तीकरण होता है। ये चार बातें हैं। पहली बात है शमन की। जो प्रवृत्ति समाज-सम्मत नहीं है, व्यक्ति उसे करना चाहता है, किन्तु सामाजिक प्राणी उस प्रवृत्ति को नहीं करता, उसका शमन करता है। वह अपनी इच्छा को रोक देता है। हर इच्छा की पूर्ति नहीं होती। कोई भी व्यक्ति अपनी प्रत्येक इच्छा को पूरी नहीं कर सकता। कुछ पूरी होती हैं, कुछ अधूरी रह जाती हैं, कुछ को छोड़ देना होता है। रास्ते चलते सुंदर मकान दिखायी दिया। इच्छा हुई कि उस पर कब्जा कर लूं। कब्जा कैसे कर सकता है? नहीं कर सकता। क्योंकि सामाजिक व्यवस्था

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उसे वैसा करने नहीं देती। मन ललचाया कि इस आलीशान मकान में रहूं, इस पर अधिकार कर लूं, पर वैसा हो नहीं सका।

दूसरा है—प्रवृत्ति का विलयन। विलयन भी दबाने की प्रवृत्ति है। कुछ प्रवृत्तियां ऐसी होती हैं, जो मन में उभरती हैं, किन्तु एक दूसरी प्रवृत्ति की बात सामने आ जाती है, तब वह छूट जाती है। एक प्रवृत्ति दूसरे में विलीन हो जाती है, उसका विलयन हो जाता है।

तीसरा है—प्रवृत्ति का मार्गान्तरीकरण। इसका अर्थ है—प्रवृत्ति का रास्ता बदल देना, दिशा बदल देना। फ्रायड की भाषा में मूल प्रवृत्ति है—कामशक्ति। फ्रायड के समूचे मनोविज्ञान में केन्द्रीय शक्ति है—कामशक्ति। उनका प्रतिपादन है कि इसका मार्गान्तरीकरण किया जा सकता है। एक व्यक्ति किसी सुंदर स्त्री को देखता है, उसके प्रति आकृष्ट होता है, किन्तु वह प्राप्त नहीं होती। इच्छा और अधिक तीव्र होती है, फिर भी वह प्राप्त नहीं होती। तब वह अपने मन की दिशा को बदल देता है। कोई कलाकार बन जाता है, कोई चित्रकार बन जाता है, कोई लेखक बन जाता है, कोई कवि बन जाता है। कोई कुछ और कोई कुछ बन जाता है। मानसिक विश्लेषण के अनुसार एक निष्कर्ष निकाला गया कि बहुत बड़े-बड़े कलाकार, बड़े-बड़े कवि जो हुए हैं वे सब मार्गान्तरीकरण के कारण हुए हैं।

चौथा है—प्रवृत्ति का उदात्तीकरण। कर्मशास्त्र की भाषा में इसे क्षयोपशम कह सकते हैं। यह क्षयोपशम की क्रिया है। जो मोह है, जो आसक्ति है, जो राग-द्वेष हैं, उनके दोषों का परिशोधन करने की यह प्रक्रिया है, परिमार्जन करने की प्रक्रिया है। इसीलिए जैन आचार्यों ने दो शब्दों का प्रयोग किया—प्रशस्त राग और अप्रशस्त राग। राग अच्छा नहीं है, बुरा है। किन्तु धर्म के प्रति राग, गुरु के प्रति राग, इष्टदेव के प्रति राग—यह सब प्रशस्त राग है। जैन आगमों में एक बहु-व्यवहृत शब्द है—'धम्माणुरागरत्ते'—धर्मानुरागरक्त—धर्म के अनुराग से रक्त। यह सब प्रशस्त राग है। इसका तात्पर्य है कि राग के जो दोष थे, जो तीव्रता थी, उसका परिशोधन कर दिया। आसक्ति की मात्रा को कम कर दिया। मात्रा इतनी कम कर दी कि वह राग-दोषमुक्त नहीं रहा। राग का उदात्तीकरण हो गया। यह उदात्तीकरण की प्रक्रिया क्षयोपशम की प्रक्रिया है, जिसमें कर्मों के कुछ दोषों को सर्वथा क्षीण कर दिया गया और कुछ दोषों का उपशमन कर दिया गया। इससे एक प्रकार की शुद्धता जैसी स्थिति निर्मित हो गयी। यह उदात्तीकरण है, राग का संशोधन है, आसक्ति का संशोधन है।

दमन की बात साधना की बात नहीं है। इच्छाओं का दमन ही करना हो तो फिर साधना की बात व्यर्थ है। उसके लिए साधना करने की आवश्यकता नहीं है। दमन हर किसी व्यक्ति को करना ही पड़ता है। कोई भी व्यक्ति अपनी सारी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आकांक्षाओं, सारी इच्छाओं को पूरा नहीं कर सकता। वह नियंत्रित है सामाजिक बंधनों से। दंड का क्षेत्र, व्यवस्था का क्षेत्र और राजनीति का क्षेत्र—यह सब दमन का क्षेत्र है। सर्वत्र बन्धन ही बन्धन है। समाज का बंधन, परिवार का बंधन, राज्य का बन्धन। सर्वत्र घेरे-ही-घेरे हैं। दमन करने के अतिरिक्त और कोई रास्ता ही नहीं है।

साधना का प्रयोजन है—मार्गान्तरीकरण, उदात्तीकरण। साधना का मार्ग दमन का मार्ग नहीं है। वह है उदात्तीकरण का मार्ग। या तो हम उदात्तीकरण करें या मार्ग बदल दें।

आंख का काम है—देखना। आंख रूप को देखती है। रूप के प्रति या तो राग उत्पन्न होगा या द्वेष। दो ही बातें होंगी—या तो प्रीत्यात्मक अनुभूति होगी या अप्रीत्यात्मक अनुभूति होगी। तो फिर हम क्या करें—यह प्रश्न होता है। समाधान की भाषा में कहा जा सकता है कि हम मार्गान्तरीकरण करें, दिशा बदल दें। बाहर को न देखें, भीतर की ओर देखने का प्रयत्न करें। प्रेक्षा करें, प्रकंपनों की प्रेक्षा करें। प्रेक्षा मार्गान्तरीकरण का उपाय है। मार्ग इस प्रकार बदलें कि जो आकर्षण बाहर की ओर होता था वह आकर्षण भीतर की ओर हो जाये। उत्सुकता बदल जाये। उत्सुकता रहती है बाहर को देखने की। घटना घटित होती है, व्यक्ति उत्सुक हो जाता है। साधना की सबसे बड़ी बात है—आकर्षण की धारा को बदल देना। जब बाहर में अनुत्सुकता होती है तब भीतर का आकर्षण बढ़ता है, उत्सुकता बढ़ती है। पतंजलि ने इसे 'प्रत्याहार' कहा है। प्रत्याहार मार्गान्तरीकरण का उपाय है। इन्द्रियों की दिशाओं को बदलो। मन की दिशाओं को बदलो। वे बहिर्गामी न रहें, अन्तर्मुखी बन जाएं।

साधना का मुख्य सूत्र है—मार्गान्तरीकरण।

गौतम ने पूछा—भगवन्! धर्म-श्रद्धा से क्या प्राप्त होता है?

भगवान् ने कहा—गौतम! धर्म-श्रद्धा से अनुत्सुकता पैदा होती है। जब धर्म के प्रति श्रद्धा घनीभूत होती है, आकर्षण होता है, उत्सुकता होती है तब अनुत्सुकता पैदा होती है। जो उत्सुकता बाहर की ओर दौड़ती थी, बाहर को सुनने, बाहर को देखने, बाहर को चखने, सारी-की-सारी प्रवृत्ति बहिर्गामी हो रही थी, जैसे ही साधना का विकास हुआ, साधना के मार्ग में आये, दिशा बदल जाती है, उत्सुकता समाप्त हो जाती है। यह अनुत्सुकता भीतर की उत्सुकता बन जाती है। जब भीतर उत्सुकता जागती है तब बाहर की उत्सुकता समाप्त हो जाती है।

यह मार्गान्तरीकरण की प्रक्रिया साधना के विकास की प्रक्रिया है।

उदात्तीकरण क्षयोपशम की प्रक्रिया है। हम कर्मों का शोधन करें। शोधन कर प्रवृत्ति के साथ होने वाले दोष को मिटा दें। प्रवृत्ति के साथ राग और द्वेष की जो धारा जुड़ रही है, और वह राग-द्वेष जो निरंतर हमारे कर्मों में फल देने

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

की क्षमता पैदा कर रहा है, जो हमारे विचारों को प्रभावित कर रहा है, उसे हम क्षीण कर दें। उस धारा को मोड़ दें। उसे उपशांत कर दें। इस उदात्तीकरण की प्रक्रिया के द्वारा हम उस विन्दु पर पहुंच जाएं जहां प्रवृत्ति तो है किन्तु उसके सारे दोष समाप्त हैं। जो दोष उसके साथ जुड़ते थे, वह धारा समाप्त है। यह है साधना की सार्थकता। कर्मों में जो फलदान की शक्ति है उसे कम करने के लिए साधना की जाती है। उसके अभ्यास से एक मार्ग मिल जाता है। वह साधना की समाप्ति नहीं है, प्रारंभ है। इस यात्रा का प्रारंभ करने वाला जो भी प्रवृत्ति करता है वह पहले जैसी प्रवृत्ति नहीं रहती। अब उस प्रवृत्ति के साथ आसक्ति का, राग-द्वेष का वह प्रवाह नहीं जुड़ता जो पहले जुड़ता था। या तो उसका मार्ग बदल जायेगा या वह सर्वथा निरुद्ध हो जायेगा। यदि हम इस तथ्य को ठीक समझ लें तो कर्म के फलदान की शक्ति को भी समझ लेंगे। साधना की सार्थकता को भी समझ लेंगे।

कर्म में जो फलदान की शक्ति है, वह स्वाभाविक है, स्वयं की व्यवस्थागत है। इसमें किसी दूसरे का हस्तक्षेप नहीं है। किसी व्यवस्थापक की अपेक्षा नहीं है। यह स्वतः संचालित व्यवस्था है। इसमें कोई विचार की आवश्यकता नहीं है कि फल कैसे देना है।

एक आदमी घृणा करता है, ईर्ष्या करता है, असहिष्णुता का वर्ताव करता है। उसको क्या फल देना है, किसी को सोचने की जरूरत नहीं है। आज का मनोविज्ञान कहता है कि कोई बुरी बात सोचता है तो उसके अल्सर हो जाता है। ईर्ष्या, घृणा आदि से अनेक बीमारियां होती हैं। कैंसर भी हो जाता है। जो मानसिक बीमारियां हैं, उनका संबंध हमारे स्नायु-संस्थान से है, वे पैदा हो जाती हैं। उनका संबंध हमारी मानसिक क्रिया से है। कोई व्यवस्थापक नहीं है, व्यवस्था करने वाला नहीं है। जैसे ही एक हुआ, दूसरा हो जायेगा। दोनों का संबंध है। फल देने के लिए किसी नियंता की आवश्यकता नहीं। उसमें अपने आप में क्षमता है। हम उस क्षमता को समझें। हम आसक्ति के द्वारा, राग-द्वेष के द्वारा, कषायों के द्वारा उन कर्म-परमाणुओं में ऐसी संरचना न होने दें, ऐसी फलशक्ति उत्पन्न न होने दें जिसका परिणाम बुरा हो, जो हमें ही भोगना पड़े।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१२

कर्म का बन्ध

- कर्मों का आकर्षण होता है—चंचलता के द्वारा।
- कर्मों का टिकाव होता है—कषाय के द्वारा।
- साधना के दो आधार-बिंदु हैं—चंचलता को रोकना, कषाय को क्षीण करना।
- मनोविज्ञान के अनुसार मन के तीन विभाग
    - अबस् (Id) मन।
    - अहं (Ego) मन।
    - अधिशास्ता (Super Ego) मन।
- प्रतिपक्ष-भावना द्वारा संस्कार-विशोधन।

•

मन दो प्रकार का है—चेतन मन और अवचेतन मन। चेतन मन जो कुछ करता है वह सब वर्तमान का ही नहीं होता किंतु उसमें अवचेतन मन का हिस्सा होता है। उसका प्रभाव होता है। यह स्वीकृति उपलब्ध तथ्यों की स्वीकृति है। यदि सूक्ष्म में जाएं तो कर्मशास्त्र की वह स्वीकृति भी प्राप्त हो सकती है कि मनुष्य जो काम करता है वह केवल वर्तमान परिवेश, वर्तमान परिस्थिति से प्रभावित होकर ही नहीं करता, प्रभाव का जो हेतु है वह बहुत सूक्ष्म में और बहुत दूर तक चला जाता है। वह हेतु है कर्म-शरीर या पूर्व-अर्जित कर्म-समूह। उससे प्रभावित होकर ही मनुष्य काम करता है। दबी हुई इच्छाएं, दबी हुई आकांक्षाएं अवचेतन मन में चली जाती हैं और जब वे जागृत होती हैं तो चेतन मन प्रभावित होकर काम करने लग जाता है। इस मनोविज्ञान की भाषा को हम कर्म-शास्त्रीय भाषा में इस

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain: Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकार बदल दें कि पूर्व-अर्जित कर्म जब उदय में आते हैं, अपना फल देना शुरू करते हैं तब स्थूल मन उनसे प्रभावित होता है और वह उनके अनुसार ही व्यवहार और आचरण करने लग जाता है।

दो काल हैं। एक क्रिया का काल, प्रवृत्ति का काल और दूसरा कर्म-बंध का काल। जब कोई प्रवृत्ति होती है, उसी क्षण कर्म का बंध हो जाता है। प्रवृत्ति का फल मिल जाता है। प्रवृत्ति का फल है कर्मों का अर्जन। वह तत्काल प्राप्त हो जाता है। क्रिया के साथ-साथ फल होता है। क्योंकि प्रत्येक क्रिया परिणाम को साथ लिये चलती है। परिणाम पीछे नहीं होता, तत्काल होता है। क्रिया और परिणाम में इतना अंतराल नहीं हो सकता कि आज हम क्रिया करें और उसका परिणाम सौ वर्ष बाद या हजार वर्ष बाद हो। एक आदमी धन कमाने की प्रवृत्ति करता है। उसका परिणाम—धन की प्राप्ति या अप्राप्ति—तत्काल हो जाता है। धन का अर्जन हो गया, किंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि उसका पूरा उपभोग भी तत्काल हो जाता है। परिणाम तत्काल मिल जाता है किंतु परिणाम का उपभोग लंबे समय तक होता रहता है। अर्जन उसी क्षण होता है, उपभोग होता रहता है।

कर्म का बंध, कर्म परमाणुओं का अर्जन क्रिया का परिणाम है। वह अर्जन तत्काल हो जाता है। यह कभी नहीं होता कि क्रिया अभी हो रही है और कर्म का बंध कभी बाद में होगा। ऐसा कभी नहीं हो सकता। कर्म का बंध तत्काल हो जाता है। उसी क्षण में हो जाता है। किंतु जो अर्जित हो गया, जो संगृहीत हो गया, वह कब तक साथ रहेगा—इसका एक स्वतंत्र नियम है। यह नहीं होता कि जिस क्षण में किया, उसी क्षण में वह आया और अपना फल देकर चला गया। ऐसा नहीं होता। अर्जन का काल क्षणभर का है और उपभोग का काल बहुत लंबा है। प्राणी दीर्घकाल तक अर्जित कर्मों का उपभोग करता रहता है। प्राणी ने जो अर्जित किया, जिन कर्म-परमाणुओं का संचय किया, वे कर्म-परमाणु जिस क्षण में संचित होते हैं उसी क्षण में फल देने में समर्थ नहीं होते। प्रवृत्ति या आस्रव का मुख्य फल होता है कर्मों का अर्जन। वह प्रवृत्ति-काल में ही हो जाता है। किंतु जो अर्जित कर्म-पुद्गल हैं वे कब सक्रिय होंगे, कब तक सक्रिय रहेंगे, इसका नियम अर्जन के नियम से भिन्न होता है। तत्काल सक्रियता नहीं होती। आज बच्चा जन्मा। वह कानून की दृष्टि से संपत्ति का अधिकारी तो हो गया किंतु उसे पूरा अधिकार तब प्राप्त होगा जब वह नाबालिग अवस्था को पार कर जायेगा, सवयस्क बन जायेगा। जब तक वह सवयस्क नहीं हो जाता तब तक उस संपत्ति का संरक्षण कोई गार्जियन करेगा। बच्चे को कार्यकारी स्वामित्व प्राप्त नहीं होगा। उसे जन्मजात स्वामित्व प्राप्त है, किंतु कार्यकारी स्वामित्व वयस्क होने पर ही मिलेगा।

ठीक यही नियम कर्म-जगत् में लागू होता है। कर्म का जो बंध हुआ है, कर्म-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परमाणुओं का जो अर्जन हुआ है वह आज ही कार्यकारी नहीं होगा। कुछ काल तक वे कर्म-परमाणु सत्ता में रहेंगे, उदय में नहीं आयेंगे। वह सत्ताकाल अबाधा-काल कहलाता है। इसका तात्पर्य है कि वे कर्म-परमाणु अस्तित्व में हैं किंतु अभी कार्यकारी नहीं हैं। वे कुछ भी करने में समर्थ नहीं हैं। अपना परिणाम प्रदर्शित करने की क्षमता उनमें प्रकट नहीं हुई है। वे अस्तित्व में हैं, किंतु वे अव्यक्त रूप में पड़े हुए हैं। बीज बोया गया। वह अस्तित्व में है किंतु वह अभिव्यक्त नहीं हुआ, अंकुर के रूप में प्रकट नहीं हुआ। अंकुर के फूटने में थोड़ा समय लगेगा। अंकुर फूटेगा तब वह पौधा बनेगा, आगे बढ़ेगा, ऊपर आयेगा। बीज भूमि में बोया गया, यह बंध का काल है। बंध के बाद होता है—सत्ता का काल। जब तक कर्म सत्ताकाल में रहेगा, तब तक वह कार्यकारी नहीं होगा। वह अपना परिणाम नहीं दे सकेगा। सब कर्मों का अपना-अपना अस्तित्व-काल होता है। जब यह अस्तित्व-काल या सत्ता-काल या अबाधा-काल पूरा होता है तब कर्म विपाक की स्थिति में आता है और अपना फल देने लगता है। फल-दान कब तक होता है, इसकी भी एक मर्यादा है, सीमा है। उस मर्यादा को कर्मशास्त्र की भाषा में कहा जाता है—स्थितिकाल। यह कर्म बंध की चौथी अवस्था या व्यवस्था है।

पहली अवस्था है कर्म-परमाणुओं के आने की, उनके संग्रह की। इसे 'प्रदेश बंध' कहा जाता है।

दूसरी अवस्था है कर्म-परमाणुओं के स्वभाव-निर्माण की। कौन-सा कर्म किस स्वभाव का होगा, इस अवस्था को 'प्रकृति बंध' कहा जाता है।

तीसरी अवस्था है—कर्म-परमाणुओं से रस-शक्ति के निर्माण की। कौन-से कर्म में कितनी रस-शक्ति है, इस अवस्था को 'अनुभाग बंध' कहा जाता है।

चौथी अवस्था है—कर्म-परमाणुओं के स्थिति-काल की। कौन-सा कर्म आत्मा के साथ कितने समय तक रह पायेगा, इस अवस्था को 'स्थिति बंध' कहा जाता है।

ये चारों अवस्थाएं कर्म-बंध के साथ ही निष्पन्न हो जाती हैं। कर्म के स्थिति-काल के अनुसार उसका सत्ता-काल होता है। जब वह पूरा हो जाता है तब एक-एक निषेक का, परमाणुपुंज का प्रकटीकरण होने लगता है और प्राणी फल भोगने लगता है। जब सारे परमाणुपुंज समाप्त हो जायेंगे, कर्म-स्थिति समाप्त हो जायेगी तब कर्म अपना फल प्रदर्शित कर शेष हो जायेंगे, नष्ट हो जायेंगे, आत्मा से विलग हो जायेंगे। इसे कर्म-क्षय कहा जाता है।

ये चार अवस्थाएं हैं। इनके घटक हैं—राग और द्वेष। हमारी रागात्मक और द्वेषात्मक प्रवृत्ति के द्वारा ये घटित होती हैं। हम अपनी चंचलता के द्वारा कर्म-परमाणुओं का आकर्षण करते हैं। कषाय के द्वारा उन कर्म-परमाणुओं को टिकाकर रखते हैं। आकृष्ट करना और टिकाकर रखना—ये दो बातें हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आकर्षण होता है मन, वचन और शरीर की चंचलता के द्वारा और उनका टिकाव होता है कषाय के द्वारा। वे कषाय के द्वारा बांधकर रखे जाते हैं। कषाय जितना तीव्र होगा उतने ही दीर्घकाल तक कर्म-परमाणु आत्मा के साथ चिपके रहेंगे। कर्म-परमाणुओं को चिपकाये रखना कषाय का काम है और उन्हें आकृष्ट करना चंचलता का काम है।

क्या यह हमारा साधना का सूत्र नहीं बन सकता? क्या यह साधना का आधार नहीं बन सकता? यह साधना का सूत्र बन सकता है, आधार बन सकता है।

हमारी साधना के दो आधार-बिंदु हैं—चंचलता को रोकना और कषाय को कम करना, राग-द्वेष को कम करना। तटस्थ होना, समभाव में रहना, स्थिर रहना—ये ही साधना के दो सूत्र हैं। समूचे कर्मशास्त्र को साधना के संदर्भ में समझें तो दो बातें बहुत ही स्पष्ट हो जाती हैं कि चंचलता के द्वारा कर्म-परमाणु खींचे जाते हैं और कषाय के द्वारा वे टिके रहते हैं और अपना फल देते हैं। फल की तीव्रता और मंदता कषाय के आधार पर होती है। दीर्घकाल की स्थिति और अल्पकाल की स्थिति कषाय के आधार पर होती है। स्थिति और फलदान की शक्ति—ये दोनों कषाय पर निर्भर हैं। कषाय ही कर्म-स्थिति को बढ़ाता-घटाता है और कषाय ही फलदान की शक्ति में तीव्रता या मंदता लाता है। कर्म का आकर्षण केवल चंचलता के आधार पर होता है।

कर्म को रोकना है तो हमें उसी क्रम से चलना पड़ेगा कि पहले चंचलता कम होती चली जाये, स्थिरता की मात्रा बढ़ती चली जाये। कायोत्सर्ग इसीलिए किया जाता है कि शरीर की चंचलता कम हो, समाप्त हो। हम श्वास की प्रेक्षा करते हैं, श्वास को मंद करते हैं, श्वास को सूक्ष्म करते हैं, इसीलिए कि चंचलता कम हो जाये। काया की चंचलता कम हो। श्वास काया का ही एक हिस्सा है। वह शरीर से भिन्न नहीं है। शरीर की चंचलता को कम करने के लिए श्वास का संयम करते हैं। मन को स्थिर करने का प्रयत्न करते हैं, निर्विचार और निर्विकल्पना की साधना करते हैं कि चंचलता कम हो। मौन करते हैं ताकि वाणी की चंचलता कम हो। जब वाणी की चंचलता कम होती है, मन की चंचलता कम होती है और शरीर की चंचलता कम होती है तो कर्म-परमाणुओं का आना कम हो जाता है।

दूसरी बात है—काया की जो थोड़ी बहुत प्रवृत्ति शेष रहती है, वचन की अल्पमात्रा में प्रवृत्ति शेष रहती है और मन की भी यत्किंचित् प्रवृत्ति रहती है, उसके साथ भी आसक्ति न जुड़े, राग-द्वेष का भाव न जुड़े। तटस्थता का विकास हो, समता का विकास हो ताकि अवशिष्ट चंचलता या प्रवृत्ति के द्वारा जो भी कर्म-परमाणु आकृष्ट हों वे लंबे समय तक हमारे साथ न टिक सकें और अपना

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तीव्र अनुभव, तीव्र प्रभाव हमारे ऊपर न डाल सकें। इससे साधना का कोई भी आयाम शेष नहीं रहता। समूची साधना इसमें समा जाती है। साधना का सार यही है—चंचलता को रोकना और समभाव में रहना। साधना की समूची धारा इन दो तटों के बीच बहती है। ये दो ही तट हैं साधना के। कोई भी साधना की ऐसी धारा नहीं है जो इन दो तटों को तोड़कर, इन दो तटों का अतिक्रमण कर प्रवाहित होती हो। यदि कोई ऐसी धारा है तो वह मोक्ष की, मुक्ति की, स्वतंत्रता की साधना नहीं है। और कुछ साधना हो सकती है। वह वीतरागता की साधना नहीं है, और कुछ हो सकती है। वैसे तो प्रत्येक प्रवृत्ति साधना है। कोई भी प्रवृत्ति साधना के बिना नहीं होती। प्रत्येक प्रवृत्ति को निष्पन्न करने के लिए साधना अपेक्षित होती है। कोई भी कार्य साधना के बिना नहीं होता। कोई भी कार्य साध्य के बिना नहीं होता। प्रत्येक प्रवृत्ति में साध्य, साधन और साधना—तीनों होते हैं। आप कोई भी प्रवृत्ति करें, उसका साध्य होगा कि आप उसको क्यों करना चाहते हैं ? उसका साधन होगा कि आप किन-किन साधनों से उसे निष्पन्न करना चाहते हैं। उसकी साधना भी होगी कि आपको उसकी निष्पत्ति में कैसे तपना-खपना होगा।

हम जिस संदर्भ में साधना की चर्चा कर रहे हैं, वह अन्यान्य साधनों से कुछ भिन्न है। हमारी समूची साधना की धारा दो तटों के बीच में ही बहे। एक तट है—स्थिरता का और दूसरा तट है—समता का, वीतरागता का, अकषायभाव का, राग-द्वेष की न्यूनता का। इन दो तटों के बीच साधना की धारा बहे, यही काम्य है। फिर चाहे हम कोई भी प्रवृत्ति करें या निवृत्ति करें, काम करें या न करें, बोलें या न बोलें, सोचें या न सोचें, खाएं या न खाएं। हम कुछ भी करें, उन दोनों तटबंधों को इतना मजबूत बनाये रखें कि उनमें कहीं दरार न होने पाये, छेद न होने पाये और पानी इधर-उधर छितरे बिना तटबंधों के बीच में बहता रहे।

प्रश्न होता है कि कर्म के आकर्षण की प्रक्रिया और संश्लेष की प्रक्रिया के पीछे हेतु क्या है ? ये दोनों प्रवृत्तियां दो आस्रवों के द्वारा होती हैं। एक आस्रव का नाम है—योग और दूसरे आस्रव का नाम है—कषाय। योग आस्रव और कषाय आस्रव—ये दो आस्रव हैं, जिनके द्वारा कर्मों का आकर्षण और कर्मों का संश्लेष होता है। चंचलता स्पष्ट है, कषाय उतना स्पष्ट नहीं है। चंचलता स्पष्ट दीखती है, कषाय भीतर छिपा रहता है। वह दिखायी नहीं देता। हमें गूढ़ में जाना होगा, रहस्य में जाना होगा। हमें कहीं-कहीं रहस्यवादी भी बनना होगा और जो छिपा हुआ है, उसके तल तक पहुंचना होगा।

मनोविज्ञान ने मन के तीन विभाग किये हैं—

१. अदस् (Id) मन।

२. अहं (Ego) मन।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

३. अधिशास्ता (Super Ego) मन।

पहला विभाग है 'अदस्' मन। इस विभाग में आकांक्षाएं पैदा होती हैं। जितनी प्रवृत्त्यात्मक आकांक्षाएं और इच्छाएं हैं, वे सब इस मन में पैदा होती हैं। इसमें अचेतन का भाग अधिक है, चेतन का भाग कम।

दूसरा विभाग है 'अहं' मन। समाज-व्यवस्था से जो नियंत्रण प्राप्त होता है, उससे आकांक्षाएं यहां नियंत्रित हो जाती हैं, और वे कुछ परिमार्जित हो जाती हैं। उन पर अंकुश जैसा लग जाता है। मन में जो आकांक्षा या इच्छा पैदा हुई, 'अहं मन' उसे क्रियान्वित नहीं करता।

तीसरा विभाग है 'अधिशास्ता' मन। यह अहं पर भी अंकुश रखता है और उसे नियंत्रित करता है।

चंचलता अपने आप नहीं होती। चंचलता के पीछे कोई-न-कोई आकांक्षा होती है। हम अपने आप नहीं बोलते। बोलने की जरूरत होती है, आकांक्षा उत्पन्न होती है, कोई विकल्प पैदा होता है, तब हम बोलते हैं। मैं कई बार मौन करने के विषय में सोचता हूं। यह देखकर मुझे अजीब-सा लगता है कि आदमी मौन करता है और प्रवृत्ति इतनी करता है कि शायद बोलने वाला भी नहीं करता या बोलते हुए भी नहीं करता। बड़ा विचित्र लगता है। वाणी का मौन है, किन्तु संकेतों से इतनी प्रवृत्ति कर देना कि शायद बोलने वाला भी न करे। यह मौन नहीं है। मौन का मतलब केवल नहीं बोलना ही नहीं है। उसका मतलब है कि बोलने की अपेक्षा कम हो जाये। जिससे हमें बोलने की प्रेरणा मिलती है, हम बोलने के लिए बाध्य होते हैं, उन अपेक्षाओं का कम हो जाना मौन है, न कि वाणी का प्रयोग बंद कर समूचे शरीर को हिला देना, संकेतों से प्रवृत्ति करना, मौन है।

कुछ लोग मौन भी कर लेते हैं और 'ऊं-ऊं' आदि अव्यक्त ध्वनि से अपना काम भी निकाल लेते हैं। यह कैसा मौन ?

आकांक्षा का कम होना, प्रयोजन का कम होना, इच्छाओं का कम होना, अपेक्षाओं का कम होना चंचलता का अपने आप कम होना है। चंचलता अपने आप नहीं होती। घूमने वाली चीज अपने आप नहीं घूमती। उसे घुमाने वाला दूसरा कोई-न-कोई होता है। चक्का घूमता है, चाहे हवा से, चाहे बिजली से और चाहे और किसी साधन से। वह अपने आप नहीं घूमता। किसी प्रेरणा से घूमता है। चंचलता अपने आप नहीं होती। चंचलता की तह में कुछ और होता है।

पारिभाषिक शब्दावली में चंचलता को योग कहा जाता है। यह योग आस्रव है। योग आस्रव अपने आप प्रवृत्त नहीं होता, उसके पीछे कोई अपेक्षा होती है। वह अपेक्षा है—अविरति। अविरति अर्थात् छिपी हुई चाह। वह छिपी हुई ज्वाला है, आग है। आग भभक रही है। चाह है। सुख को पाने की चाह और दुःख को मिटाने की चाह। प्रिय को पाने की चाह और अप्रिय को मिटाने की चाह।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Narja, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनुकूल को प्राप्त करने की चाह और प्रतिकूल को समाप्त करने की चाह। सुख-सुविधा को पाने की चाह और कष्ट को मिटाने की चाह। यह जो विभिन्न प्रकार की आन्तरिक चाह है, आकांक्षा है, इसे मनोविज्ञान की भाषा में 'अदस् मन' कहा गया है। कर्मशास्त्र की भाषा में यह अविरति आस्रव है। अविरति का अर्थ है—विरति का अभाव। अभी तक चाह मिटी नहीं है। प्यास बुझी नहीं है। अतृप्ति है, अतृप्ति है। कंठ अभी तक सूखा ही सूखा है। कितना ही पानी पी लिया, पर अभी तक कंठ सूखे हैं। प्यास बुझी नहीं। सारे संसार का पानी पी लिया, पर प्यास बुझी नहीं। यह अमिट चाह! अमिट चाह का जो स्रोत है, उसे अविरति आस्रव कहा गया है। इसकी मात्रा जितनी अधिक होगी, चंचलता अधिक बढ़ेगी। चंचलता यदि स्वाभाविक होती तो सब प्राणियों में समान होती।

कुछ लोग बरामदे में बैठे हैं। सड़क पर बाजे बजते हैं। कुछ खड़े होकर सड़क पर देखने लग जाएंगे, कुछ शांत बैठे रहेंगे। यह अन्तर क्यों? जिनमें अविरति प्रबल है, चाह प्रबल है, उत्सुकता प्रबल है, वे देखने को दौड़ेंगे, भागेंगे, प्रयत्न करेंगे, सुनना चाहेंगे। जिनमें अविरति कम है, चाह कम है, उत्सुकता कम है, वे अपने आप में शांत बैठे रहेंगे। अन्तर्वृत्ति होकर बैठे रहेंगे। वे बहिर्वृत्ति नहीं रहेंगे। वे बाहर नहीं भागेंगे। यह आकर्षण का कम होना सहजभाव से अन्तर्वृत्ति होना है।

मानसशास्त्र में दो प्रकार की वृत्तियों का उल्लेख है—अन्तर्वृत्ति और बहिर्वृत्ति। कामशक्ति जब आगे की ओर बढ़ती है, व्यक्ति बहिर्वृत्ति हो जाता है, बाहर की ओर दौड़ने लग जाता है। जब कामशक्ति की प्रत्यावृत्ति होती है, डिप्रेशन होता है तो व्यक्ति भीतर में सिमट जाता है। उसकी बाहरी वृत्तियां समाप्त हो जाती हैं। ठीक हम इसी कर्मशास्त्रीय भाषा का प्रयोग करें कि अविरति जब तीव्र होती है तब पुरुष बाहर की ओर भागता है। उसकी आकांक्षा इतनी बढ़ जाती है कि वह सारे संसार को अपनी मुट्ठी में बंद करने का प्रयत्न करता है और सब कुछ बाहर ही बाहर देखता है। उसे सब कुछ बाहर ही बाहर दीखता है। जब यह अविरति कम होती है, व्यक्ति अपने भीतर सिमटना शुरू हो जाता है। जब भीतर सिमटना शुरू होता है तो आकांक्षाएं कम होती हैं, चंचलता अपने आप कम हो जाती है। एक संस्कृत कवि ने कहा है—

> आशा नाम मनुष्याणां, काचिदाश्चर्यशृंखला।
> यया बद्धाः प्रधावन्ति, मुक्तास्तिष्ठन्ति पङ्गुवत्॥

आशा नाम की एक सांकल है। यह अद्भुत सांकल है। लोहे की सांकल से आदमी को बांध दो, वह चल नहीं पायेगा। सांकल को खोल दो, वह चलने लग जायेगा। किन्तु आशारूपी सांकल से आदमी को बांध दो, वह दौड़ने लग जायेगा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सांकल को खोल दो वह पंगु की तरह बैठ जायेगा। कितनी उल्टी बात है ? एक सांकल वह है जिससे बंधा आदमी चल नहीं सकता, सांकल से मुक्त होते ही वह दौड़ने लग जाता है। एक सांकल वह है जिससे बंधा आदमी दौड़ने लगता है और मुक्त होने पर एक पैर भी नहीं चल पाता। कितनी अद्‌भुत बात है।

चचलता पैदा करने वाला, सक्रियता पैदा करने वाला, भटकाने वाला जो तत्त्व है, वह है अविरति। यह एक ऐसी प्यास है जिसे हम अभी तक बुझा नहीं पाये। इतना भोग कर भी बुझा नहीं पाये। चंचलता का यही बड़ा स्रोत है। एक प्रश्न आता है कि जब हम इतना जान गये कि चंचलता का स्रोत है आकांक्षा, इच्छा, अतृप्ति, फिर भी उसे बुझा नहीं पाते। यह क्यों ? आदमी जान ले, फिर क्यों नहीं बुझा पाये ? इसका भी एक कारण है। यह भ्रम है कि आदमी ने जान लिया। वह अभी तक जान नहीं पाया है। इसका कारण है—मिथ्यादृष्टिकोण। हमारा दृष्टिकोण ही कुछ ऐसा बना हुआ है कि जिससे प्यास बुझती है उससे दूर भागते हैं और जिससे प्यास भभकती है उसे इसलिए पी रहे हैं कि प्यास बुझ जाये। आचार्य पूज्यपाद ने लिखा है—

मूढात्मा यत्र विश्वस्तः, ततो नान्यद् भयास्पदम्।
यतो भीतस्ततो नान्यद्, अभयस्थानमात्मनः॥

—'मूढ़ आत्मा जिसमें विश्वास करता है उससे अधिक कोई भयानक वस्तु संसार में नहीं है। मूढ़ आत्मा जिससे डरता है, जिससे दूर भागता है, उससे बढ़कर शरण देने वाली वस्तु संसार में नहीं है।'

खतरनाक वस्तु में विश्वास करना और ख़तरा मिटाने वाली वस्तु से दूर भागना, यह कब होता है ? यह तब होता है जब आत्मा मूढ़ हो, दृष्टिकोण मिथ्या हो, मोह प्रबल हो। जब राग-द्वेष की प्रबलता होती है, कषाय की प्रबलता होती है, तब ऐसा होता है। जब तक मिथ्यादृष्टि दूर नहीं होगी, तब तक हम यह समझ नहीं पायेंगे।

कर्म-बन्ध की प्रक्रिया में महावीर से पूछा गया—भंते ! कर्म का बंध कैसे होता है ? उसकी प्रक्रिया क्या है ?

भगवान् ने कहा—जब ज्ञानावरण कर्म विशिष्ट उदयावस्था में होता है, तब दर्शनावरण कर्म का उदय होता है। जब जानने पर आवरण आता है, तब देखने पर भी आवरण आ जाता है। जब दर्शन का आवरण होता है, तब दर्शन मोह कर्म का उदय होता है। जब दर्शन मोह का उदय होता है, तब मिथ्यात्व आता है। उसके अस्तित्व में नित्य को अनित्य, सुख को दुःख, अनित्य को नित्य और दुःख को सुख मानने की बात घटित होती है। तब व्यक्ति जो दुःख के साधन हैं, उन्हें सुख के साधन तथा जो सुख के साधन हैं, उन्हें दुःख के साधन मानने लग जाता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तब वह प्यास को बुझाने वाले साधनों को प्यास लगाने वाले तथा प्यास लगाने वाले साधनों को प्यास बुझाने वाले साधन मानने लग जाता है। सारी बात उलट जाती है। जब तक यह मिथ्यात्व का बंधन नहीं टूटता, तब तक कर्म का चक्र टूट नहीं सकता। इसे तोड़ा नहीं जा सकता।

मिथ्यादृष्टि के अस्तित्व-काल में, यह जानते हुए भी कि प्यास है और प्यास बुझाने के साधन भी हैं, हम उन्हीं साधनों को ढूंढ़ते हैं, जिनसे प्यास और अधिक बढ़ जाती है। यह इसलिए होता है कि उसकी तह में मिथ्यात्व अवस्थित है। मिथ्या दृष्टिकोण, मति का विपर्यय, बुद्धि का विपर्यास—सत्य को विपरीत ग्रहण करने के लिए बाध्य करता है।

जब तक मिथ्यात्व रहेगा तब तक आकांक्षाएं रहेंगी, प्यास बनी-की-बनी रहेगी। जब तक प्यास बनी रहेगी, तब तक प्रमाद भी होता रहेगा, भ्रान्ति होती रहेगी, विस्मृति होती रहेगी। विस्मृति, जैसे—हमने एक बार जान लिया कि धन सुख का साधन नहीं है। यह तथ्य स्मृतिपटल पर अंकित है, किन्तु जसे हम कार्यक्षेत्र में उतरेंगे, कर्मक्षेत्र में प्रवेश करेंगे, तब इस बात को भूल जाएंगे, कि धन, संपत्ति, ऐश्वर्य सुख के साधन नहीं हैं। हम यह मानने लग जाएंगे या हमें ऐसा लगने लगेगा कि संसार में कोई सारभूत वस्तु है तो वह धन है, संपत्ति है, ऐश्वर्य है। शेष सब कुछ असार-ही-असार है, व्यर्थ है, मिथ्या है। धन है तो सब कुछ है, धन नहीं है तो कुछ भी नहीं, धन ही सार है, यही सारभूत है, पदार्थ है। अब प्रश्न होता है कि ऐसा क्यों होता है? इसका समाधान यह है कि हम भूल जाते हैं, विस्मृति हो जाती है, प्रमाद उभर जाता है, इसलिए ऐसा होता है।

जब तक ये चार तत्त्व—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषाय—अस्तित्व में रहते हैं, तब तक चंचलताओं को रोका नहीं जा सकता। चंचलता के चक्र को धीमा नहीं किया जा सकता। वह चक्र इतना तेज़ी से घूमने लगता है कि उसका अनुमान करना भी कठिन हो जाता है। व्यक्ति ध्यान करने के लिए बैठता है तो कभी आकांक्षाओं का ज्वार आता है, कभी प्रमाद का अंधकार छा जाता है, कभी कषाय की आग भभक उठती है और वह ध्यान से भटक जाता है। ध्यान छूट जाता है और वह संकल्प-विकल्प के जाल में फंस जाता है। उस जाल में ऐसी समाधि लगेगी कि वास्तविक समाधि का छोर छूट जायेगा। यह इसलिए होता है कि हम शोधन करते हुए नहीं आ रहे हैं। हमारी वृत्तियों का शोधन नहीं हो पाया है।

साधना की सफलता के लिए हमें इन कर्मशास्त्रीय रहस्यों को समझना अत्यन्त आवश्यक हो जाता है। हम मिथ्या दृष्टिकोण को छोड़ें, सम्यक् दृष्टिकोण को अपनाएं, अविरति को छोड़ें और विरति को ग्रहण करें, प्रमाद को छोड़कर अप्रमाद में आएं और कषाय की आग को शान्त कर चलते जाएं। इतना होने पर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चंचलता अपने आप कम होती रहेगी।

लोग पूछते हैं—पहले ही क्षण में मन चंचल है। उसे शान्त कैसे करें, ऐसा कोई जादू नहीं है कि पहले ही क्षण में मन शान्त हो जाये। मन को शान्त करने की एक प्रक्रिया है। उस प्रक्रिया में से गुज़रें, मन शान्त हो जायेगा। वह प्रक्रिया है—मिथ्या दृष्टिकोण, अविरति, प्रमाद और कषाय को उपशान्त करते जाएं, मन शान्त हो जायेगा। इन चारों को आप क्षीण करते जायें, क्षीण करने की साधना करें, एक दिन ऐसा आयेगा कि मन शान्त हो रहा है, हो गया है, वाणी शान्त हो रही है, हो गयी है, शरीर शान्त हो रहा है, हो गया है। हम इस प्रक्रिया को दृढ़ता से पकड़ें और उसको करते चले जाएं। उसमें से गुज़रें, क्रमशः हम अपने लक्ष्य में सफल होते जायेंगे। हम तात्कालिक लाभ पाने के लिए यह न सोचें कि अभी सब कुछ हो जाये, साधना के पहले क्षण में ही सिद्धि मिल जाये। यह न कभी हुआ है, न होता है और न होगा। हम प्रक्रिया करते चले जायें। निराश न बनें।

हम श्वास प्रेक्षा या शरीर प्रेक्षा कर रहे हैं, उसका पूरा अर्थ सबके समझ में आये या न आये, किन्तु यह निश्चित है कि हम एक प्रक्रिया में से गुज़र रहे हैं। और उसके द्वारा उन चारों के चक्रव्यूह को तोड़ने का प्रयास करे हैं। प्रश्न होता है कि हम अनुप्रेक्षा के अभ्यासकाल में चिंतन करते हैं, चिंतन करना प्रेक्षा में मन को इधर से उधर घुमाना चंचलता को मिटाने का उपाय कैसे हो सकता है? प्रश्न सही है। हम अनुप्रेक्षा के समय चंचलता को नहीं मिटा रहे हैं, उसके लिए प्रयत्न भी नहीं कर रहे हैं। हम एक प्रकार की चंचलता के सामने दूसरे प्रकार की चंचलता खड़ी कर रहे हैं।

महर्षि पतंजलि ने कहा है—'वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम्।'—एक पक्ष को तोड़ना है तो दूसरे प्रतिपक्ष को पैदा करो। अशुभ को तोड़ना है तो शुभ को पैदा करो। छोड़ना दोनों को है—शुभ को भी छोड़ना है और अशुभ को भी छोड़ना है। पाप को भी छोड़ना है और पुण्य को भी छोड़ना है। किन्तु अशुभ को छोड़ने के लिए शुभ का संकल्प करें। बुरे को छोड़ने के लिए अच्छे का संकल्प करें। बुरी आदत को छोड़ने के लिए अच्छी आदत डालें। अन्यथा बुरी आदत छूटेगी नहीं। एक बार छूट भी जायेगी तो वह पुनः पकड़ लेगी। हमने देखा, एक आदमी को तम्बाकू सूंघने की आदत थी। दिन में सौ-पचास बार वह तम्बाकू सूंघता था। न उसे उस तम्बाकू में दुर्गन्ध ही आती और न उसे उस आदत के प्रति घृणा ही थी। एक दिन उसे वह बात समझ में आ गयी और उसने उस आदत को छोड़ने का संकल्प कर लिया। अब वह तम्बाकू को सूंघना छोड़, इत्र को सूंघने लगा। इत्र सूंघना उसकी आदत बन गयी और वह तम्बाकू की आदत छूट गयी।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बुरी आदत को बदलने के लिए अच्छी आदत डाली जाती है। एक प्रकार की चंचलता को मिटाने के लिए हम दूसरे प्रकार की चंचलता का सहारा ले रहे हैं। पुरानी चंचलता को मिटाने के लिए नई चंचलता को अपना रहे हैं। ऐसा करते-करते एक दिन ऐसा भी आयेगा कि सारी चंचलता मिट जायेगी, समाप्त हो जायेगी।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१३

समस्या का मूल बीज

- योग्यतात्मक क्षमता—लब्धिवीर्य।
- क्रियात्मक क्षमता—करणवीर्य।
- शरीर मन को प्रभावित करता है और मन शरीर को प्रभावित करता है। दोनों का मूल है—कर्म।
- काल का प्रभाव। काललब्धि से विकास।
- व्यवहार राशि और अव्यवहार राशि।

•

कुछ व्यक्ति नहीं जानते कि उन्हें क्या करना है ? कुछ व्यक्ति जानते हैं पर करने में समर्थ नहीं होते। कुछ व्यक्ति जानते हैं किन्तु सही-सही नहीं जानते। कुछ करते हैं, पर सही ढंग से नहीं करते। इस प्रकार अनेक समस्याएं हैं और प्रत्येक व्यक्ति को किसी-न-किसी समस्या का सामना करना पड़ता है। ये समस्याएं क्यों हैं ? इनका हेतु क्या है ? कर्मशास्त्र में इन प्रश्नों पर विमर्श किया गया और इनका समाधान भी दिया गया।

ज्ञान की दूसरी शाखाएं, जो स्नायविक उत्तेजना तथा परिस्थिति के कारण मानवीय आचरण की व्याख्या करती हैं, वे शरीर से आगे नहीं जातीं। यह उनका विषय भी नहीं है। उनका विषय शरीर से प्रतिबद्ध है।

मानसशास्त्र ने मनोविश्लेषण किया और मानसिक समस्याओं के बारे में विचार भी किया, उनका समाधान भी दिया। किन्तु वह समाधान परिस्थिति और परिस्थिति-जनित स्नायविक उत्तेना—इन दो में समाहित हो जाता है। वह इन दो से आगे नहीं जाता। वह अवचेतन मन तक जाता है। किन्तु अवचेतन मन में

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भी ऐसा क्यों होता है, इसका कोई सही समाधान प्राप्त नहीं होता।

कर्मशास्त्र ने इनके मूल कारणों पर भी विचार किया है, परिस्थितियों पर भी विचार किया है। उसने परिस्थितियों को अस्वीकार नहीं किया है, क्योंकि परिस्थितियां निमित्त बनती हैं। निमित्त को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। किन्तु जो घटना घटित होती है, उसका मूल हेतु क्या है, इसके विमर्श में जब हम जायें तो पता चलेगा कि प्रत्येक समस्या के पीछे किसी न किसी कर्म की कोई प्रेरणा है।

हम अज्ञान को लें। आदमी नहीं जानता। किसी कर्मशास्त्री से पूछो तो वह कहेगा—यह आदमी नहीं जानता। इसका मूल कारण है ज्ञानावरण—कर्म का उदय। इस व्यक्ति की चेतना को ज्ञान का आवरण प्रभावित कर रहा है, इसलिए इसके ज्ञान का विकास नहीं हो पा रहा है।

मानसशास्त्री का उत्तर दूसरा होगा। वह कहेगा—इस व्यक्ति का मस्तिष्क विकसित नहीं है, इसलिए इसमें ज्ञान का विकास कम है। मानसशास्त्री शरीर के आधार पर कारण ढूंढेगा और उन कारणों का विश्लेषण करेगा।

एक प्रश्न होता है कि मस्तिष्क विकसित क्यों नहीं हुआ? इसका भी कोई कारण अवश्य होना चाहिए। कारण अवश्य है। वह कारण छिपा हुआ है सूक्ष्म शरीर में। वह स्थूल शरीर में प्रकट नहीं है। उस व्यक्ति के ज्ञान के आवरण का इतना प्रबल उदय है कि ज्ञान का संवाहक अवयव बना ही नहीं या बना है तो अधूरा है। ज्ञानावरण के कारण ही मस्तिष्क विकसित नहीं हुआ है। अमनस्क जीवों (Non Vergetta) में पृष्ठरज्जु और मस्तिष्क नहीं होते। समनस्क जीवों (Vergetta) के पृष्ठरज्जु और मस्तिष्क होते हैं। फिर भी उनका विकास समान नहीं होता। ज्ञानावरण-विलय के तारतम्य के आधार पर वह तरतमता-युक्त होता है।

एक व्यक्ति जानता है। उसमें ज्ञान है। पर वह करने में समर्थ नहीं है। अपने आपको अकर्मण्य पाता है। कर्मशास्त्र कहेगा—इसका भी कारण है। वह कारण है—अन्तराय कर्म का उदय। वह कर्म उस व्यक्ति की शक्ति को बाधित कर रहा है, उसे स्खलित कर रहा है। वह कर्म शक्ति का प्रतिघात कर रहा है। उसमें अवरोध उत्पन्न कर रहा है। वह उसकी कर्मजा शक्ति में सहयोग नहीं दे रहा है, बाधा पहुंचा रहा है।

दो प्रकार की क्षमता है—योग्यात्मक क्षमता और क्रियात्मक क्षमता। योग्यात्मक क्षमता आत्मा का गुण है। क्रियात्मक क्षमता आत्मा और शरीर के योग से निष्पन्न होती है। कर्मशास्त्र की भाषा में योग्यात्मक क्षमता को 'लब्धि-वीर्य' और क्रियात्मक क्षमता को 'करणवीर्य' कहा जाता है। जिस व्यक्ति में 'लब्धिवीर्य' नहीं होता, शक्ति का मूलतः विकास ही नहीं होता, वह कुछ कर ही

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नहीं पाता। वह कितना ही चाहे, कर नहीं सकता। जिस व्यक्ति में लब्धिवीर्य है, किन्तु करणवीर्य नहीं है, क्रियात्मक क्षमता नहीं है तो शक्ति की उपलब्धि होने पर भी वह कुछ नहीं कर पाता। जिसमें दोनों हैं, वही व्यक्ति कुछ कर पाता है।

कर्मशास्त्र के इस महत्त्वपूर्ण बिन्दु को समझने के लिए हमें आत्मा और शरीर, मन और शरीर—दोनों के योग को ठीक से समझना होगा। मन का शरीर पर प्रभाव होता है और शरीर का मन पर प्रभाव होता है। आत्मा का शरीर पर प्रभाव होता है और शरीर का आत्मा पर प्रभाव होता है। केवल आत्मा या केवल शरीर से वे सारे कार्य नहीं हो सकते जो हमारे व्यक्तित्व की व्याख्या करने वाले होते हैं। केवल आत्मा से वे ही कार्य निष्पन्न होते हैं जो आत्मा के मूलभूत कार्य हैं। वे हैं—चैतन्य का पूर्ण विकास, आनन्द का पूर्ण विकास, शक्ति का पूर्ण विकास अर्थात् अनन्त चैतन्य, अनन्त आनन्द और अनन्त शक्ति की प्राप्ति। वह चैतन्य जिसका एक कण भी आवृत नहीं होता, वह आनन्द जिसमें कभी विकार नहीं आता, जिसमें कभी शोक की लहर नहीं आती, वह अखण्ड आनन्द, अव्याबाध्य आनन्द, वह शक्ति जिसमें कोई बाधा नहीं होती, कोई स्खलना नहीं होती, कोई रुकावट नहीं होती। यह केवल आत्मा में ही हो सकता है। किन्तु जहां शरीर है और शरीर के द्वारा जो चैतन्य प्रकट हो रहा है। वह अखंड नहीं होगा। शरीर के माध्यम से प्रकट होने वाला आनन्द भी अव्याबाध नहीं होगा। शरीर के माध्यम से प्रकट होने वाली शक्ति भी अव्याहत नहीं होगी। माध्यम के द्वारा जो भी प्रकट होता है, वह कभी पूर्ण नहीं होता। माध्यम का अर्थ होता है—बैसाखी। अपने पैरों से चलने वाला व्यक्ति जिस शक्ति का अनुभव करता है, बैसाखी के सहारे चलने वाला व्यक्ति वैसी शक्ति का कभी अनुभव नहीं कर सकता। बैसाखी का सहारा तभी लेना पड़ता है, जब पैरों में शक्ति की कमी होती है। यदि पैरों में शक्ति पूरी हो तो बैसाखी निरर्थक है। मनुष्य माध्यम का सहारा तब लेता है जबकि पूरक की जरूरत होती है। आंखों की शक्ति न्यून होती है, तब चश्मा लगाना पड़ता है। वह शक्ति का पूरक होता है। देखने की शक्ति न्यून न हो तो चश्मा आवश्यक नहीं होता, माध्यम की आवश्यकता नहीं होती।

आत्मा की अभिव्यक्ति का माध्यम है शरीर। शरीर के माध्यम से ही आत्मा की शक्तियां अभिव्यक्त होती हैं। चैतन्य की अभिव्यक्ति, आनन्द की अभिव्यक्ति, शक्ति की अभिव्यक्ति—ये सारी अभिव्यक्तियां शरीर के माध्यम से होती हैं।

चैतन्य की अभिव्यक्ति के साधन हैं—इन्द्रियां, मन और बुद्धि। आनन्द की अभिव्यक्ति का माध्यम है—अनुभूति। शक्ति की अभिव्यक्ति का माध्यम है—शरीर। हाथ, पैर आदि सारे अवयव शक्ति की अभिव्यक्ति के माध्यम हैं। इन्द्रियां भी शक्ति की अभिव्यक्ति के मार्ग हैं। शक्ति के बिना कुछ भी नहीं होता। चैतन्य की अभिव्यक्ति भी शक्ति के बिना नहीं हो सकती। आनन्द की

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अभिव्यक्ति भी शक्ति के बिना नहीं हो सकती। शक्ति का माध्यम सबके साथ जुड़ा हुआ है। सभी अभिव्यक्तियों का माध्यम है शरीर। इसीलिए मन से शरीर प्रभावित होता है और शरीर से मन प्रभावित होता है। चैतन्य का विकास हो गया, किन्तु इन्द्रियां ठीक नहीं हैं, इन्द्रियों का जो आकार बना है, इन्द्रियों के जो गोलक बने हैं, वे ठीक नहीं हैं, स्वस्थ नहीं है, तो चैतन्य की शक्ति काम नहीं आयेगी, उसका उपयोग नहीं हो पायेगा, जैसे-तैसे वह अनुपयोगी ही बनी रहेगी। आनन्द का विकास है, किन्तु अभिव्यक्ति का माध्यम ठीक नहीं है तो वह कार्यकर नहीं होगा। शरीर भी ठीक होना चाहिए, उसके अनुरूप होना चाहिए और इन्द्रियों के गोलक स्वस्थ और सक्षम होने चाहिए तभी उनमें शक्तियां अभिव्यक्त हो सकती हैं, अन्यथा नहीं। बिजली का प्रवाह निरंतर गतिशील है। यदि बल्ब ठीक है तो वह अभिव्यक्त हो जायेगी, प्रकाश फैल जायेगा। यदि बल्ब ठीक नहीं है तो बिजली रहते हुए भी उसमें अभिव्यक्त नहीं होगी, प्रकाश नहीं होगा, अंधेरा नहीं मिटेगा। माध्यम ठीक होना चाहिए तभी अभिव्यक्ति हो सकती है।

हम यह विस्मृत न करें कि शरीर मन को प्रभावित करता है और मन शरीर को प्रभावित करता है। शरीर भी प्रभाव का निमित्त बनता है और मन भी प्रभाव का निमित्त बनता है। किन्तु निमित्त का मूलस्रोत है—कर्म।

कुछ मानते हैं कि परिस्थिति के कारण ऐसा होता है। किन्तु उसमें हमें अपवाद भी मिलते हैं। कई बार ऐसा अनुभव होता है कि वातावरण शान्त है, मन शान्त है, कहीं कुछ गड़बड़ नहीं है, फिर भी मन में अचानक उदासी छा जाती है, मन चिंता से भर जाता है, वह शोकाकुल हो जाता है। कभी-कभी अचानक मन हर्ष से विभोर हो जाता है, मुसकराहट फूट पड़ती है । यह सब सकारण हो तो बात समझ में आ सकती है। कोई हास्यास्पद घटना घटित हो और हंसी आ जाये या चिंता पैदा करने वाली घटना घटित हो और मन चिंता से भर जाये, यह बात समझ में आ सकती है। किन्तु अकारण ही मन में हर्ष या विषाद पैदा हो, यह आश्चर्य में डाल देती है। जब हर्ष, विषाद, चिंता या शोक का कोई प्रत्यक्ष हेतु नहीं दीखता तब अचंभा होता है। कर्मशास्त्र ने इन अहेतुक आवेगों पर भी विचार किया और समाधान प्रस्तुत करते हुए कहा कि निमित्तों के मिलने पर या परिस्थितियों के होने पर हर्ष, भय, शोक आदि होते हैं, किन्तु कभी-कभी ऐसा भी होता है कि जब भय-वेदनीय कर्म का प्रबल उदय होता है और वे कर्म-परमाणु इतनी प्रबलता से उदय में आते हैं, शोक या चिंता पैदा हो जाती है। जब शोक-वेदनीय-कर्म के परमाणु तीव्रता से उदय में आते हैं, तब बिना कारण ही मन में शोक छा जाता है। क्रोध-वेदनीय के प्रबल उदय से अकारण ही व्यक्ति क्रोधित हो जाता है। इस प्रकार के क्रोध को 'अप्रतिष्ठित क्रोध' कहा गया है। अप्रतिष्ठित क्रोध का अर्थ है—अकारण उत्पन्न होने वाला क्रोध। उसकी कोई प्रतिष्ठा नहीं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है, कारण नहीं है, निमित्त नहीं है। उसका हेतु केवल कर्म के उदय की प्रबलता मात्र है। क्रोध-वेदनीय के परमाणु एक साथ इतनी प्रबलता से उदय में आ गये कि व्यक्ति बैठे ही बैठे गुस्से में आ गया। दैनंदिन के जीवन में हम ऐसी अवस्थाओं का अनुभव करते हैं।

सब कुछ सकारण ही नहीं होता, अकारण भी बहुत कुछ होता है। अनेकान्त की स्वीकृति के अनुसार प्रत्येक कार्य के पीछे बाह्य कारण की अनिवार्यता नहीं है। कहीं-कहीं कारण स्वगत भी होता है, अलग कारण नहीं भी होता। अर्थात् वहां कार्य और कारण दो नहीं होते। अचानक उभरने वाले क्रोध में कोई बाहरी कारण नहीं होता, उसका कारण स्वयं में समाहित है। क्रोध-वेदनीय का उदय ही क्रोध का कारण है, अन्य कोई कारण नहीं है, कोई परिस्थिति नहीं है, कोई निमित्त नहीं है। ऐसा भी घटित होता है। कर्मशास्त्रीय व्याख्या के सन्दर्भ में हम परिस्थितिवाद को सार्वभौम सिद्धान्त के रूप में स्वीकार नहीं कर सकते। यह निमित्त का अस्वीकार नहीं है, परिस्थिति का अस्वीकार नहीं है। जैसी परिस्थिति होती है, व्यक्ति वैसा ही बन जाता है। इस बात में सचाई है, किन्तु पूरी सचाई नहीं है। जब हम सापेक्षवाद के आधार पर चिंतन करते हैं तो पूरी सचाई की बात किसी एक बात में हो ही नहीं सकती। वह सब अपूर्ण सत्य है। परिस्थितिवाद मिथ्या नहीं है। कर्मवाद में परिस्थिति का भी स्थान है, निमित्त का भी स्थान है। किन्तु परिस्थिति ही सब कुछ है या परिस्थिति ही व्यक्ति को निर्मित करती है या हमारा प्रत्येक आचरण या व्यवहार परिस्थिति से ही प्रभावित होकर घटित होता है—ऐसा मानना भ्रामक होगा। यदि परिस्थितिवाद की एकान्ततः स्वीकृति होती है तो उसके चक्र को कभी तोड़ा नहीं जा सकता, वह कभी टूट नहीं सकता। वह आगे से आगे घूमता रहता है। एक प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि इस परिस्थिति के चक्र को नहीं तोड़ा जा सकता तो फिर इस कर्म-चक्र को कैसे तोड़ा जा सकता है? यह भी तो एक चक्र है। क्योंकि प्रत्येक घटना के पीछे यदि कर्म का हाथ है और हर घटना कर्म के द्वारा ही प्रभावित होती है या प्रभावित होकर ही घटित होती है तो फिर इस कर्म-चक्र को कैसे तोड़ा जा सकता है।

कर्म की स्वीकृति भी एकान्तिक नहीं है। सब कुछ कर्म से ही घटित होता है, या यह स्वीकृति उचित नहीं है। सब कुछ कर्म से नहीं होता। कुछ ऐसी भी स्थितियां हैं, जो कर्म से प्रभावित नहीं भी होतीं। व्यक्ति का पूरा व्यक्तित्व कर्म से प्रभावित नहीं होता। ऐसी अनेक घटनाएं घटित होती हैं, जो कर्म से प्रभावित नहीं होतीं।

एक व्यक्ति अनादिकाल से मिथ्यादृष्टि है। उसका मिथ्यादर्शन अनादि है। वह प्रत्येक तत्त्व को मिथ्यादृष्टि से देखता है। सत्य के प्रति उसकी दृष्टि सही नहीं है। जब अनादिकाल से ऐसा हो रहा है तो वह मिथ्यात्व के चक्र को कैसे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तोड़ पायेगा ? किन्तु आत्मा में एक ऐसी शक्ति है, जो पूर्णरूपेण कर्म से कभी प्रभावित नहीं होती। यदि कर्म का पूरा साम्राज्य भी हो जाये तो भी वह उसे कभी मिटा नहीं सकता। उसे तोड़ नहीं पाता। कर्म का साम्राज्य, मोह का साम्राज्य इसीलिए स्थापित होता है और तब तक चलता है, जब तक कि आत्मा अपनी शक्ति के प्रति जागृत न हो जाये, जानने का क्षण प्राप्त न हो जाये।

किसी भी राष्ट्र में विदेशी शासन तब तक चलता है, जब तक उस देश या राष्ट्र की जनता जागृत नहीं हो जाती। दुनिया के किसी भी राष्ट्र के इतिहास में यही हुआ है। विदेशी शासकों ने तब तक शासन किया जब तक कि वहां की जनता जाग न गयी या वहां की जनता को जगाने वाला कोई व्यक्ति उपलब्ध नहीं हो गया। जिस क्षण जनता जाग जाती है या जगाने वाला व्यक्ति, प्राण फूंकने वाला व्यक्ति प्राप्त हो जाता है तब विदेशी शासन चल नहीं सकता, उसकी जड़ें हिल जाती हैं, उसे अपनी सत्ता समेट लेनी पड़ती है।

काल की भी एक शक्ति है जो कर्म से प्रभावित नहीं होती। एक काल आता है, एक समय आता है, एक क्षण ऐसा आता है कि उस क्षण में, काललब्धि के कारण आत्मा सहज रूप से जाग जाती है। उसमें अपने अस्तित्व के प्रति जागरूकता का भाव आ जाता है। उस क्षण में मिथ्यात्व का साम्राज्य, मोह का साम्राज्य पहली बार हिल उठता है और धीरे-धीरे उसकी जड़ें टूटने लगती हैं।

यदि सब कुछ ही कर्म के द्वारा निष्पन्न होता, कर्म की पूर्ण सत्ता होती, कर्म का सार्वभौम साम्राज्य होता तो कभी इस चक्र को नहीं तोड़ा जा सकता। हम इस बात को याद रखें कि यदि सब कुछ परिस्थिति के द्वारा नहीं होता है तो सब कुछ कर्म के द्वारा भी नहीं होता। इस दुनिया में किसी को अखंड साम्राज्य या एकछत्र शासन प्राप्त नहीं है। सबके लिए अवकाश है। काललब्धि को भी अवकाश है। इसी काललब्धि के द्वारा कुछ विशिष्ट घटनाएं घटित होती हैं।

हम एक घटना को समझें। यह घटना है—वनस्पति जीवों के अक्षय-कोष से निकलकर विकासशील जगत् में आना। प्राणि-जगत् की दो राशियां हैं—एक है व्यवहार-राशि और दूसरी है अव्यवहार-राशि। अव्यवहार-राशि वनस्पति का वह ख़ज़ाना है, जो कभी समाप्त नहीं होता। उसमें अनन्त-अनन्त जीव रहते हैं। यह जो दृश्य जगत् है, इसमें जितने भी जीव आते हैं, वे सब अव्यवहार-राशि से निकलकर आते हैं। अव्यवहार-राशि सूक्ष्म जीवों की राशि है। यह अक्षय कोष है। यह कभी समाप्त नहीं होता। अनन्त काल में भी समाप्त नहीं होता।

दूसरी राशि है—व्यवहार-राशि। यह स्थूल प्राणियों का जगत् है। जो कोई भी जीव मुक्त होता है, वह व्यवहार-राशि से मुक्त होता है। अव्यवहार-राशि में पड़ा हुआ जीव कभी मुक्त नहीं होता। वहां से कोई मुक्ति की ओर नहीं जाता। मुक्त होने के लिए उसे व्यवहार-राशि में आना पड़ता है। हमारे चैतन्य का

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जितना विकास होता है, वह व्यवहार-राशि में ही होता है। अव्यवहार-राशि में किसी का विकास नहीं होता। वहां केवल एक इन्द्रिय, एकमात्र स्पर्शनेन्दिय होती है। वे सब वनस्पति के जीव हैं। यह वनस्पति के जीवों का अनन्त कोष है। इससे जीव निकलते हैं पर यह कभी खाली नहीं होता। यहां केवल एक इन्द्रिय की चेतना का विकास होता है। आगे विकास नहीं होता। न मन का विकास, न अन्य इन्द्रियों का विकास और न बुद्धि का विकास। कोई विकास नहीं। केवल स्पर्शन इन्द्रिय—त्वचा का विकास, प्रगाढ़ मूर्च्छा, प्रगाढ़ निद्रा। जो चैतन्य प्राप्त है, उसका सूचक है स्पर्शन इन्द्रिय और कुछ भी नहीं।

इस अव्यवहार-राशि से कुछ जीव व्यवहार-राशि में आते रहते हैं। क्यों आते हैं—यह एक प्रश्न है ? यदि कर्म ही सब कुछ होता तो वे वहां से निकल ही नहीं पाते। किन्तु काललब्धि, काल की शक्ति के आधार पर वे वहां से निकलकर व्यवहार-राशि में आ जाते हैं। काल की शक्ति असीम होती है। उसी शक्ति के आधार पर वे वहां से निकलते हैं। यदि कर्म के आधार पर निकलते तो जैसे दस जीव निकलते हैं, वैसे ही सौ-हज़ार जीव भी निकल आते। लाख और करोड़ भी निकल आते। अनन्त भी निकल आते। किन्तु वे कर्म की शक्ति से नहीं निकलते। वे निकलते हैं काल की शक्ति से, काललब्धि से।

व्यवहार-राशि के जीवों की भी दो श्रेणियां हैं—एक है कृष्णपक्ष और दूसरी है शुक्लपक्ष। कुछ जीव हैं कृष्णपक्ष वाले और कुछ जीव हैं शुक्लपक्ष वाले। जैसे चन्द्रमा के दो पक्ष होते हैं—कृष्ण और शुक्ल, काला और सफ़ेद, वैसे ही हमारे जीवन के भी दो पक्ष हैं—कृष्ण और शुक्ल, काला और सफ़ेद। कृष्णपक्ष हमारे अनिष्ट कर्मों का सूचक है, अनिष्ट वातावरण का सूचक है, तामस वृत्तियों का सूचक है। शुक्लपक्ष हमारे विकास का सूचक है, बंधनमुक्ति की ओर अग्रसर होने का सूचक है।

जो व्यक्ति कृष्णपक्ष में है, वह आध्यात्मिक विकास नहीं कर सकता। आध्यात्मिक विकास वही व्यक्ति कर सकता है, जो शुक्लपक्ष में है। उसका जो वातावरण है, उसकी जो ओरा (Aura) है, आभा-मंडल है, पर्यावरण है, वह शुक्ल हो जाता है। उस व्यक्ति के आसपास शुक्लता का वातावरण छा जाता है। वह व्यक्ति आध्यात्मिक विकास की ओर बढ़ता है। उसका विकास प्रारम्भ हो जाता है।

एक प्रश्न उभरता है कि कोई भी जीव कृष्णपक्ष से शुक्लपक्ष में क्यों आता है ? कैसे आता है ? इसका कोई हेतु नहीं है। कर्म एकमात्र कारण नहीं है। कृष्णपक्ष से शुक्लपक्ष में आने का हेतु है—काललब्धि। काल की शक्ति से ऐसा होता है।

जैसे परिस्थिति की एक शक्ति है, वैसे ही काल की भी शक्ति है। इसी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकार स्वभाव की भी एक शक्ति होती है। आध्यात्मिक विकास के बीज प्रत्येक जीव में विद्यमान हैं। किन्तु कुछ जीव ऐसे होते हैं, जिनमें आध्यात्मिक विकास का स्वभाव ही नहीं होता। उनमें चैतन्य तो होता है, चैतन्य के विशिष्ट विकास की क्षमता उनमें नहीं होती। आप पूछ सकते हैं कि क्यों नहीं होती? इसका कोई उत्तर नहीं दिया जा सकता। कर्मशास्त्र की व्याख्या में इसका कोई समाधान नहीं है। इसका एक ही उत्तर हो सकता है, एक ही समाधान हो सकता है कि उन जीवों का स्वभाव ही ऐसा होता है कि वे चैतन्य का विकास नहीं कर पाते। उसमें चैतन्य का विकास नहीं होता। यह स्वभाव की शक्ति का उदाहरण है। जैसे काल की अपनी शक्ति है, वैसे ही स्वभाव की अपनी शक्ति है। जैसे परिस्थिति की अपनी शक्ति है, वैसे ही कर्म की अपनी शक्ति है।

इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि कर्म का सार्वभौम साम्राज्य नहीं है। हम इस धारणा को निकाल दें कि जो कुछ होता है, वह सब कर्म से ही होता है। कर्म की ही सार्वभौमता स्वीकार करना मिथ्या दृष्टिकोण है। सच यह है कि सब कुछ कर्म से नहीं होता। जो घटनाएं कर्म से होने योग्य होती हैं, कर्म की सीमा में आती हैं, वे ही कर्म के द्वारा घटित होती हैं। सब घटनाएं कर्म के द्वारा घटित नहीं होतीं। आज एक ऐसा स्वर चल पड़ा है कि 'भई! क्या करें, ऐसे ही कर्म किये थे, कर्म का ऐसा ही योग था।' हर घटित घटना के लिए, चाहे वह शुभ हो या अशुभ, अच्छी हो या बुरी, हम यही व्याख्या प्रस्तुत करते हैं कि कर्म के कारण ही ऐसा घटित हुआ है, कर्म का ही प्रताप है, प्रभाव है, अन्यथा ऐसा नहीं होता। यह भ्रान्ति है, बहुत बड़ा भ्रम है। हम एकाधिकार किसी के हाथ में न सौंपें। प्रकृति के साम्राज्य में अधिनायकतावाद नहीं है। जागतिक नियम में कोई अधिनायक नहीं होता। कोई अधिनियन्ता नहीं होता। वहां किसी को एकाधिकार प्राप्त नहीं है। कुछ शक्तियां काल में निहित हैं, कुछ स्वभाव में, कुछ परिस्थिति में और कुछ कर्म में। कुछ शक्तियां हमारे अपने पुरुषार्थ में निहित हैं। इस पुरुषार्थ में कर्म को बदल देने की भी शक्ति होती है। हमारी शक्ति का प्रतीक है पुरुषार्थ। हमारी क्षमता का प्रतीक है पुरुषार्थ। हम इसके द्वारा कर्म को भी बदल डालते हैं। कर्मशास्त्र का यह भी एक नियम है कि कर्मों को बदला जा सकता है। एकाधिकार किसी को प्राप्त नहीं है। यहां सबका मिला-जुला अधिकार है। एकाधिकार नहीं, बंटा हुआ है सारा अधिकार। विभक्त है अधिकार।

यदि कर्म ही सब कुछ होता, कर्म को ही एकाधिकार प्राप्त होता तो कोई भी प्राणी अव्यवहार-राशि से व्यवहार-राशि में नहीं आता, अविकसित प्राणियों की श्रेणी से विकसित प्राणियों की श्रेणी में नहीं आता।

यदि कर्म ही सब कुछ होता तो साधना की अयोग्य स्थिति से या अपनी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अविकसित चैतन्य की भूमिका से आध्यात्मिक चेतना की विकसित भूमिका में नहीं आता।

यदि कर्म ही सब कुछ होता तो प्राणी बंधन को तोड़कर कभी मुक्त नहीं होता।

कर्म ही सब कुछ नहीं है। कर्म के अतिरिक्त भी अनेक तथ्य हैं, जो अपनी-अपनी सीमा में कार्यकारी होते हैं।

अव्यवहार-राशि से व्यवहार-राशि में आना, अविकास से विकास की ओर बढ़ना, चैतन्य की अविकसित भूमिका से ऊर्ध्वारोहण कर विकसित चैतन्य की भूमिका को प्राप्त करना, बंधन को तोड़कर मुक्ति की ओर अग्रसर होना, आवरण से अनावरण की ओर बढ़ना, परतंत्रता की बेड़ियों को तोड़कर स्वतंत्रता को प्राप्त करना, तभी संभव है जब काललब्धि का पूरा परिपाक हो जाता है। अन्यथा प्रश्न ज्यों-का-त्यों खड़ा रह जाता है कि जब सौ व्यक्ति मुक्त हो सकते हैं तो सब मुक्त क्यों नहीं हो सकते ? सब मुक्त हो सकते हैं। मुक्त होने का सबको अधिकार है। किन्तु सब मुक्त नहीं हो सकते। जिनकी काललब्धि पक चुकी है, वे ही मुक्त हो पाते हैं। शेष काललब्धि के परिपाक की प्रतीक्षा करते रहते हैं। इसमें सब कुछ पुरुषार्थ से होता है, ऐसा भी नहीं। सब कुछ कर्म से होता है, ऐसा भी नहीं।

कर्म का एकछत्र साम्राज्य नहीं है, इसीलिए कर्म के व्यूह को तोड़ा जा सकता है। मोह का भी एकछत्र साम्राज्य नहीं है, इसीलिए मोह के चक्रव्यूह को भी तोड़ा जा सकता है।

हमारे जीवन को सबसे अधिक प्रभावित करता है—मोह कर्म। एक अज्ञान और एक मोह—ये प्रभावक तथ्य हैं जीवन के। ज्ञानावरण कर्म के कारण हम सही जान नहीं पाते। अन्तराय कर्म के कारण हम शक्ति का उपयोग नहीं कर पाते और दर्शनावरण कर्म के कारण सही नहीं देख पाते। मोह कर्म के कारण जानते हुए भी, देखते हुए भी, शक्ति और सामर्थ्य का उपयोग करते हुए भी सही-सही आचरण नहीं कर पाते।

दृष्टि में कोई विकार उत्पन्न करता है तो वह मोह कर्म करता है। आचरण की विकृति मोह कर्म के कारण होती है। मोह कर्म केन्द्रिय कर्म है। आगम सूत्रों में इसे सेनापति की संज्ञा दी गयी है। जैसे सेनापति के मर जाने पर सेना भाग जाती है, वैसे ही मोह कर्म के नष्ट हो जाने पर शेष सारे कर्म टूट जाते हैं। मोह को सहयोग देने वाले दो तथ्य हैं। एक है—ममकार और दूसरा है अहंकार। ये दो सेनानी हैं।

अनात्मीय वस्तुओं में आत्मीयता का अभिनिवेश ममकार है। जो आत्मीय नहीं है, उसमें आत्मीयता का भाव रखना ममकार है। जैसे—शरीर मेरा, पिता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मेरा, माता मेरी, भाई मेरा, बहन मेरी, पत्नी मेरी, पुत्र मेरा। सबसे पहले ममकार होता है, शरीर के प्रति। यह सबसे निकट का है। फिर पिता, माता आदि के प्रति ममकार होता है। यह दूसरे नंबर में है। तीसरे में घर मेरा, नौकर मेरा, धन मेरा, हाथी मेरा, ऊंट मेरा, घोड़ा मेरा। इनमें ममकार होता है। फिर यह ममकार बढ़ते-बढ़ते इतना बढ़ जाता है, इसकी सीमा इतनी विस्तृत हो जाती है कि इसमें हजारों-हजारों वस्तुएं आ जाती हैं। सीमा के विस्तार का कहीं अंत नहीं आता।

कर्म आदि कारणों से प्राप्त अवस्थाओं को 'मैं' मान लेना अहंकार है। जो 'मैं' नहीं है, आत्मा नहीं है, उसे आत्मा मान लेना अहंकार है। जैसे अनात्मीय को आत्मीय मान लेना 'ममकार' है, वैसे ही अनात्म को आत्म मान लेना 'अहंकार' है। जैसे—मैं धनी हूं। अब धन कौन और मैं कौन? जो आत्मीय नहीं, उसे आत्मीय मान लिया। ये सारी अवस्थाएं वैभाविक हैं, अनेक कारणों से उत्पन्न हैं। हम कभी कहते हैं—'मैं रोगी हूं' और कभी कहते हैं—'मैं स्वस्थ हूं।' यह रोगी होना भी 'मैं' नहीं है और स्वस्थ होना भी 'मैं' नहीं है। प्रसन्न होना भी 'मैं' नहीं है और नाराज होना भी 'मैं' नहीं है। मैं धनी हूं, मैं निर्धन हूं, मैं प्रसन्न हूं, मैं अप्रसन्न हूं, मैं सुःखी हूं, मैं दुखी हूं, मैं बड़ा हूं, मैं छोटा हूं—ये सब अहंकार हैं। आत्मा जो है, वह न बड़ा है और न छोटा। न रोगी है और न स्वस्थ। न प्रसन्न है और न अप्रसन्न। न सुःखी है और न दुःखी। फिर भी अहंकार के कारण ये सब कुछ आरोपण चलते हैं। दृष्टिकोण और आचरण—दोनों में विकृति के बीज अंकुरित होते रहते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१४

आवेग : उप-आवेग

- आवेग और उप-आवेग।
- आवेग की चार स्थितियां—तीव्रतम, तीव्रतर, मंद और मंदतर।
- चारों अवस्थाओं के क्षय से वीतरागता की प्राप्ति। दो मार्ग—

  पहला है मोह की प्रबलता का—आध्यात्मिक चेतना मूर्च्छित।

  दूसरा है मोह के विलय का—आध्यात्मिक चेतना विकसित।

•

मानसशास्त्र के अनुसार आवेग छह हैं—भय, क्रोध, हर्ष, शोक, प्रेम और घृणा। आवेगों का जीवन में बहुत बड़ा प्रभाव है। सारे मानवीय आचरणों का व्याख्या आवेगों के आधार पर की जाती है। किस प्रकार के आवेग में किस प्रकार की स्थिति बनती है, यह स्पष्ट है। एक व्यक्ति का मुक्का उठा और हमने समझ लिया कि वह गुस्से में है। आवेग के आते ही एक प्रकार की स्थिति बनती है, अनुभूति होती है। उसका प्रभाव स्नायु-तंत्र पर पड़ता है, पेशियों पर होता है। एक प्रकार की उत्तेजना पैदा हो जाती है। उत्तेजना के अनुरूप सक्रियता आ जाती है। पेशियां उसी के अनुसार काम करने लग जाती हैं। आवेग का प्रभाव हमारे स्नायु-तंत्र पर, पेशियों पर, रक्त पर और रक्त के प्रवाह पर, फेफड़ों पर, हृदय की गति पर, श्वास पर और ग्रंथियों पर होता है।

भय का आवेग आते ही स्नायविक तरंग उठती है। वह मस्तिष्क तक उस

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संदेश को ले जाती है। उत्तेजना पैदा हो जाती है। वह पाचन-संस्थान को भी प्रभावित करती है। पाचन अस्त-व्यस्त हो जाता है। उत्तेजना मांसपेशियों तक पहुंचती है। वे सक्रिय हो जाती हैं। एड्रिनल ग्रंथि का स्राव अधिक होता है, उसके कारण व्यक्ति में कुछ साहसिक कार्य करने की क्षमता जागृत हो जाती है। वह साहसिक बनकर प्रहार करने की स्थिति में आ जाता है। यह सारा शारीरिक परिवर्तन आवेग के कारण होता है और फिर बाहर से उसके लक्षण भी दिखाई देने लग जाते हैं। जिनके आधार पर हम समझ सकते हैं कि व्यक्ति भयभीत है, क्रोधी है। आवेगों के कारण शारीरिक क्रियाओं में रासायनिक परिवर्तन, शारीरिक लक्षणों में परिवर्तन और अनुभूति में परिवर्तन होता है। इन सारी बातों के साथ एक बात और जोड़ दें कर्मशास्त्र की। आवेगों के कारण बहुत सारी बातें होती हैं। इसके साथ एक बात पहले जोड़ दें और एक बात पीछे जोड़ दें। पहले यह जोड़ें कि भय परिस्थिति से उत्पन्न नहीं है, परिस्थिति से उद्भूत है। उत्पन्न होना अलग बात है और उद्भूत होना अलग बात है। परिस्थिति से भय उद्भूत हुआ, जागृत हुआ, जो सोया हुआ था, वह जाग उठा। किंतु वह उत्पन्न हुआ है मोह के कारण। भय भय-वेदनीय-मोह के कारण उत्पन्न होता है। उस व्यक्ति में ऐसे परमाणु संचित हैं जो किसी निमित्त का सहारा पाकर उत्पन्न हो जाते हैं। यह पहले जोड़ने वाली बात है। एक बात बाद में जोड़ें। जो डरता है, जो भयभीत है, वह भय के कारण केवल शारीरिक या मानसिक परिवर्तन ही नहीं करता, किंतु दूसरे परमाणुओं का संग्रह भी करने लग जाता है और इतने परमाणु संगृहीत कर लेता है जो मोह को और अधिक पोषण देते हैं।

कर्मशास्त्र में मोहनीय कर्म के चार आवेग माने हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ। इन्हें 'कषाय-चतुष्टयी' कहा जाता है। ये चार मुख्य आवेग हैं। कुछ उप-आवेग हैं। उनकी संख्या सात या नौ है। हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा और वेद। ये सात या वेद को स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद में हम विभक्त करें तो उप-आवेग नौ हो जाते हैं। इन्हें 'नौ-कषाय' कहा जाता है। ये पूरे कषाय नहीं हैं। कषायों के कारण होने वाले 'नौ-कषाय' हैं, मूल आवेगों के कारण होने वाले उप-आवेग हैं।

ईर्ष्या करना, आदर देना आदि-आदि आवेग हैं या नहीं—यह प्रश्न होता है? कर्मशास्त्र में भी ये आवेग के रूप में स्वीकृत नहीं हैं। मानसशास्त्र में भी ये आवेग नहीं माने गये हैं। मानसशास्त्रीय परिभाषा के अनुसार ईर्ष्या आदि मूल आवेग नहीं हैं। ये सम्मिश्रण हैं। मिश्रित आवेग हैं। इनमें अनेक आवेगों का एक साथ मिश्रण हो जाता है। ये मूल नहीं हैं। कर्मशास्त्रीय परिभाषा के अनुसार भी ये मिश्रित हैं, मूल नहीं हैं। उसके अनुसार मूल आवेग चार और उप-आवेग सात या नौ हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उप-आवेग क्रोध, मान, माया और लोभ जैसे तीव्र नहीं हैं। इनमें भी बहुत तारतम्य है। यह मोह-परिवार ही हमारी दृष्टि को प्रभावित करता है, हमारे चारित्र को प्रभावित करता है। जैसी दृष्टि, वैसी सृष्टि। जैसा दृष्टिकोण, वैसा आचार। आचार का और दृष्टिकोण का गहरा संबंध है। दृष्टिकोण विकृत होता है तो आचार विकृत होता है। दृष्टिकोण सम्यक् होता है तो आचार सम्यक् होता है। उसके सम्यक् होने की अधिक संभावना होती है। ऐसा तो नहीं है कि दृष्टिकोण के सम्यक् होने के साथ ही साथ सारा-का-सारा आचार सम्यक् हो जाए। आचार का क्रमिक विकास होता है। पहले दृष्टिकोण सम्यक् होगा, फिर आचार सम्यक् होगा।

जो भौतिक जीवन जीना पसंद करते हैं, वे केवल बौद्धिक विकास की चिंता करते हैं और वे बौद्धिक विकास को ही सर्वोपरि मानते हैं। जो आध्यात्मिक जीवन जीना पसंद करते हैं, वे आध्यात्मिक चेतना के विकास की चिंता करते हैं। वे बौद्धिक विकास को आवश्यक मानते हुए भी उसे सर्वोपरि नहीं मानते। जब तक आध्यात्मिक चेतना का विकास नहीं हो जाता, तब तक जीवन का परम साध्य उपलब्ध नहीं होता, उसे प्राप्त नहीं किया जा सकता।

हम देखते हैं, कुछ बड़े-बड़े विद्वान् हैं पर वे बहुत ही अशान्त हैं। वे प्रताड़ित और धधकता हुआ-सा जीवन जीते हैं। वे ज्ञानी हैं। ज्ञान होने पर भी उनका मन शान्त नहीं है, उनके पास समस्याओं का समाधान नहीं है। यह क्यों? इसका एकमात्र हेतु है कि उनमें विद्या का विकास तो हो गया, किंतु आध्यात्मिक चेतना का विकास नहीं हुआ। उनमें केवल बौद्धिक चेतना विकसित है। जब केवल बौद्धिक चेतना का विकास होता है और आध्यात्मिक चेतना का विकास नहीं होता तो समझ लेना चाहिए वह जीवन के लिए बहुत बड़ा ख़तरा है। यह संकट का और भय का सबसे बड़ा बिंदु है।

बौद्धिक चेतना के विकास का संबंध है मस्तिष्क से। मस्तिष्क की शक्तियां प्रखर होती हैं, तब बौद्धिक क्षमताएं जाग जाती हैं। कर्मशास्त्र की भाषा में बौद्धिकता का विकास ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से होता है। ज्ञान का आवरण जितना हटता है, उतनी ही बौद्धिक क्षमताएं विकसित होती हैं। आध्यात्मिक चेतना का विकास होता है मोह कर्म के विलय से। कर्मशास्त्र की भाषा में कहा जाता है कि जब मोह कर्म उपशान्त होता है, क्षीण होता है, तब आध्यात्मिक चेतना का विकास होता है। आध्यात्मिक विकास की पूरी गाथा मोह के विलय से जुड़ी हुई है। मोह प्रबल है तो आध्यात्मिक चेतना का विकास नहीं हो सकता, चाहे फिर वह कितना ही बड़ा विद्वान् बन जाये, वैज्ञानिक बन जाये या और कुछ बन जाये।

बड़े-बड़े बौद्धिक लोग भी आत्महत्या कर अपनी प्रखर बौद्धिक जीवन-लीला

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

को समाप्त कर देते हैं। उनमें अन्तर्द्वन्द्व होता है। वे उसको समाहित नहीं कर पाते। जो मानसिक समस्याएं एक सामान्य मनुष्य में होती हैं, वे सारी-की-सारी एक बड़े-से-बड़े बौद्धिक में हो सकती हैं। वे समस्याएं उसको इसलिए प्रताड़ित करती हैं, इसलिए आत्महत्या करने को बाध्य करती हैं कि उनमें बौद्धिक चेतना का तो पूर्णरूपेण विकास होता है, किंतु आध्यात्मिक चेतना सुषुप्त है, विकसित नहीं है, जागृत नहीं है। जब तक आध्यात्मिक चेतना का जागरण नहीं हो जाता, तब तक समस्याओं के व्यूह को नहीं तोड़ा जा सकता। उनके प्रवाह को नहीं रोका जा सकता।

बौद्धिक और आध्यात्मिक, इन दोनों के विकास का हमारे जीवन में एक पूरा वृत्त बनता है। दोनों का समन्वय होना चाहिए। इन दोनों की समन्विति ही जीवन का सर्वोच्च विकास है। आध्यात्मिक चेतना के विकास के लिए मोह को समझना जरूरी है।

मोह का मूल है—राग और द्वेष। राग और द्वेष के द्वारा एक चक्र घूम रहा है। वह चक्र है आवेग और उप-आवेग का। राग और द्वेष है, इसीलिए क्रोध, मान, माया और लोभ—ये चार मूल आवेग उत्पन्न होते हैं। राग और द्वेष है, इसीलिए हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा (घृणा), काम-वासना—ये सारे उप-आवेग उत्पन्न होते हैं। इन सबके मूल में राग और द्वेष है। आवेगों की पृष्ठभूमि में ये दो अनुभूतियां काम करती हैं। जब तक ये अनुभूतियां हैं, तब तक आवेग और उप-आवेग की उत्पत्ति को नहीं रोका जा सकता। यह चक्र घूमता रहता है। कभी कोई आवेग उत्पन्न हो जाता है तो कभी कोई आवेग। यह सच है कि परिस्थितियां भी इनकी उत्पत्ति में निमित्त बनती हैं, वातावरण भी निमित्त बनता है। आवेगों की तरतमता समूचे आध्यात्मिक चेतना के विकास का बोध-चक्र है। कषाय-चतुष्टयी—क्रोध, मान, माया और लोभ के तारतम्य का पहला प्रकार है—अनन्तानुबंधी। अनन्तानुबंधी अनन्त अनुबंध करता है, इतनी संतति पैदा करता है कि जिसका अंत नहीं होता। संतति के बाद संतति। यह क्रम टूटता ही नहीं या मुश्किल से टूटता है। जिस आवेग में संतति की निरंतरता होती है या जिसमें संतति को पैदा करने की अटूट क्षमता होती है, वह अनंतानुबंधी होता है। कभी ऐसा होता है कि एक घटना घटती है। उसका असर होता है और बात समाप्त हो जाती है। कभी ऐसा भी होता है कि घटना घटित हुई, मन में विचार आया और उस विचार का सिलसिला इतना लम्बा हो गया कि उस मूल विचार से अनेक-अनेक छोटे-बड़े विचार उत्पन्न होते गये। एक के बाद एक विचार आते रहे। उनकी शृंखला नहीं टूटी। वह पहला विचार इतनी बड़ी संतति पैदा करता जाता है कि वह कभी समाप्त ही नहीं होता। यह अनन्तानुबंधी है।

बहुत सारे कीटाणु ऐसे होते हैं, जिनकी संतति इतनी बढ़ जाती है कि जाल

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

फैल जाता है। वह जाल बहुत बड़ा होता है। वे कीटाणु संतति पैदा करते ही चले जाते हैं। कहीं रुकते ही नहीं।

इसी प्रकार जिस आवेग की संतति आगे से आगे बढ़ती चली जाती है, वह तीव्रतम आवेग हमारे दृष्टिकोण को प्रभावित करता है। जब तक वह आवेग होता है, तब तक दृष्टिकोण सम्यक् नहीं होता। क्योंकि मूर्च्छा इतनी सघन होती है कि एक मूर्च्छा दूसरी मूर्च्छा को, दूसरी मूर्च्छा तीसरी मूर्च्छा को और तीसरी मूर्च्छा चौथी मूर्च्छा को उत्पन्न करती चली जाती है। इसका कहीं अंत नहीं आता। सम्यक् देखने का हमें अवसर ही नहीं मिलता। एक के बाद दूसरी गलती, गलतियों को दोहराते चले जाते हैं और दृष्टि में भ्रम छाया का छाया रहता है। यह प्रखरतम आवेग हमारी दृष्टि को विकृत करता है।

यह ग्रंथिपात का क्रम है। मनोविज्ञान की भाषा में कहा जाता है कि जब आवेग प्रबल होता है, तब ग्रंथिपात होता है। यह आवेग आने के बाद जाता नहीं। जब क्रोध अनंतानुबंधी की कोटि का होता है, तब वह सहजता से नहीं जाता। वह चट्टान की दरार जैसे होता है। चट्टान में दरार पड़ गयी, वह फिर मिटती नहीं। अमिट बन जाती है। एक रेखा बालू पर खींची जाती है और एक रेखा पानी पर खींची जाती है। पानी की रेखा तत्काल मिट जाती है, मिट्टी की रेखा कठिनाई से मिटती है, फिर भी वह चट्टान की दरार की भांति कठिन नहीं होती। आवेग की भी ये चार स्थितियां, अवस्थाएं होती हैं। तीव्रतम, तीव्रतर, मंद और मंदतर। कर्मशास्त्र की भाषा में इनके चार नाम हैं—

तीव्रतम—अनन्तानुबंधी
तीव्रतर—अप्रत्याख्यानी
मंद —प्रत्याख्यानी
मंदतर —संज्वलन।

प्रथम कोटि का आवेग दृढ़तम होता है। उस स्थिति में राग-द्वेष की गांठ इतनी कठोर होती है कि सम्यक्दृष्टि प्राप्त नहीं होती। सत्य को सत्य के रूप में स्वीकार करने की तैयारी नहीं होती। उसके उदय से भौतिक जीवन इतना मूर्च्छामय, इतनी प्रगाढ़ निद्रामय हो जाता है कि व्यक्ति सत्य को देखने का प्रयत्न ही नहीं करता, जागृति के बिन्दु पर पहुंचने का प्रयत्न ही नहीं कर पाता। जीवन में केवल मूर्च्छा ही मूर्च्छा व्याप्त रहती है। दृष्टि मूर्च्छित रहती है। यथार्थ हाथ नहीं लगता। निंदियाई आंखों से आदमी ठीक देख नहीं पाता, नशे में आदमी देख नहीं पाता, उसे यथार्थ का बोध नहीं होता, क्योंकि वह मत्त है, सुप्त है। जब तक आवेग की यह अवस्था बनी रहती है, राग-द्वेष की तीव्र ग्रंथि होती है, तब तक सत्य का दर्शन नहीं होता। सम्यक् दर्शन उसे प्राप्त नहीं होता। वह मिथ्यादृष्टि होता है। उसका दर्शन मिथ्या होता है। तत्त्व का विपर्यय होता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है। जीवन में सारा विपर्यय ही विपर्यय होता है। इस तीव्र आवेग की ऐसी रासायनिक प्रक्रिया होती है कि वह व्यक्ति के चिंतन-मनन को विकृत कर देती है। चिंतन-मनन विपर्यस्त हो जाता है। जब उस आवेग की तीव्रता कम होती है, उसका परिशोधन होता है, उसका तनुभाव होता है, वह क्षीण होता है तब दूसरी अवस्था (अप्रत्याख्यान) प्राप्त होती है।

अनन्तानुबंधी अवस्था का विलय होते ही दृष्टिकोण सम्यक् हो जाता है। यह साधना की पहली भूमिका है। यह आध्यात्मिक चेतना के विकास की पहली भूमिका है। कर्मशास्त्र की भाषा में इस भूमिका का नाम है—सम्यक्दृष्टि गुण-स्थान। यह सत्य को सत्य जानने की भूमिका है। यहां अतत्त्व में तत्त्व की बुद्धि नहीं रहती। असत्य में सत्य का भाव नहीं रहता। व्यक्ति जो जैसा है, उसे वैसा जानने लग जाता है। उसकी दृष्टि सम्यक् हो जाती है। सत्य उपलब्ध हो जाता है।

आवेग की दूसरी अवस्था विद्यमान रहती है तब आध्यात्मिक चेतना के विकास के लिए जिस प्यास को बुझाना चाहिए, जिस प्यास से दूर रहना चाहिए, जो प्यास बुझ जानी चाहिए, जो अनन्त आकांक्षा, अनन्त प्यास है, वह बुझती नहीं। बोध यथार्थ हो जाता है कि यह प्यास है और ऐसी प्यास है जो बुझती नहीं। कितना ही पीयो, वह नहीं बुझेगी। जितना पीते हैं, उतनी ही वह प्यास प्रज्ज्वलित होती रहती है। बुझती नहीं। बुझाने का मार्ग प्राप्त नहीं है। क्योंकि आवेग की दूसरी अवस्था विद्यमान है। वह पथ प्राप्त नहीं करने देती। उससे प्रभावित होकर व्यक्ति प्यास बुझाने के मार्ग को स्वीकार ही नहीं करता। आवेग की यह ग्रन्थि उसे वैसा करने नहीं देती। उस ग्रन्थि का ऐसा स्राव होता है, जो उस प्यास को बुझाने के रास्ते पर मनुष्य को चलने ही नहीं देता। चेतना ऐसी बन जाती है कि व्यक्ति जानते हुए भी कर नहीं पाता।

कई बार हम लोगों को यह कहते हुए सुनते हैं कि वह मार्ग बहुत अच्छा है। पर हम चल नहीं सकते। ध्यान बहुत अच्छा है, पर हम उसे कर नहीं पाते। निकम्मा कौन बैठे ? काम बहुत है। व्यस्तता बहुत है। इच्छा ही नहीं होती कि ध्यान किया जाये। कभी इच्छा नहीं होती कि साधना की जाये, थोड़ी-सी निवृत्ति की जाये। यद्यपि ध्यान भी एक प्रवृत्ति है, साधना भी एक प्रवृत्ति है, फिर भी उसमें मन नहीं लगता। मन उसी प्रवृत्ति में लगता है, जिसको हम रात-दिन करते आ रहे हैं। यह भी सकारण होता है। इसका मूल कारण है—दूसरे आवेग की विद्यमानता। जैसे-जैसे आध्यात्मिक चेतना का क्रम बढ़ता है, वह दूसरा आवेग घुलता जाता है, उसका शोधन होता जाता है, तब व्यक्ति में विरति की ओर बढ़ने की भावना होती है। इस आवेग का नाम है—अप्रत्याख्यान।

पहला आवेग टूटता है। तब भेदज्ञान की उपलब्धि होती है। मैं शरीर से

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भिन्न हूं, मैं शरीर नहीं हूं—यह बोध स्पष्ट हो जाता है। मैं शरीर हूं—यह अस्मिता है। अस्मिता एक क्लेश है। भेदज्ञान होते ही अस्मिता मिट जाती है, क्लेश मिट जाता है। इसके मिटते ही दूसरा संस्कार निर्मित हो जाता है। 'मैं शरीर नहीं हूं', 'मैं शरीर नहीं हूं', 'मैं शरीर से भिन्न हूं'—यह भी एक संस्कार है। यह प्रतिप्रसव है, अर्थात् उस संस्कार को मिटाने वाला संस्कार है। शरीर के साथ अभेदानुभूति, 'अहमेव देहोस्मि' का जो भाव है, मैं शरीर हूं, मैं देह हूं—यह जो भाव है, यह मिथ्या दृष्टिकोण है। वह समाप्त हो जाता है। उसे समाप्त करने के लिए दूसरे संस्कार का निर्माण करना होता है। 'मैं शरीर नहीं हूं'—यह प्रतिप्रसव है, प्रतिपक्ष का संस्कार है।

जैसे ही आवेग की दूसरी अवस्था (अप्रत्याख्यानावरण) उपशान्त या क्षीण होती है, तब उस रास्ते पर चलने की भावना निर्मित हो जाती है। तब मन में भावना होती है कि विरति का, त्याग का रास्ता अच्छा है, प्यास बुझाने वाला है, इस पर अवश्य चलना चाहिए। कर्मशास्त्र की भाषा में देशविरति गुणस्थान उपलब्ध हो जाता है। यह आध्यात्मिक विकास की पांचवीं भूमिका है।

आध्यात्मिक विकास के क्रम में जब हम आगे बढ़ते हैं, अभ्यास करते-करते जैसे मोह का वलय टूटता जाता है, उसका प्रभाव मंद होता जाता है, तब तीसरी ग्रन्थि खुलती है। इस ग्रन्थि का नाम है प्रत्याख्यानावरण। यह आवेग की तीसरी अवस्था है। इसके टूटने से विरति के प्रति व्यक्ति पूर्ण समर्पित हो जाता है। जो चलना प्रारंभ किया था, अब उसके लिए पूर्ण समर्पित हो जाता है। यह आध्यात्मिक विकास की छठी भूमिका है। इस भूमिका में व्यक्ति साधु बन जाता है, संन्यासी बन जाता है। पांचवीं भूमिका गृहस्थ साधकों की है और छठी भूमिका मुनि-साधकों की है। दोनों साधना के इच्छुक हैं, दोनों साधना-पथ के पथिक हैं। दोनों ने चलना शुरू किया है। वे उस यात्रा के लिए समर्पित हो चुके हैं। एक व्यक्ति गृहस्थ जीवन में साधना करता है और एक व्यक्ति मुनि जीवन में साधना करता है। गृहस्थ जीवन से मुनि जीवन में आ जाना कोई आकस्मिक घटना नहीं है, एक छलांग नहीं है। कहीं-कहीं, कभी-कभी आकस्मिक घटना भी घटित होती है, छलांग भी लगती है। हमारे विकास के क्रम में भी छलांगें होती हैं। विकास के एक क्रम में चलते-चलते ऐसी छलांग आती है कि व्यक्ति को नयी उपलब्धि प्राप्त हो जाती है, नया प्रजनन हो जाता है, नया घटित हो जाता है। यह छलांग है। किन्तु गृहस्थ जीवन से मुनि जीवन में आ जाना कोई छलांग नहीं है। इसमें निश्चित क्रम की व्यवस्था है। कोई गृहस्थ होकर साधना का प्रारम्भ करता है और कोई मुनि बनकर साधना की यात्रा पर चलता है। इसके पीछे भी मोह के आवेगों का सिद्धान्त काम करता है। जिस व्यक्ति के मोह का कुछ विलय हुआ है, एक निश्चित मात्रा में, तो उस व्यक्ति के मन में साधना का भाव जागृत

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

होता है। जिस व्यक्ति के मोह का अधिक विलय हुआ है, उस व्यक्ति के मन में साधना के प्रति समर्पित हो जाने की बात प्राप्त होती है।

भगवान महावीर ने साधु-जीवन की जो व्यवस्था की, वह नयी व्यवस्था थी। उन्होंने यह व्यवस्था दी कि जैन शासन में जो भी प्रव्रजित होगा, वह जीवन भर के लिए मुनि बनेगा, कुछ समय के लिए नहीं। उसे यावज्जीवन मुनिव्रत को पालने की प्रतिज्ञा करनी होगी। बौद्धों में दूसरी व्यवस्था है। बौद्ध-शासन में भिक्षु बनने वाले के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह यावज्जीवन तक भिक्षु ही बना रहे। वह दो वर्ष, पांच वर्ष, दस वर्ष, बीस वर्ष तक अर्थात् सावधिक भिक्षु रह सकता है। यह तथ्य मनोवैज्ञानिक-सा लगता है। बुद्ध ने ऐसा स्तर बतला दिया कि आज साधना के लिए चले, भिक्षु बने, जब तक संभव हुआ तब तक भिक्षु बने रहे, जब इच्छा हुई तब पुनः घर लौट आये।

किंतु महावीर ने जो यावज्जीवन की व्यवस्था की, वह मनोवैज्ञानिक भूमिका से भी परे की बात है। यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण तथ्य है। उन्होंने इस व्यवस्था की पृष्ठभूमि में कहा कि जो साधना के प्रति पूर्ण समर्पित नहीं होता वह भिक्षु कैसे हो सकता है, जिसका यह संकल्प ही नहीं कि मैं जीवन-भर मुनि बना रहूंगा, वह लक्ष्य के प्रति पूर्णतः समर्पित कैसे हो सकता है? जिस व्यक्ति की पृष्ठभूमि में मोह-विलय की इतनी प्रेरणा नहीं कि वह साधना के प्रति सदा के लिए समर्पित हो जाये, वह गृहस्थ-साधु हो सकता है, किंतु गृहत्यागी अनगार साधु कैसे हो सकता है? इस मोह-विलय के तारतम्य के आधार पर, इस कर्म की प्रेरणा की वास्तविकता के आधार पर महावीर ने यह अनिवार्य बात जोड़ी कि कोई मुनि बनेगा तो वह आजीवन के लिए बनेगा, यावज्जीवन ने लिए होगा, अल्पकाल के लिए नहीं। क्योंकि जब प्रत्याख्यानावरण का विलय नहीं है, तो मुनित्व आ नहीं सकता।

मुनित्व और श्रावकत्व की हमारी व्यावहारिक कल्पना है। सम्यक् दर्शन की भी एक व्यावहारिक कल्पना है। जहां संघ और समाज होता है, संगठन होता है, वहां व्यवहार भी चलता है। किंतु व्यवहार व्यवहार होता है, उसमें वास्तविकता बहुत कम होती है। निश्चय वास्तविक होता है। निश्चय सत्य की उपलब्धि निश्चय के द्वारा होती है। निश्चय को हम छोड़ दें और केवल व्यवहार पर चलें तो जो सत्य उपलब्ध होना चाहिए वह उपलब्ध नहीं होता।

अनेकांत दर्शन के दो पक्ष हैं—व्यवहार और निश्चय। अनेकांत का पंछी निश्चय और व्यवहार—इन दोनों पंखों को फड़फड़ाकर उड़ता है। एक पंख से वह उड़ नहीं पाता। एक पंख उसका काटा नहीं जा सकता। न व्यवहार को काटा जा सकता है और न निश्चय को काटा जा सकता है।

जब हम व्यवहार की भाषा में चलते हैं, तब जीव आदि नौ पदार्थों को

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जानना सम्यग्दर्शन माना जाता है। श्रावक के व्रतों का स्वीकार कर लिया, यह हो गया पांचवां गुणस्थान अर्थात् श्रावकत्व, देशविरति की प्राप्ति। पांच महाव्रतों को स्वीकार कर लिया, छठा गुणस्थान आ गया, सर्व विरति की अवस्था प्राप्त हो गयी। यह है व्यवहार की भाषा का स्वीकार। किंतु जब हम कर्मशास्त्रीय भाषा में सोचते हैं, निश्चय की भाषा में सोचते हैं, तब हमें कहना होगा कि आवेग चतुष्टय (क्रोध, मान, माया, लोभ) की तीव्रतम अवस्था (अनंतानुबंधी) का विलय होने पर सम्यग्दर्शन उपलब्ध होता है। जिस व्यक्ति में आवेग की यह तीव्रतम अवस्था क्षीण—उपशांत नहीं होती उसे सम्यग्दर्शन उपलब्ध नहीं होता, फिर चाहे वह कितनी ही बार नौ पदार्थों को रट जाये और उनको कंठस्थ कर उच्चारण करता रहे। जिस व्यक्ति में आवेग की दूसरी अवस्था (अप्रत्याख्यानावरण) का उपशम या क्षय नहीं होता, तब तक यथार्थ में व्यक्ति देश-विरति श्रावक नहीं बन सकता, चाहे फिर वह कितनी ही बार त्याग को दोहराता रहे। जिस व्यक्ति में आवेग की तीसरी अवस्था (प्रत्याख्यानावरण) का उपशम या क्षय नहीं होता, तब तक वह मुनि-साधक नहीं बन सकता, फिर चाहे वह कितनी ही बार दीक्षित क्यों न हो जाये। जिस व्यक्ति में आवेग की चौथी अवस्था (संज्वलन) का क्षय नहीं होता, तब तक व्यक्ति वीतराग नहीं बन सकता, वह चारित्र की उत्कृष्ट कोटि—यथाख्यात को नहीं पा सकता।

हम अंतरंग और बहिरंग—दोनों ओर ध्यान दें। केवल बहिरंग साधना पर्याप्त नहीं है। जब तक कषाय का विलय नहीं होगा, अंतरंग का स्पर्श नहीं होगा, तब तक आध्यात्मिक चेतना उपलब्ध नहीं होगी। बहिरंग साधना से व्यवहार की पूर्ति तो हो सकेगी, किंतु आध्यात्मिक चेतना का विकास नहीं हो पायेगा।

कर्मशास्त्र के रहस्यों को समझे बिना हम आध्यात्मिक विकास के सूक्ष्म रहस्यों को नहीं समझ सकते। उन सूक्ष्म रहस्यों को समझे बिना आध्यात्मिक चेतना के अंतरंग पथ को नहीं पकड़ सकते। इसलिए हमें कर्मशास्त्र की गहराइयों में उतरकर उसके रहस्यों को पकड़ना होगा।

वीतरागता की ओर बढ़ने के लिए जो एक बाधा बनी रहती है, वह है आकांक्षा। व्यक्ति कभी पूजा का अर्थी हो जाता है, कभी उसकी इच्छा प्रिय वस्तुओं को भोगने की ओर अग्रसर होती है, कभी वह अनुकूलता चाहता है, मनोज्ञता चाहता है, अमनोज्ञता से बचना चाहता है। यह सब आशंसा से उत्पन्न होता है। जो व्यक्ति 'जहावाई तहाकारी' नहीं होता, जैसा कहता है, वैसा करने वाला नहीं होता, कहता कुछ है और करता कुछ है, यह स्थिति जब तक समाप्त नहीं होती, तब तक अध्यात्म की उच्च भूमिका प्राप्त नहीं होती। जो कह दिया, वैसा ही करना है, यह चेतना पूर्णतः जागृत नहीं होती, तब कभी-कभी चलते-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चलते शिथिलता आ जाती है। कभी वह शिथिलता वातावरण से उत्पन्न होती है और कभी अन्यान्य कारणों से।

जब ये चारों आवेग नष्ट हो जाते हैं, इनकी चारों अवस्थाएं क्षीण हो जाती हैं, समाप्त हो जाती हैं, तब वीतरागता की स्थिति आती है, तब चारित्र यथाख्यात बन जाता है। उस अवस्था में किसी भी परिस्थिति में लक्ष्य के प्रति शैथिल्य नहीं आता। तब कहने और करने में, करने और कहने में तनिक भी अंतर नहीं रह जाता। कोई भी शक्ति उसमें अंतर नहीं ला सकती। चाहे मनुष्यकृत कष्ट प्राप्त हों, तिर्यंचकृत कष्ट प्राप्त हों या दैवी उपसर्ग प्राप्त हों, चाहे मरने का प्रसंग आये या जीने का, चाहे आकर्षक पदार्थों का अंबार लगा हो या नीरस पदार्थ पड़े हों, व्यक्ति की चेतना में कोई अंतर नहीं आता। वह आत्मा के साथ एकात्म हो जाता है, एकरूप हो जाता है। वह यथाख्यात चारित्र इतना अप्रकम्प, इतना निश्छल होता है कि वहां छिपाव की बात सर्वथा समाप्त हो जाती है। वह छद्मरहित अवस्था होती है। भीतर से एक प्रकार की नग्नता जैसी अवस्था हो जाती है। कोई छिपाव या आवरण नहीं रहता।

यह हमारी आध्यात्मिक चेतना का विकास-क्रम है। यह सारा-का-सारा मोह के विलय के आधार पर होता है। मोह जितना प्रबल होता है, हमारी मूर्च्छा उतनी ही प्रबल हो जाती है। हमारी मूर्च्छा जितनी प्रबल होती है, उतना ही हमारा आचार विकृत होता चला जाता है और हमारा दृष्टिकोण भी मिथ्या होता चला जाता है। एक मार्ग है मोह की प्रबलता का और दूसरा मार्ग है मोह की दुर्बलता का या मोह के विलय का। पहले मार्ग से चलते हैं तो आध्यात्मिक चेतना मूर्च्छित होती चली जाती है और दूसरे मार्ग से चलते हैं तो आध्यात्मिक चेतना विकसित होती चली जाती है। हम किस प्रकार मोह को क्षीण करें, यह साधना का केंद्र-बिंदु है। मोह को शांत करें, राग-द्वेष को कम करें और इस प्रकार जीवन जीएं कि कषाय कम होता चला जाये, राग-द्वेष कम होता रहे, यह जैसे कर्मशास्त्रीय मीमांसा है, वैसे ही अध्यात्म-शास्त्रीय मीमांसा है। जैसे अध्यात्म-शास्त्रीय मीमांसा है, वैसे ही स्वास्थ्यशास्त्रीय मीमांसा है, मानसशास्त्रीय मीमांसा है। इन आवेगों का केवल हमारी आध्यात्मिक चेतना पर ही प्रभाव नहीं होता, किंतु हमारे मन पर, मन की शांति पर और स्वास्थ्य पर भी प्रभाव होता है। आज की मनोवैज्ञानिक खोजों ने विषय को बहुत उजागर कर दिया कि आवेगों का व्यक्ति के मन पर कितना असर होता है और आवेगों के कारण कितने प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं। यह विषय पहले भी अज्ञात नहीं था। प्राचीन आचार्यों ने यह स्पष्टता से प्रतिपादित किया है कि आवेगों से रोग उत्पन्न होते हैं। वात, पित्त और कफ की विषमता से ही बीमारियां होती हैं। आवेगों के द्वारा वात, पित्त और कफ विकृत होते हैं और तब रोग सरलता से आक्रमण कर देते

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हैं। प्राचीन आयुर्वेद के ग्रंथों में इन विषयों की विशद जानकारी प्राप्त होती है। किंतु वर्तमान में जो मानसशास्त्रीय खोजें हुई हैं, उनसे इस विषय पर चामत्कारिक प्रकाश पड़ता है। मनस्-चिकित्साशास्त्र कुछ अद्भुत बातें प्रस्तुत करता है। हम मानते हैं कि बीमारियां शरीर में पैदा होती हैं। डॉक्टर कहते हैं कि कीटाणुओं के द्वारा बीमारियां उत्पन्न होती हैं। किंतु मनस्-चिकित्साशास्त्र कुछ और ही कहता है। उसका कहना है कि सत्तर-अस्सी प्रतिशत बीमारियां मानसिक आवेगों के कारण होती हैं। क्रोध, ईर्ष्या, भय, लालच—ये बीमारी के उत्पादक हैं। बहुत सारी बीमारियां ग्रंथियों के स्राव के कारण बढ़ती हैं, अवांछनीय रासायनिक प्रक्रिया होती है। इस दृष्टि से भी ये आवेग घातक हैं। ये आवेग कर्म की परंपरा को तो आगे बढ़ाते ही हैं, किंतु शरीर के लिए भी लाभदायक नहीं हैं।

हमें कर्मशास्त्र को केवल जानना ही नहीं है, उसके रहस्यों को जानकर उनसे लाभ उठाना है। वह है आवेग का नियंत्रण। आवेगों पर हमारा नियंत्रण होना चाहिए। कर्मशास्त्र की भाषा में आवेग-नियंत्रण की तीन पद्धतियां हैं—उपशमन, क्षयोपशमन और क्षयीकरण।

उपशमन

मनोविज्ञान की भाषा में इसे दमन की पद्धति कहा गया है। एक व्यक्ति आवेगों का दमन करता चला जाता है। मन में जो भी इच्छा उत्पन्न हुई, जो भी आवेग आया, उसे रोक लिया, शान्त कर दिया, दबा दिया। वह दबाता चला जाता है और दमन करते-करते अध्यात्म-विकास की ग्यारहवीं भूमिका तक चला जा सकता है। यह भी ऊंची भूमिका है। इसका नाम है—उपशांत मोह। इसे ग्यारहवां गुणस्थान कहा जाता है। इस भूमिका में मोह उपशांत हो जाता है। इतना उपशांत कि व्यक्ति वीतराग हो जाता है। यह दमन का रास्ता है, विलय का नहीं। इसलिए कुछ ही समय पश्चात् ऐसी स्थिति बनती है कि दबा हुआ कषाय उभरता है और उससे ऐसा झटका लगता है कि ग्यारहवीं भूमिका में गया हुआ साधक नीचे लुढ़क जाता है और फिर वह उन्हीं आवेगों से आक्रांत हो जाता है।

दमन की पद्धति को अस्वीकार नहीं किया जा सकता, किंतु यह व्यक्ति को लक्ष्य तक नहीं पहुंचा पाती।

क्षयोपशमन

यह दूसरी पद्धति है। मनोविज्ञान की भाषा में इसे उदात्तीकरण की पद्धति कहा गया है। इसे मार्गांतरीकरण भी कहा जाता है। इसका अर्थ है—रास्ता बदल देना, उदात्त कर देना, परिष्कृत कर देना, परिमार्जन कर देना।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्षयोपशमन का अर्थ है—कुछ दबाते हुए, कुछ क्षीण करते हुए। कुछ दोषों का उपशमन हुआ और कुछ क्षीण हुए। इसमें उपशमन और क्षय, साथ-साथ चलते हैं।

क्षयीकरण

यह तीसरी पद्धति है। पूर्ण क्षीण कर देना, समाप्त कर देना, विलय कर देना। इसमें उपशमन नहीं होता। जो भी आया, उसे नष्ट कर दिया। यह नष्ट करते हुए चलने की पद्धति है। यह है सर्वथा आगे बढ़ जाने की पद्धति। ऐसा करने वाला व्यक्ति पूर्णतः आगे ही बढ़ता चला जाता है। उसकी आध्यात्मिक चेतना की भूमिका प्रशस्त होती चली जाती है।

आवेगों का उपशमन होता है, आवेगों का क्षयोपशमन होता है और आवेगों का क्षयीकरण होता है।

मानसविज्ञान की दृष्टि से भी यह सम्मत तथ्य है कि आवेगों पर नियंत्रण होना चाहिए। अनियंत्रित आवेग व्यक्ति को ही नहीं, समाज को भी हानि पहुंचाते हैं। क्रोध उत्पन्न होता है। उसे रोकना जरूरी है। किंतु अंतर इतना ही आता है कि उसे कैसे रोकें? यहां कर्मशास्त्र का अध्यात्मशास्त्रीय पक्ष आ जाता है। यह उसका साधना पक्ष है।

अध्यात्मशास्त्र और कर्मशास्त्र जुड़े हुए हैं। इन्हें कभी अलग नहीं किया जा सकता।

हमने यह जान लिया कि यह संसार का चक्र आवेग के द्वारा चल रहा है। आवेगों के द्वारा मानसिक अशांति का चक्र चल रहा है। आवेगों के द्वारा बहुत सारी बीमारियां उत्पन्न होती हैं। परंतु एक प्रश्न आता है कि हम इन आवेगों से कैसे बचें? कर्मशास्त्र इस प्रश्न का समाधान नहीं देता। क्या घटित होता है, यह कर्मशास्त्र से उपलब्ध हो गया। अब उन आवेगों के उपशमन के लिए, उनके क्षयीकरण के लिए हमें क्या करना चाहिए—यह बोध अध्यात्मशास्त्र से प्राप्त होगा। इस बिंदु पर कर्मशास्त्र और अध्यात्मशास्त्र मिल जाते हैं। मोह का विलय कैसे करें, आवेगों का विलय कैसे करें, इसकी चर्चा हम अध्यात्मशास्त्रीय बिंदु के द्वारा करेंगे।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१५

आवेग-चिकित्सा

- पहला साधन है—स्वरूप का संधान, भेदज्ञान की प्राप्ति।
- दूसरा साधन है—विपाक प्रेक्षा, परिणाम प्रेक्षा।
- विपाक की निमित्त-सापेक्षता।
- विपाक के पांच निमित्त—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव।
- विपाक में परिवर्तन किया जा सकता है।
- विपाक-परिवर्तन के दो उपाय—
    - वीतराग चेतना का विकास।
    - तितिक्षा-चेतना का विकास।
- इष्ट और अनिष्ट—दोनों प्रकार के कर्म-विपाकों में पदार्थों का योग।

•

कुशल चिकित्सक वह होता है जो रोग, रोग के हेतु, आरोग्य और आरोग्य के हेतु—इन चारों को जानकर रोग की चिकित्सा करता है। कुशल साधक वह होता है जो कर्म, कर्म के बीज, कर्म-मुक्ति और कर्म-मुक्ति के हेतु को जानता है। कुशल साधक वह होता है जो बंध, बंध के हेतु, बंध-मुक्ति और बंध-मुक्ति के हेतु को जानता है। जो इन सबको भली-भांति जानकर कर्म की चिकित्सा करता है, वह कुशल साधक होता है।

कर्म को जानना उसके लिए इसलिए जरूरी है कि उसको जाने बिना आध्यात्मिक विकास नहीं होता। उसकी आध्यात्मिक चेतना के विकास में जो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बाधक है, वह है कर्म। अब यदि वह अपने बाधक तत्त्व को नहीं जानता तो अपनी बाधा मिटा नहीं सकता, आध्यात्मिक चेतना का विकास कर नहीं सकता। इसलिए कर्म को जानना जरूरी है। दूसरे शब्दों में, बंध को जानना जरूरी है। बंध या कर्म को जानना ही पर्याप्त नहीं है। उसके हेतु को जाने बिना कुछ नहीं होता। यदि कर्म या बंध के हेतु को नहीं जाना जाता तो कर्म या बंध को समाप्त नहीं किया जा सकता। कर्म का बीज है—राग-द्वेष। जब तक राग और द्वेष को नहीं जाना जाता, तब तक राग और द्वेष से होने वाले जीव के परिणामों को, जीव की विविध परिणतियों को नहीं जाना जा सकता। कर्म की चिकित्सा नहीं हो सकती। इसलिए कर्म को जानना जरूरी है, कर्म-बीज को जानना भी जरूरी है। दोनों को जान लिया किन्तु यदि कर्म-मुक्ति और कर्म-मुक्ति के हेतु को नहीं जाना तो कर्म की चिकित्सा नहीं हो सकती।

कर्म-मुक्ति का हेतु है—संवर और निर्जरा। जब ध्यान के द्वारा संवर (निरोध) की स्थिति उपलब्ध होती है और तपस्या के द्वारा निर्जरा हो जाती है, तब कर्म की ठीक चिकित्सा होती है।

इसलिए कुशल साधक को कर्म, कर्म के हेतु, कर्म-मुक्ति और कर्म-मुक्ति के हेतु—इन चारों को जानना बहुत आवश्यक है। इनको जाने बिना वह अपनी साधना में विकास नहीं कर सकता।

हमारे आवेग कर्मों का आस्रव निरंतर करते रहते हैं, कर्मों के आने के द्वारों को खोलते रहते हैं। उन द्वारों को कैसे बंद किया जाये? आवेगों को कैसे शान्त किया जाये? यदि मोह के आवेग शान्त होते हैं, मोह की आवृत्तियां शान्त होती हैं, कम होती हैं तो कर्मों का दबाव अपने आप कम होने लग जाता है। साधक के सामने यह ज्वलन्त प्रश्न है कि उन आवेगों को, मोह की आवृत्तियों को शान्त कैसे किया जाये? आवेगों को शान्त करने का प्रश्न केवल साधकों के सामने ही नहीं है किन्तु चिकित्सकों के सामने भी है। क्योंकि आवेगों को शान्त किये बिना जीवन भी स्वस्थ नहीं चल सकता। आवेग बुरी आदतों के उत्पादक हैं। स्वस्थ जीवन के लिए उन्हें शान्त करना आवश्यक होता है। चिकित्सकों ने भी अपनी सीमा में आवेग-शान्ति के उपाय खोजे हैं। जितने आवेग हैं, उन सबके केन्द्र हमारे मस्तिष्क में हैं। जिनके माध्यम से ये आवेग अभिव्यक्त होते हैं, वे सब केन्द्र हमारे मस्तिष्क में हैं। उन केन्द्रों को समाप्त करने से आवेग शान्त हो जाते हैं। क्रोध का एक केन्द्र है, एक बिन्दु है। उस बिन्दु को समाप्त कर देने पर क्रोध आना बंद हो जाता है। मद्रास में 'ब्रेन इन्स्टीट्यूट' है। यह भारत का बहुत बड़ा केन्द्र है। यहां के डॉक्टरों ने कुछ आपरेशन किये। उन्होंने कुछ खोजें कीं। उन्होंने बताया कि मदिरा पीने की आदत आपरेशन के द्वारा छुड़ाई जा सकती है। मस्तिष्क में एक केन्द्र है, जो मादक वस्तुओं के प्रति आकृष्ट होता है। उसकी उत्तेजना को समाप्त

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कर दिया जाये तो फिर मादक वस्तुओं के सेवन की आदत समाप्त हो जाती है, भावना समाप्त हो जाती है। उन्होंने ऐसे आपरेशन किये हैं और उनमें सफल हुए हैं। उनका यह निष्कर्ष है कि अनेक आवेग, अनेक उत्तेजनाएं, चिड़चिड़ा स्वभाव, कलह करने की वृत्ति, इन सबको मस्तिष्क के अमुक-अमुक केन्द्रों के आपरेशन के द्वारा ठीक किया जा सकता है। उनको मिटाया जा सकता है।

हमारे मस्तिष्क में कई प्रकार की तरंगें पैदा होती हैं—अल्फ़ा, बीटा, गामा आदि-आदि। ये तरंगें हमारे में विभिन्न प्रकार की प्रवृत्तियों को उत्पन्न करती हैं। कई प्रकार की अन्य तरंगें भी हैं, जिनका विकास यौगिक पद्धति के द्वारा किया जा सकता है। उनका अध्ययन और परीक्षण भी किया जा सकता है।

आज की चिकित्सा पद्धति ने इतना विकास कर लिया कि वह आपरेशन के द्वारा या बिजली के झटके देकर, विभिन्न आवेगों को, विभिन्न आदतों को मिटाने में सक्षम हैं। आवेग के केन्द्र को समाप्त कर देने पर वह जीवन भर फिर कभी सक्रिय नहीं हो सकता। काम-वासना का आवेग, कषाय का आवेग, भय का आवेग आदि-आदि सभी आवेगों को समाप्त करने में आज का चिकित्सा विज्ञान सक्षम है।

चिकित्सा की सीमा है—हमारा दृश्य शरीर, औदारिक शरीर। शरीर का मुख्य भाग है मस्तिष्क। इसके माध्यम से चिकित्सक इस परीक्षण में लगे हुए हैं कि किस प्रकार आवेगों के केन्द्रों को सुधार कर मनुष्य को आवेगों के प्रहारों से बचाया जा सकता है। यह शरीरशास्त्रीय और चिकित्साशास्त्रीय खोजों का निष्कर्ष है।

अब हम अध्यात्मशास्त्रीय निष्कर्षों पर भी विचार करें। क्या बिना आपरेशन के भी इन आवेगों को शान्त किया जा सकता है? मस्तिष्क के विशेष केन्द्र-बिन्दुओं और विशेष स्नायुओं को काटे बिना ही क्या उत्तेजनाओं, वासनाओं और आदतों को शांत किया जा सकता है? इन प्रश्नों पर प्राचीन काल से अध्यात्म के साधकों ने, अध्यात्म के तत्त्ववेत्ताओं ने जो अनुसंधान किये हैं, जो परीक्षण और प्रयोग किये हैं, उन पर हमें एक दृष्टि डाल देनी चाहिए।

अध्यात्म-तत्त्ववेत्ताओं ने कहा कि यह सब आत्मिक प्रक्रिया के द्वारा भी हो सकता है। आत्मिक प्रक्रिया में सबसे पहली बात है—स्वरूपानुसन्धान, अपने स्वरूप का संधान। हम एक बात को न भूलें कि हमारे सामने एक ही प्रकाश-किरण है और वह है हमारा स्वतंत्र अस्तित्व। हमारा स्वतंत्र स्वभाव है, अस्तित्व है और उसको कभी मिटाया नहीं जा सकता। उस स्वभाव को कभी भी दबाया नहीं जा सकता। उस स्वभाव को कभी भी पूर्णतः आच्छन्न नहीं किया जा सकता। चाहे हजार बार कर्मों का आक्रमण हो, हजार बार कर्म के पुद्गलों की रासायनिक प्रक्रियाएं आवृत्तियां करती रहें, फिर भी उसे पूर्णतः विकृत नहीं किया जा सकता,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

न पूर्णतः शक्तिहीन किया जा सकता है। यही हमारे लिए प्रकाश की पहली रश्मि है। यदि यह नहीं होती तो हम कुछ भी करने में समर्थ नहीं हो पाते। किन्तु हमारे पास वह है स्वतंत्रता, जिसके द्वारा ही परिवर्तन की सारी बातें संभव हो सकती हैं।

सबसे पहली बात है अपने स्वरूप का संधान। जिस व्यक्ति में यह सम्यग्-दृष्टि जाग जाती है, अपने स्वरूप के संधान की बात चेतना पर उतर आती है, वह व्यक्ति आवेगों में परिवर्तन करने में सक्षम हो जाता है। स्वरूप के संधान का अर्थ है—भेदज्ञान की प्राप्ति। आध्यात्मिक भूमिका में परिवर्तन का यह पहला बिन्दु है। जब यह भेदज्ञान जाग जाता है, वहां से परिवर्तन की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। हम बदलना शुरू कर देते हैं। इससे इतना आंतरिक परिवर्तन, इतना रूपांतरण आ जाता है, व्यक्ति इतना रूपांतरित हो जाता है कि पहले का व्यक्ति और भेदज्ञान या सम्यग्-दृष्टि प्राप्त होने के बाद का व्यक्ति, एक ही व्यक्ति नहीं रह जाता। उसके व्यक्तित्व का आमूलचूल परिवर्तन हो जाता है। जीवन और विश्व के प्रति दृष्टिकोण बदल जाता है। जीवन को देखने का कोण बदल जाता है। पहले जिस दृष्टि से पदार्थ को देखता था, उसी दृष्टि से अब पदार्थ को नहीं देखता। जिस दृष्टि से अपने को पहले देखता था, उसी दृष्टि से अब अपने को नहीं देखता। अपने को देखने का दृष्टिकोण और पदार्थ को देखने का दृष्टिकोण—दोनों बदल जाते हैं। दृष्टिकोण के परिवर्तन से आवेगों पर करारी चोट होती है, तीव्र प्रहार होता है। जिस दृष्टिकोण के आधार पर आवेगों को पोषण मिल रहा था, सिंचन मिल रहा था, उस दृष्टिकोण के बदल जाने पर आवेगों को वह पोषण और सिंचन मिलना बंद हो गया, जीवन रस प्राप्त होना बंद हो गया। आवेगों को सिंचन मिलता है अहंकार के द्वारा, ममकार के द्वारा। जब तक अहंकार और ममकार हैं, तब तक आवेश पुष्ट होते रहेंगे, बढ़ते रहेंगे, फलते-फूलते रहेंगे। जैसे ही दृष्टिकोण बदलता है, अहंकार और ममकार की गांठ टूट जाती है और तब आवेगों को जीवन-रस, पोषण-रस मिलना बंद हो जाता है। उनका आधार ही समाप्त हो जाता है। इसलिए आवेगों की चिकित्सा का पहला सूत्र है—दृष्टिकोण का परिवर्तन, सम्यग्-दृष्टि की प्राप्ति।

इसका दूसरा सूत्र है—विपाक की प्रेक्षा, विपाक को देखना। यह भी बहुत ही महत्त्वपूर्ण बात है। हम विपाक की प्रेक्षा नहीं करते, उसे नहीं देखते। इसीलिए उच्छृंखल प्रवृत्तियां चलती हैं। यदि हम प्रवृत्ति के विपाक पर ध्यान दें और यह देखने का प्रयत्न करें कि इसका विपाक क्या होगा, क्या विपाक हो रहा है तो उच्छृंखल प्रवृत्तियां या आवेग नहीं चल सकते। चाहे कोई भी व्यक्ति हो, वह जो कुछ करता है और वह विमर्श करता चलता है कि मेरे आचरण का, मेरे कार्य का क्या परिणाम होगा, क्या विपाक होगा, तो वह बहुत ही विवेक और

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संतुलन के साथ काम करेगा। यदि यह परिणाम और विपाक से आंख मूंदकर कार्य करता चला जाता है तो उससे वे काम भी हो जाते हैं जो अनिष्टकर, हानिकर होते हैं। विश्व में जितने भी अवांछनीय कार्य हुए हैं, होते हैं, वे परिणाम की ओर से आंख मूंद लेने के कारण ही हुए हैं, होते हैं। विपाक-प्रेक्षा की चेतना जागृत न होने के कारण ही वे होते हैं। विपाक-प्रेक्षा की चेतना जागृत हो तो अवांछनीय कार्य, अनिष्ट प्रवृत्ति नहीं हो सकती। विपाक की प्रेक्षा ध्यान का एक अंग है। जैन दर्शन में धर्म्यध्यान के चार प्रकार बतलाए गए हैं—आज्ञा विचय, अपाय विचय, विपाक विचय और संस्थान विचय। इनमें तीसरा है—विपाक विचय। विपाक का विचय—विपाक-प्रेक्षा, विपाक-दर्शन। बहुत गहरे में जाकर हम देखते हैं कि अभी किस कर्म का विपाक हो रहा है। बीमारी में किस कर्म का विपाक हो रहा है। क्रोध आया, यह किस कर्म का विपाक है, उसे हम देखते हैं, विपाक की अनुचिंतना करते हैं, विपाक का विचय करते हैं, वहां हमारे मानस की स्थिति बदल जाती है, वह बिलकुल रूपांतरित हो जाती है।

कर्म आठ हैं और आठ कर्मों के अनेक विपाक हैं। इन्द्रिय-ज्ञान की शक्ति तथा मन के ज्ञान की शक्ति को आवृत करना ज्ञानावरण कर्म का विपाक है। ज्ञानावरण कर्म जब विपाक में आता है, तब वह हमारी ज्ञान की शक्तियों को ढांक देता है।

दर्शनावरण कर्म का विपाक होता है, तब हमारी देखने की शक्ति आवृत हो जाती है। नींद आती है, गहरी नींद आती है, इतनी गहरी नींद कि जिस नींद में आदमी दिन में की हुई कल्पनाओं को क्रियान्वित कर डालता है। इतनी प्रगाढ़ निद्रा कि आदमी नींद में ही मीलों चला जाता है, काम कर डालता है, किसी को पीट डालता है, कुछ तोड़ डालता है, फिर घर में आकर बिस्तर पर लेट जाता है। इतना होने पर भी उसकी नींद नहीं टूटती। ऐसी नींद में एक विशिष्ट प्रकार की शक्ति उत्पन्न होती है और उस शक्ति से प्रेरित होकर व्यक्ति असंभव कार्य भी कर डालता है। ऐसा दर्शनावरण कर्म के विपाक से होता है।

मोह कर्म का विपाक होता है तब राग-द्वेष का चक्र चलने लगता है, विभिन्न प्रकार के आवेग उत्पन्न होते हैं, विभिन्न प्रकार की वासनाएं उभरती हैं, भय जागता है तथा अन्यान्य आवेग भी कार्यरत हो जाते हैं।

कर्मों के विपाक का यह चक्र अविश्रांत गति से घूमता रहता है। कभी कोई विपाक जागता है और कभी कोई। इनकी निरंतरता टूटती नहीं। क्या हम इन विपाकों को निरस्त कर सकते हैं? नहीं, इन्हें निरस्त नहीं किया जा सकता? किन्तु इनको हम रोक सकते हैं।

एक प्रक्रिया है—कर्म को न बांधने की, कर्म के बीज को समाप्त करने की।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कर्म का बंधन न हो, इसमें हम जागरूक रहें, अप्रमत्त रहें। यह भी साधना की एक प्रक्रिया है।

साधना की एक प्रक्रिया यह भी है कि जो विपाक आने वाले हैं, उनके प्रति हम पहले से ही जागरूक हो जाएं। उन विपाकों को हम बदल दें। अथवा हम उन विपाकों को आने ही न दें। कर्मों को हमने बांध दिया। कर्म बंध गए। हमारे ही अज्ञानवश, प्रमादवश, हमारी ही भूलों के कारण वे कर्म आकर चिपक गए। वे परिणाम देने वाले हैं। उनका विपाक-काल है। हम जागरूक हो जाएं। हम जाग जाएं। हमारी प्रमाद की नींद टूट जाये। हमारी चेतना की कुछ रश्मियां आलोकित हो जायें। यह असंभव नहीं है, बहुत संभव है। असाध्य कार्य नहीं है, साध्य कार्य है। हम उन कर्मों को बीच में ही बदल दें, उनकी शक्ति में ऐसा परिवर्तन ला दें कि उनका विपाक न हो सके। यह बहुत ही महत्त्व की बात है। इस पर हमारा ध्यान केन्द्रित होना चाहिए।

विपाक होता है कारणों से। निमित्तों के बिना विपाक नहीं हो सकता। प्रज्ञापना सूत्र में इसका सुंदर विवेचन प्राप्त है। विपाक के लिए पांच शर्तें हैं— द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव। जब ये पांचों बातें पूरी होती हैं, तब कर्म का विपाक हो सकता है, अन्यथा नहीं हो सकता। इसी आधार पर कर्म की चार प्रकृतियां मानी गयी हैं—क्षेत्रविपाकी, जीवविपाकी, भावविपाकी और भवविपाकी। यदि इन चारों को हम ठीक से समझ लें और कर्मशास्त्र के रहस्यों को गहराई में जाकर पकड़ लें तो बहुत कुछ परिवर्तन ला सकते हैं। यदि कर्म के हेतुओं में और बंधे हुए कर्मों में कोई भी परिवर्तन नहीं किया जा सकता तो साधना का कोई अर्थ नहीं हो सकता, वह अर्थशून्य हो जाती है। फिर हमारे लिए साधना का प्रयोजन ही क्या? हम क्यों इतना पुरुषार्थ करें? क्यों प्रेक्षा करें? क्यों आंखें मूंदकर घंटों तक ध्यान करें? यदि हम कुछ बदल न सकें तो ये सारे प्रयत्न व्यर्थ हैं, शून्य हैं। किंतु ऐसा नहीं है। साधना के द्वारा हम बदल सकते हैं। यह हमारी बहुत बड़ी क्षमता है कि हम साधना के माध्यम से उन विपाकों में परिवर्तन ला सकते हैं। किंतु यह तभी संभव हो सकता है, जब हम कर्मशास्त्र की गहराई में जाकर कर्मों की प्रकृतियों और स्वभावों को ठीक-ठीक समझ लें और यह उपाय भी जान लें कि उनमें कैसे परिवर्तन लाया जा सकता है?

पुद्गल का एक परिणाम है—वेदनीय कर्म। वेदनीय कर्म की दो प्रकृतियां हैं—सात वेदनीय और असात वेदनीय। सुख का भी वेदन होता है और दु:ख का भी वेदन होता है। प्रीत्यात्मक अनुभूति भी होती है और अप्रीत्यात्मक अनुभूति भी होती है। असात वेदनीय का उदय क्यों होता है? उसके उदय के अनेक कारण हैं। एक कारण है—पुद्गल। पुद्गल का ऐसा कोई स्पर्श हुआ, कोई

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ऐसी चोट लगी कि पैर में दर्द हो गया। असात वेदनीय का उदय हो गया। मन उसमें ही जाता है, साधना में नहीं जाता। मन की सारी ऊर्जा पैर की ओर ही बहने लग जाती है। साधना का वह स्पर्श भी नहीं कर पाती। असात वेदनीय के उदय का एक कारण है पुद्गल का परिणाम। जैसे—बहुत खा लिया, भूख से अधिक भोजन कर लिया। अजीर्ण हो गया। पेट में दर्द प्रारंभ हो गया। अब सारा मन उसी की ओर भागता है, विपाक की ओर जाता है, साधना की ओर नहीं जाता। पुद्गल के परिणाम के कारण जो असाता का विपाक होता है, उसे हम बदल सकते हैं। इसीलिए यह कहा जाता है—अधिक मत खाओ। भोजन की मात्रा का ज्ञान करो। साधना के क्षेत्र में भोजन पर ध्यान देने की बात भी महत्त्वपूर्ण बन जाती है। साधना करने वाले व्यक्ति को यह जानना चाहिए कि कब खाए? क्यों खाए? कितना खाए और कैसे खाए? दही खूब खा लिया और ध्यान के लिए बैठ गया। ध्यान में नींद सताने लगी। यह दर्शनावरणीय कर्म का विपाक है। इसमें दर्शनावरणीय कर्म के विपाक का कारण बना हमारा भोजन। इसलिए ऐसा भोजन न किया जाये जो असात वेदनीय या दर्शनावरणीय कर्म के विपाक का निमित्त बने। बहुत तेज मिर्च-मसाले खा लिये, तामसिक भोजन किया और साधना में बैठ गये। मन में उत्तेजनाएं उभरने लगीं, विकृतियां पैदा होने लगीं, ध्यान से मन हट गया। तो हमने भोजन की परिणति के द्वारा विपाक को निमंत्रित कर दिया। इसलिए यह आवश्यक है कि हम विपाकों के निमित्तों पर भी ध्यान दें। उपादान का महत्त्व है तो निमित्त का भी कम महत्त्व नहीं है। अपने स्थान पर वे बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। इसीलिए हम कैसे बैठें, क्या खायें, कैसे खायें, कितना खायें, किस वातावरण में रहें, ये सारी बातें बहुत ही महत्त्वपूर्ण बन जाती हैं।

कुछ बातें हमारे वश की होती हैं और कुछ हमारे नियंत्रण से बाहर की होती हैं। जैसे—वर्षा का मौसम है। आकाश बादल से आच्छन्न है। ऐसे वातावरण में दर्शनावरणीय कर्म के उदय को मौका मिल जाता है। नींद आने लगती है। यह हमारी भूल का परिणाम नहीं है। हमने अधिक खाया, अवांछनीय भोजन किया और नींद ने आ घेरा। यह हमारी भूल का परिणाम है। हमने अपनी भूल के कारण कर्म के विपाक को निमित्त प्रदान कर दिया। दोनों प्रकार से विपाक का उदय होता है। एक प्राकृतिक वातावरण या अन्य कारण से तथा दूसरा हमारी भूल या प्रमाद के कारण से। निमित्त मिलते ही विपाक उदय में आ जायेगा। उस स्थिति में हम क्या करें? उस स्थिति में हम कष्ट-सहिष्णु बनने का अभ्यास करें। साधना के लिए, आवेगों को कम करने के लिए कष्ट-सहिष्णुता का अभ्यास अत्यन्त आवश्यक है। जो कष्ट-सहिष्णु नहीं होता, कठिनाइयों को नहीं झेल सकता, वह न साधना ही कर सकता है और न कर्म के चक्र-व्यूह को ही तोड़ सकता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भगवान महावीर ने धर्म के दो लक्षण बताए। उन्होंने कहा—धर्म का पहला लक्षण है—अहिंसा, राग-द्वेष का न होना। धर्म का दूसरा लक्षण है—परीषह-सहन, कष्टों को सहने की क्षमता। जीवन में द्वंद्व आते हैं। कभी सुख आता है और कभी दुःख। कभी अनुकूलता रहती है और कभी प्रतिकूलता। कभी प्रियता की संवेदना होती है और कभी अप्रियता की। कभी प्रशंसा होती है और कभी निंदा। कभी उपलब्धि होती है और कभी हानि। ये जो सारे द्वंद्व आते हैं, इनको सहन करने वाली तितिक्षा की चेतना जब तक जागृत नहीं होती, तब तक न साधना होती है और न आवेग ही कम होते हैं। ऐसी स्थिति में कर्म के व्यूह को भी नहीं तोड़ा जा सकता। इसलिए हमारी दोनों प्रकार की शक्तियां जागृत होनी चाहिए। एक है अ-राग की शक्ति और एक है अ-द्वेष की शक्ति—अराग चेतना और अद्वेष चेतना। वीतराग चेतना के साथ-साथ तितिक्षा की चेतना भी जागृत होनी चाहिए। यदि तितिक्षा नहीं है तो राग भी आ सकता है और द्वेष भी आ सकता है। अनुकूलता में राग आएगा। राग को सहने की भी शक्ति होनी चाहिए। अनुकूलता को सहन करने की शक्ति होनी चाहिए। मन के अनुकूल कोई घटना घटित होती है, उसे यदि हम सहन नहीं कर सकते तो मन में राग पैदा हो जायेगा, आवेग भी पैदा हो जायेगा। बहुत हर्ष होना, अध्यात्म की दृष्टि से ही अवांछनीय नहीं है, स्वास्थ्य की दृष्टि से भी वांछनीय नहीं है। यह अकाल-मृत्यु का कारण बन जाता है।

एक आदमी बहुत गरीब था। लाटरी में उसे दो लाख रुपये मिले। किसी ने आकर कहा—भाई! तुम तो निहाल हो गये। तुम्हारे नाम की लाटरी में दो लाख रुपये उठे हैं। उसने कहा—दो लाख! यह कहते ही वह धड़ाम से नीचे गिरा और इस लोक से चल बसा।

अनुकूलता और प्रतिकूलता को सहन करने के लिए तितिक्षा की चेतना जागृत होनी चाहिए। कोई व्यक्ति बड़ी-से-बड़ी स्थिति में है। उसको बड़ी-से-बड़ी उपलब्धि है। सारे अनुकूल संयोग हैं। अकस्मात् सब छिन जाते हैं। सत्ता छिन जाती है, अधिकार छिन जाते हैं। संपदा नष्ट हो जाती है, परिवार बिखर जाता है। उस स्थिति में प्रतिकूलता को सहने की चेतना यदि जागृत नहीं होती तो व्यक्ति दिग्भ्रान्त हो जाता है। जिसकी यह चेतना जागृत होती है, उसके लिए अनुकूलता या प्रतिकूलता में कोई अंतर नहीं आता।

जैन आगमों में नमि राजर्षि का एक उदाहरण आता है। व्यवहार की दुनिया में वह शायद मान्य न हो, किंतु वह उस चेतना का प्रतीक है, वह उस चेतना का दिग्दर्शक है, जिस चेतना के बिंदु पर पहुंचकर व्यक्ति की तितिक्षा की चेतना इतनी जागृत हो जाती है कि उसके लिए कोई भी प्रकंपन शेष नहीं रहता। न राग का प्रकंपन होता है और न द्वेष का प्रकंपन होता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नमि राजर्षि से कहा गया—आपका अंतःपुर जल रहा है। उसमें आग लग गयी है। लपटें आकाश को छू रही हैं। आपका प्रासाद जल रहा है। आपका नगर जल रहा है। नमि राजर्षि ने कहा—मैं सुख से जी रहा हूं, सुख से रह रहा हूं। किसका अंतःपुर! किसका प्रासाद! किसका नगर! मेरा कुछ भी नहीं है। मिथिला के जलने पर भी मेरा तो कुछ भी नहीं जल रहा है।

यह कितना अव्यावहारिक कथन लगता है! कितनी करुणाहीन बात लगती है! क्या कोई करुणावान् व्यक्ति ऐसा कह सकता है? परम कोटि का क्रूर व्यक्ति ही ऐसी बात कह सकता है। किंतु हम बहुत बार भूमिका-भेद को समझे बिना भयंकर भूल कर बैठते हैं। यह भी हमारी भयंकर भूल होगी, यदि हम नमि राजर्षि की स्थिति को क्रूरता से परिपूर्ण मानें। यह उस तितिक्षा की, उस परम चेतना की स्थिति है, जहां पहुंचकर साधक अनुकूलता और प्रतिकूलता के प्रकंपनों से परे हो जाता है। वह चेतना इतनी अप्रकंप हो जाती है कि जहां केवल चेतना ही होती है और कुछ भी नहीं होता।

राग और द्वेष न हों, इसलिए चेतना में तितिक्षा का विकास होना चाहिए। यदि द्वंद्वों को सहन करने की चेतना का विकास नहीं होता है तो राग और द्वेष अवश्य होते हैं। उन्हें रोका नहीं जा सकता।

इस प्रकार वीतराग चेतना और तितिक्षा की चेतना—दोनों प्रकार की चेतनाओं का विकास करके ही हम कर्म विपाकों में परिवर्तन ला सकते हैं। यदि तितिक्षा की चेतना विकसित होती है तो मोहनीय कर्म का विपाक नहीं हो सकता, आवेग नहीं हो सकता। आवेग तभी होता है, जब तितिक्षा की चेतना विकसित नहीं होती। अहंकार और ममकार-शून्य चेतना विकसित नहीं होती। इसीलिए आवेग आते हैं। हम प्रतिपक्ष की चेतना को विकसित करें। क्रोध है तो मैत्री की चेतना को विकसित करें। मैत्री के संस्कारों को सुदृढ़ बनाएं। मैत्री के संस्कार दृढ़ होंगे तो क्रोध का आवेग अपने-आप कम होता चला जाएगा। प्रतिपक्ष भावना साधना का बहुत बड़ा सूत्र है।

दशवैकालिक सूत्र में चार आवेगों की प्रतिपक्ष भावना का सुन्दर निरूपण प्राप्त है। यदि क्रोध के आवेग को मिटाना है, कम करना है तो उपशम के संस्कार को पुष्ट करना होगा। क्रोध का प्रतिपक्ष है—उपशम। उपशम का संस्कार जितना पुष्ट होगा, क्रोध का आवेग उतना ही क्षीण होता चला जायेगा। मान के आवेग को नष्ट करना है तो मृदुता को पुष्ट करो। मान का प्रतिपक्ष है मृदुता। माया के आवेग को नष्ट करना है तो ऋजुता के संस्कार को पुष्ट करो। ऋजुता और मैत्री में कोई अन्तर नहीं है। मैत्री ऋजुता का ही प्रतिफलन है। जब ऋजुता है तो किसी के साथ शत्रुता हो ही नहीं सकती। शत्रुता से पूर्व कुटिलता आती है। शत्रुता कुटिलतापूर्वक ही होती है। बिना कुटिलता के शत्रुता नहीं होती। जब

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

छिपाने की बात, लूट लेने की बात, ठगने की बात आयेगी तभी किसी के साथ अमैत्री का भाव होगा। जहां छिपाने जैसा कुछ भी नहीं है, सरलता ही सरलता है, पारदर्शी स्फटिक-सा जीवन है, वहां शत्रुता हो ही नहीं सकती। माया का प्रतिपक्ष है ऋजुता। लोभ के आवेग को नष्ट करना है तो संतोष को विकसित करें, उसे पुष्ट करें।

आवेगों को मिटाने के लिए प्रतिपक्ष के संस्कारों को पुष्ट करना है। जब तक प्रतिपक्ष का संस्कार पुष्ट नहीं होता, आवेगों का तनुभाव नहीं किया जा सकता, उन्हें पतला नहीं किया जा सकता, क्षीण नहीं किया जा सकता। जब तक आवेग क्षीण नहीं होते, उन्हें तोड़ा नहीं जा सकता। उन्हें इतना क्षीण कर देना होता है कि एक ही झटके में वे टूट जाएं।

क्रोध, मान, माया और लोभ—ये चार आवेग हैं। इनकी प्रतिपक्षी भावनाओं को पुष्ट करने से ये आवेग शांत हो जाते हैं। उनका विपाक बंद हो जाता है। भय, काम-वासना, घृणा आदि आवेगों के लिए प्रतिपक्ष की भावना जरूरी है। साधना में प्रतिपक्ष भावना का बहुत बड़ा महत्त्व है। इसके बिना आवेगों से छुटकारा नहीं मिलता। हमारी अभय की भावना जितनी पुष्ट होगी, भय का आवेग क्षीण हो जाएगा। चेतना की भावना, चैतन्य का अनुसंधान जितना पुष्ट होगा, काम-वासना उतनी ही क्षीण हो जायेगी। एकत्व का विकास होगा तो घृणा अपने आप मिट जायेगी।

हम प्रतिपक्ष को पुष्ट करें। यह हमारा कर्तृव्य है, पुरुषार्थ है, संकल्प है। जैसे कर्म के अनिष्ट विपाक में कुछ निमित्त होते हैं, वैसे ही कर्म के इष्ट विपाक में भी कुछ निमित्त होते हैं। किसी के ज्ञानावरण कर्म का विपाक है। वह चाहता है कि ज्ञानावरण का विपाक कम हो। इसके लिए भी कुछ साधन हैं। आचार्य मलयगिरि ने प्रज्ञापना की टीका में अनेक उपाय निर्दिष्ट किए हैं। ब्राह्मी आदि बूटियां हैं, जिनके सेवन से ज्ञान-विकास में सहायता मिलती है।

मन की एकाग्रता में भी कुछ पदार्थ सहयोगी होते हैं, कुछ निमित्त बनते हैं। आप ध्यान करने बैठते हैं। उस समय यदि आपके हाथ में पारे की गोली होती है तो आपको एकाग्र होने में सुगमता हो सकती है। ध्यान-काल लंबा हो सकता है। साधना की कुछेक प्रक्रियाओं में रुद्राक्ष का भी प्रयोग होता है। उसका भी एक अर्थ, प्रयोजन है। जैसे मन पदार्थ को प्रभावित करता है, वैसे ही पदार्थ भी मन को प्रभावित करता है। इष्ट और अनिष्ट—दोनों प्रकार के कर्म-विपाकों में पुद्गलों का योग रहता है। पौद्गलिक परिणतियां उन विपाकों को बढ़ा भी सकती हैं और कम भी कर सकती हैं।

एक आदमी मदिरा पीता है। मदिरा मोह-कर्म के विपाक में निमित्त बनती है। मूर्च्छा आ जाती है। क्या ऐसा पदार्थ नहीं है, जिसके सेवन से हमारी जागृति

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain, Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बन जाये, मोह कर्म का विपाक कम हो जाये ? ऐसे पदार्थ हैं। ऐसा हो भी सकता है। यदि एक वस्तु के सेवन से काम-वासना को उत्तेजना मिलती है तो क्या ऐसी वस्तु नहीं हो सकती, जिसके सेवन से काम-वासना शांत हो जाये ? ऐसे पदार्थ हैं। पदार्थों का अभाव नहीं है। अभाव हमारी जानकारी का हो सकता है। जब परीक्षा का समय आता है, तब अनुभवी माता-पिता अपने बच्चों को ऐसी औषधियों का सेवन करवाते हैं, जिनसे बच्चों की बुद्धि, स्मरण-शक्ति तीव्र होती है और वह उनकी परीक्षा में सहयोगी बन जाती है।

ध्यान-काल में शक्ति का व्यय होता है। मस्तिष्क की शक्ति बहुत खर्च होती है। हमारे मस्तिष्क की विद्युत् को बहुत काम करना पड़ता है। अधिक ऊष्मा पैदा हो जाती है। व्यय अधिक होता है। मैंने एक होम्योपैथिक चिकित्सक से पूछा कि शक्ति-संतुलन को बनाये रखने के लिए क्या अमुक पदार्थ का सेवन उचित होगा ? उसने कहा—बहुत ही उचित रहेगा। जो शक्ति खर्च होती है, वह इस पदार्थ से मिल जायेगी। शक्ति का संतुलन बना रहेगा। ध्यान में सहयोग मिलेगा।

सरदारशहर के सेठ सुमेरमलजी दूगड़ के सुपुत्र भंवरलालजी एक कुशल चिकित्सक थे। वे बहुत ही अनुभवी थे। उन्होंने पन्द्रह-बीस वर्ष पूर्व मुझसे एक दिन कहा—आपको मस्तिष्क की शक्ति का अधिक व्यय करना पड़ता है। लिखना, पढ़ना और चिंतन-मनन अधिक करना पड़ता है। इन कार्यों में मस्तिष्क की शक्ति का बहुत व्यय होता है। आप अभी से यह ध्यान रखें कि शक्ति का संतुलन बना रहे, जितना व्यय हो, वह पूरा होता रहे। नहीं तो फिर कठिनाइयां पैदा हो सकती हैं। उन्होंने कुछ उपाय भी सुझाए। उन्होंने कहा—आप सूखे आंवलों का सेवन करें, काली मिर्च का सेवन करें। कभी-कभी मुक्ता का सेवन करते रहें, जिससे कि जो मस्तिष्कीय शक्ति खर्च होती है, वह पूरी होती रहे।

मैंने समय-समय पर इनका उपयोग किया और बहुत लाभ उठाया। पुद्गल जैसे कर्म के विपाक में निमित्त बनते हैं, वैसे ही कर्म के क्षयोपशम में भी निमित्त बनते हैं। कर्म का विपाक भी निमित्तों के बिना नहीं हो सकता। हम निमित्तों की बात को न भूलें।

आवेगों के उपशमन में जैसे हमारी आन्तरिक परिणतियों को बदलने की जरूरत है, वैसे ही निमित्तों को जानने और उनको बदलने के प्रयोग की भी जरूरत है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१६

स्वतंत्र या परतंत्र ?

- हम कर्म करने में स्वतंत्र या परतंत्र ?
- चैतन्य का सतत अनुभव करते हैं तो हम स्वतंत्र हैं।
- चैतन्य का अनुभव जब विस्मृत होता है, तब हम परतंत्र हैं।
- मनुष्य अपने कर्तृत्व में स्वतंत्र, परिणाम भोगने में परतंत्र।
- स्वतंत्रता का स्वयंभू प्रमाण—
  हमारे चैतन्य का विकास, हमारे आनन्द का विकास।
  हमारी शक्ति का विकास, हमारा पूर्ण जागरण।
- उपादान को उत्पन्न करने की शक्ति किसी में नहीं।
- कर्म आत्मा के उपादानभूत स्वभावों को पैदा नहीं कर सकते।
- आत्मा के उपादानभूत स्वभाव—अनंत चैतन्य, अनंत आनन्द, अनंत शक्ति, अनंत जागरण।

•

द्रव्य का अपना-अपना स्वभाव होता है। स्वभाव कभी भी निर्मूल नहीं होता, उसे कभी निरस्त नहीं किया जा सकता। विभाव स्वभाव को कुछ विकृत भी कर सकता है, आवृत भी कर सकता है, किन्तु निरस्त नहीं कर सकता, शून्य नहीं कर सकता।

आवेग चैतन्य का स्वभाव नहीं है। वह चैतन्य के साथ उत्पन्न मूढ़ता है। वह मोह है, विकृति है किन्तु स्वभाव नहीं है। इसीलिए यह संभावना शेष रहती है कि आवेग को निरस्त किया जा सकता है। उस योग को दूर किया जा सकता है

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जो आकर जुड़ गया है। उसे काटा जा सकता है। उसे काटने के अनेक उपाय हैं, अनेक साधन हैं। उन सब साधनों में महत्त्वपूर्ण साधन है—चैतन्य का अनुभव, संवर, शुद्ध उपयोग। जब हम चैतन्य के अनुभव में होते हैं तब संवर की स्थिति होती है, हमारा संवर होता है। जब चैतन्य का अनुभव होता है तब कोई आवेग हो नहीं सकता। आवेग तब होता है जब हमारा चैतन्य का अनुभव लुप्त हो जाता है। जब चैतन्य पर मूर्च्छा छा जाती है, जब चैतन्य पर ढक्कन आ जाता है, तब आवेग को उभरने का अवसर मिलता है। जब चैतन्य की अनुभूति होती है तब आवेग आ ही नहीं सकता।

हमारी साधना का सूत्र है—चैतन्य का सतत अनुभव। जब चैतन्य के अनुभव की स्थिति निरंतर बनी रहती है तब हमारा संवर पुष्ट होता रहता है। संवर के आते ही द्वार बंद हो जायेगा। चैतन्य का अनुभव होते ही सब द्वार बंद हो जायेंगे। कोई द्वार खुला नहीं रहेगा। सब द्वार बंद, सब खिड़कियां बंद। उस समय न आवेग आ सकता है, न उत्तेजना आ सकती है और न वासना आ सकती है। कुछ भी नहीं आ सकता। सब विच्छिन्न हो जाते हैं। इसीलिए भगवान् महावीर ने कहा कि साधना का चरम शिखर है—'अयोग'। वहां सब योग समाप्त हो जाते हैं। यह 'अयोग' शब्द बड़ा जटिल है। सभी आचार्यों ने शब्द चुना—'योग'। उन्होंने कहा—योग की साधना करो। भगवान् महावीर ने कहा—'नहीं, अयोग की साधना करो। योगों को समाप्त करो, संबंधों को तोड़ो।' इससे क्या होगा? इससे सब कुछ घटित हो जायेगा। क्योंकि पाना कुछ भी नहीं है। बाहर से लेना कुछ भी नहीं है। हम सब अपने आप में परिपूर्ण हैं। कुछ भी उपादेय नहीं है। बाहर ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है जो अपने लिए हितकर हो। बाहर जितनी वस्तुएं हैं उन्हें छोड़ना ही हितकर है। सब संबंधों को तोड़ना, अयोग करना ही हितकर है। अंतिम शिखर है—अयोग। जब सम्यक्त्व का संवर हो जाता है, व्रत का संवर हो जाता है, अप्रमाद का संवर हो जाता है, अकषाय का संवर हो जाता है, तब अंतिम शिखर आता है—अयोग संवर। जहां हमने सारे संबंध काट डाले वहां अयोग हो जाता है। वहां पूर्ण विकास हो जाता है, परमात्मा की पूर्ण स्थिति उपलब्ध हो जाती है। अयोग संवर के घटित होते ही, जो पौद्गलिक संबंध आत्मा के साथ हैं, वे सब एक साथ विच्छिन्न हो जाते हैं। जब चैतन्य का अनुभव प्रारंभ होता है तब योग टूटने शुरू होते हैं। मूढ़ता का गहन वलय टूटने लग जाता है। कर्मों के जितने संबंध हमने स्थापित किये हैं वे सारे के सारे चैतन्य की विस्मृति के कारण हुए हैं। जब-जब चैतन्य की विस्मृति होती है तब-तब कोई न कोई पुद्गल हमारे साथ जुड़ जाता है और अपना प्रभाव जमा लेता है। हम जब अपने चैतन्य के अनुभव में होते हैं, जब हम अपना होश संभालते हैं, तब उन पुद्गलों का प्रभाव मंद होने लग जाता है, वह लुप्त होने लग जाता है। पुद्गल धीरे-धीरे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

खिसकने लग जाते हैं, दूर होने लग जाते हैं। उस समय हमारा अस्तित्व उजागर होता है।

बहुत बार ये प्रश्न सामने आते हैं कि हम स्वतंत्र हैं या परतंत्र? हम कर्म करने में स्वतंत्र हैं या परतंत्र? हम कर्म का फल भोगने में स्वतंत्र हैं या परतंत्र?

स्वतंत्रता और परतंत्रता का निश्चित उत्तर नहीं दिया जा सकता। दोनों सापेक्ष कथन हैं। हम स्वतंत भी हैं और परतंत्र भी हैं। हम चैतन्यवान् हैं। हमारा स्वभाव सभी द्रव्यों से विलक्षण है। किसी भी द्रव्य का स्वभाव चैतन्य नहीं है, हमारा स्वभाव चैतन्य है, इसलिए हम स्वतंत्र हैं। किन्तु चैतन्य का अनुभव जब-जब विस्मृत होता है, इस चैतन्य की आग पर जब-जब कोई राख आ जाती है, जब-जब यह जलती हुई आग उस राख से ढक जाती है तब-तब हम परतंत्र हो जाते हैं। स्वतंत्रता और परपंत्रता का उत्तर सापेक्षदृष्टि से ही दिया जा सकता है। इनका निरपेक्ष उत्तर नहीं हो सकता।

हमने कोई क्रिया की, कर्म किया। निश्चित है कि क्रिया की प्रतिक्रिया होगी। ऐसी एक भी क्रिया नहीं है जिसकी प्रतिक्रिया न हो। हर क्रिया की प्रतिक्रिया होती है। क्रिया करने में आदमी स्वतंत्र है, किन्तु प्रतिक्रिया में वह परतंत्र है। 'कडेण मूढो पुणो तं करेई'—जो किया है उससे मोह पैदा होता है। व्यक्ति मूढ़ हो जाता है और वह फिर उसे दोहराता है। एक बार आदमी कोई काम कर लेता है। दूसरी बार उस काम को दोहराना जरूरी हो जाता है क्योंकि उसका संस्कार बन जाता है। उस संस्कार के आधार पर दूसरी बार वैसी परिस्थिति आने पर वैसा करने की प्रेरणा मिलती है। वह हमारी मानसिक आदत बन जाती है। फिर उसको दोहराने का मन होता है। व्यक्ति मूढ़ बनकर उस क्रिया को दोहराता जाता है, करता जाता है। तब हम परतंत्र हो गये। हमने कुछ किया, एक संस्कार निर्मित हो गया, एक आदत बन गयी, फिर वह करना ही पड़ेगा। यह परतंत्रता की बात है। हम परतंत्र हैं, पर स्वतंत्र भी हैं। हमारी चैतन्य-शक्ति, हमारी संकल्प-शक्ति इतनी प्रबल है कि वह यदि जाग जाये कि यह काम करना ही नहीं है, इतना दृढ़ संकल्प हो जाए तो फिर संस्कार कितना ही प्रबल हो, हम उसे एक झटके में ही तोड़ डाल सकते हैं।

स्वतंत्रता और परतंत्रता—दोनों को सापेक्षदृष्टि से ही समझा जा सकता है। एक आदमी नारियल, खजूर या ताड़ के वृक्ष पर चढ़ गया। चढ़ने में वह स्वतंत्र है। वह अपनी इच्छा से ऊपर चढ़ गया। अब उतरने में वह स्वतंत्र नहीं है। क्यों? चढ़ने की एक क्रिया है। अब चढ़ गया तो उतरना भी पड़ेगा। चढ़ने में वह स्वतंत्र है, पर उतरने में परतंत्र है। अब उसे उतरना इसलिए पड़ेगा कि वह चढ़ गया। चढ़ने का परिणाम है उतरना। उतरना कोई स्वतंत्र क्रिया नहीं है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मोहम्मद साहब के एक शिष्य का नाम था अली। उसने एक बार पूछा—हम काम करने में स्वतंत्र हैं या परतंत्र ? मोहम्मद साहब ने कहा—'अपने बाएं पैर को उठाओ।' उसने अपना बायां पैर ऊपर उठा लिया। फिर मोहम्मद साहब ने कहा—'अच्छा, अब अपने दाएं पैर को उठाओ।' अली असमंजस्य में पड़ गया। बायां पैर पहले से ही उठाया हुआ है। अब दायां पैर ऊपर कैसे उठाया जाए ? उसने कहा—साहब ! यह कैसे संभव हो सकता है कि मैं दायां पैर भी ऊपर उठा लूं ? मोहम्मद साहब ने कहा—'एक पैर उठाने में तुम स्वतंत्र हो, दूसरा पैर उठाने में स्वतंत्र नहीं हो, परतंत्र हो।'

स्वतंत्रता और परतंत्रता—दोनों सापेक्ष हैं। उन्हें निरपेक्ष समझना भूल है। आदमी अपने कर्तृत्व में स्वतंत्र है, पर परिणाम भोगने में परतंत्र है। कर्तृत्व-काल में हम स्वतंत्र हैं, पर परिणाम-काल में हमें परतंत्र होना पड़ता है। विकास करने में हम स्वतंत्र हैं। हमारा जितना विकास होता है उसमें हमारा स्वतंत्र कर्तृत्व बोलता है। उसमें हम स्वतंत्र हैं। किसी भी कर्म के द्वारा हमारा विकास नहीं होता। कर्म के द्वारा हमारे विकास का अवरोध होता है। आप सोचेंगे कि शुभ नामकर्म के द्वारा अच्छा फल मिलता है, अच्छा नाम होता है, पदार्थों की उपलब्धि होती है, यश मिलता है। यह कोई आत्मा का विकास नहीं है। ये सब पौद्गलिक जगत् में घटित होने वाली घटनाएं हैं। इनसे आत्मा का विकास नहीं होता। आत्मा का स्वभाव है—चैतन्य। आत्मा का स्वभाव है—आनन्द। आत्मा का स्वभाव है—शक्ति। चैतन्य का विकास, आनन्द का विकास, शक्ति का विकास, किसी भी कर्म के उदय से नहीं होता। कर्म इन सब प्रकार के विकासों को रोकता है, बाधा डालता है, अवरोध उत्पन्न करता है। कोई भी पुद्गल विकास का मूल हेतु नहीं बनता।

हमारे चैतन्य का विकास, हमारे आनन्द का विकास, हमारी शक्ति का विकास, हमारा पूर्ण जागरण इसलिए होता है कि हम स्वतंत्र हैं। हमारे स्वतंत्र होने का स्वयंभू प्रमाण है कि हमारा विकास होता है और हमारा विकास इसलिए होता है कि हम स्वतंत्र हैं। यदि हम स्वतंत्र नहीं होते तो यह विकास कभी नहीं होता। कर्मों के उदय से बाधाएं उपस्थित होती रहती हैं। हमारा विकास कभी नहीं होता। विकास इसलिए होता है कि हमारी स्वतंत्र सत्ता है, हमारा स्वतंत्र उपादान है।

मिट्टी घड़ा बनती है। यह कोई कुंभकार की अंगुलियों का चमत्कार नहीं है। मिट्टी में घड़ा बनने का उपादान है। उसमें उपादान है तभी वह घड़ा बनती है। इस निर्मिति में दूसरे-दूसरे अनेक निमित्त भी सहायक हो सकते हैं। परन्तु मिट्टी का घड़े के रूप में परिवर्तित होने का मूल है उपादान। उपादान को उत्पन्न नहीं किया जा सकता। दूसरे-दूसरे साधन सहायक-सामग्री बन सकते हैं परन्तु वे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सब मिलकर भी उपादान को उत्पन्न नहीं कर सकते। उपादान को उत्पन्न करने की शक्ति किसी में नहीं है।

उपादान वही होता है जो द्रव्य का घटक होता है। कर्म में यह शक्ति नहीं है कि वह आत्मा के उपादानभूत स्वभावों को पैदा कर सके। कर्म में यह शक्ति नहीं है कि वह आत्मा में ज्ञान के पर्यायों को उत्पन्न कर सके, चैतन्य के पर्यायों को उत्पन्न कर सके, आनन्द के पर्यायों को उत्पन्न कर सके, शक्ति के पर्यायों को उत्पन्न कर सके। कर्म यह कभी नहीं कर सकते, क्योंकि ये सब कर्म के स्व-भाव नहीं हैं। चैतन्य, आनन्द और शक्ति—ये आत्मा के उपादान हैं। इसलिए आत्मा ही उनका घटक है। आत्मा में ही यह शक्ति है कि वह अपने पर्यायों को उत्पन्न कर सकता है। वह अपने इन सब पर्यायों को उत्पन्न कर सकता है इसीलिए उसका स्वतंत्र कर्तृत्व है, अबाधित कर्तृत्व है। यह हमारे स्वतंत्र कर्तृत्व का पक्ष है।

एक दूसरा पक्ष और है। आत्मा के साथ राग-द्वेष का परिणाम जुड़ा हुआ है। राग-द्वेष की धारा प्रवाहित है, इसलिए आत्मा के साथ परमाणुओं का संयोग होता है। वे परमाणु जुड़ते हैं, आत्मा को प्रभावित करते हैं। वे आत्मा के कार्य को प्रभावित करते हैं, आत्मा के कर्तृत्व को प्रभावित करते हैं। यह इसलिए होता है कि आत्मा के साथ शरीर का योग है। प्रभाव का आदि-बिन्दु है—शरीर। हमारी परतंत्रता का आदि-बिन्दु है—शरीर। आत्मा के साथ शरीर है, इसलिए हम परतंत्र हैं। हम स्वतंत्र कहां हैं ? शरीर है इसलिए भोजन चाहिए। आत्मा को कभी भोजन की आवश्यकता ही नहीं है। उसे कभी भूख नहीं लगती। चैतन्य को कभी भूख नहीं लगती। भूख लगती है पुद्गल को, शरीर को। शरीर है इसलिए भूख है, भूख है इसलिए भोजन है। भूख है इसलिए प्रवृत्ति का चक्र चलता है। यदि भूख न हो तो आदमी की सारी प्रवृत्तियां सिमट जायें। एक भूख है, इसलिए आदमी को बहुत कुछ करना पड़ता है—व्यवसाय करना पड़ता है, धंधा करना पड़ता है, नौकरी करनी पड़ती है, न जाने क्या-क्या करना पड़ता है। आदमी रोटी के लिए, पेट की आग को बुझाने के लिए बहुत कुछ करता है, सब कुछ करता है।

शरीर है, इसलिए काम-वासना है। शरीर का सारा चक्र काम के द्वारा संचालित है। एक प्राणी दूसरे प्राणी को पैदा करता है। यह पैदा करने वाली शक्ति है—काम। आहार की वृत्ति है, काम-वासना की वृत्ति है, यह हमारी परतंत्रता है। इन सारी परतंत्रताओं में राग-द्वेष का चक्र चल रहा है।

शुद्ध चैतन्य है, इसलिए हम स्वतंत्र हैं।

राग-द्वेष-युक्त चैतन्य है, इसलिए हम परतंत्र हैं।

दो पक्ष हैं। एक पक्ष है—स्वतंत्रता का और दूसरा पक्ष है—परतंत्रता का। चैतन्य की ज्योति सर्वथा लुप्त नहीं होती, इसलिए हमारी स्वतंत्रता की धारा भी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सदा प्रवाहित रहती है। हम शरीर, कर्म और राग-द्वेष से बंधे हुए हैं, इसलिए हमारी परतंत्रता की धारा भी सतत प्रवाहित रहती है। हमारा व्यक्तित्व स्वतंत्रता और परतंत्रता का संगम है। उसे किसी एक ही पक्ष में नहीं बांटा जा सकता। उसे निखालिस सोना नहीं बनाया जा सकता। सूर्य कितना ही प्रकाशवान् हो किन्तु दिन और रात का भेद नहीं मिटाया जा सकता। कितने ही बादल छा जाएं, अंधकार छा जाये, वे सब सूर्य को ढंक दें, पर दिन दिन रहेगा और रात रात। दिन और रात का भेद समाप्त नहीं किया जा सकता। स्वतंत्रता चलती है तो परतंत्रता भी चलेगी। परतंत्रता चलती है तो स्वतंत्रता भी चलेगी। स्वतंत्रता का घटक है—शुद्ध चैतन्य और परतंत्रता का घटक है—राग-द्वेषयुक्त चैतन्य।

प्रश्न होता है कि क्या जो कुछ भी घटित होता है वह सब कर्म से नियंत्रित ही है? उसी का परिणाममात्र है? यदि ऐसा है तो फिर किसी को दोष नहीं दिया जा सकता। कोई झूठ बोलता है, कोई चोरी करता है, कोई डाका डालता है, तो यह सब करने वाले का दोष नहीं है, क्योंकि यह सब पूर्ववर्ती कर्म का परिणाम है। इसमें किसी को दोषी नहीं ठहराया जा सकता। किसी पर चोट की और उसे यह समझाया कि भाई! यह तुम्हारे पूर्वार्जित कर्म का ही परिणाम है, कर्म का ही योग है—ऐसा कहकर चोट करने वाला बच सकता है। वह दोषी नहीं हो सकता। पूर्ववर्ती कर्म ही तो उससे ये सारी क्रियाएं करवा रहे हैं तो फिर वह क्या करे? यह सारा भ्रम है। हर अपराधी अपने अपराध को छिपाने का प्रयत्न करता है, उससे बच निकलने का प्रयास करता है। वह अपने आपको निर्दोष मानता है। वह कह सकता है—मैंने कुछ भी नहीं किया। सब कुछ कर्म करवाता है। जैसा कर्म है वैसा करना ही पड़ता है।

यह धारणा सही नहीं है कि जो कुछ घटित होता है वह सब कर्म से ही होता है। व्यक्ति की अपनी स्वतंत्र सत्ता भी है। ऐसी अनेक घटनाएं घटित होती हैं जो पहले के कर्मों से नियंत्रित नहीं होतीं।

स्थानांग सूत्र में रोग की उत्पत्ति के नौ कारण बतलाए हैं—

१. निरंतर बैठे रहना।
२. अहितकर भोजन करना। अति भोजन करना।
३. अति निद्रा।
४. अति जागरण।
५. मल का निरोध करना।
६. प्रस्रवण का निरोध करना।
७. पंथगमन।
८. भोजन की प्रतिकूलता।
९. कामविकार।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इन कारणों से रोग की उत्पत्ति हो सकती है। किन्तु इनमें एक भी कारण ऐसा नहीं है जिसे हम पूर्व कर्म-कृत कह सकें। अधिक आहार से रोग पैदा होता है, अधिक नींद लेने से रोग पैदा होता है और अधिक जागरण से भी रोग पैदा होता है। आहार, नींद और जागरण—ये हमारे क्रिया-पक्ष हैं। ये किसी कर्म के उदय नहीं हैं। कोई भी कर्म इनमें काम नहीं करता। हमारा व्यवहार ही इनमें काम करता है। इन सब घटनाओं से यह प्रमाणित होता है कि पूर्व कर्म ही इनका घटक नहीं है। उत्तरवर्ती क्षण का कारण पूर्ववर्ती क्षण ही नहीं होता। वही उसका उत्तरदायी नहीं होता। उसका अपना स्वतंत्र भी कुछ है।

अकाल-मृत्यु के सात कारण बतलाए गए हैं—

१. राग, स्नेह और भय आदि की तीव्रता।
२. शस्त्र-प्रयोग।
३. आहार की न्यूनाधिकता।
४. आंख, कान आदि की तीव्रतम वेदना।
५. पराघात—गढ़े आदि में गिरना।
६. सांप आदि का स्पर्श।
७. आन-अपान का निरोध।

अकाल-मृत्यु के ये सात कारण हैं। मृत्यु का समय नहीं है, किन्तु अकाल में ही मृत्यु की घटना घटित हो जाती है। इन कारणों में एक कारण है—स्पर्श। कोई जा रहा है। रास्ते में सांप ने काट लिया। वह मर गया। एक आदमी शांत बैठा है। ऊपर से भारी चीज उस पर आकर गिरी और वह मर गया। भारी पत्थर ऊपर से अचानक गिरा और दो-चार व्यक्ति उसके नीचे दबकर मर गये। यह सब अकाल-मृत्यु है। यह किसी-न-किसी निमित्त से घटित होती है, किन्तु इसमें कोई कर्म कारण नहीं बनता। आकाश में दो विमान टकरा गये। पांच सौ आदमियों की तत्काल मृत्यु हो गई। विमानों की टक्कर किसी कर्म के योग से नहीं हुई। आकस्मिक घटना घटी और पांच सौ आदमी मृत्यु की गोद में सो गये। ऐसी आकस्मिक घटनाओं की व्याख्या हम कर्म के आधार पर नहीं कर सकते।

प्रतिप्रश्न होता है कि क्या रोग का होना किसी भी कर्म से संबंधित नहीं है? अकाल-मृत्यु का होना क्या किसी भी कर्म से संबंधित नहीं है? संबंधित है। इसे हमें समझना है। ये घटनाएं कर्म के सहारे घटित नहीं होतीं। रोग होना एक घटना है। रोग हुआ। एक घटना घटित हुई। उसका कारण है अमनोज्ञ भोजन। दूषित आटा मिला, विष-मिश्रित पदार्थ मिला, रोग हो गया। बीमारी हो गयी। इसे हम संयोग कहेंगे। रोग होना असातवेदनीय कर्म का उदय है। अहितकर भोजन करने से वह उदय में आ गया, विपाक में आ गया। किन्तु जो अहितकर भोजन खाया वह असातवेदनीय कर्म के उदय से नहीं खाया। इसे हम और स्पष्टता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

से समझें। यदि अहितकर भोजन असातवेदनीय कर्म के उदय से खाया गया हो तो हम कह सकते हैं कि कर्म के कारण यह परिणाम भोगना पड़ा। किन्तु संयोगवश अहितकर भोजन खाने में आ गया। रोग हो गया। उसे हम कर्म का परिणाम नहीं मान सकते। अहितकर भोजन करना और अहितकर भोजन करने से रोग होना, इन दोनों में बहुत बड़ा अंतर है। अहितकर भोजन की घटना कर्म के कारण नहीं हुई, किन्तु उस घटना के घटित होने के कारण कर्म का विपाक हो गया। विमान की दुर्घटना आयुष्यकर्म के कारण घटित नहीं हुई किन्तु विमान की दुघटना हुई इसलिए आयुष्य कर्म की उदीरणा हो गयी। आयुष्य कर्म की उदीरणा होना और विमान का दुर्घटनाग्रस्त होना—ये दो बातें हैं। इनका परस्पर संबंध नहीं है। विमान की दुर्घटना हुई इसलिए आयुष्य समाप्त हो गया—यह संबंध हो सकता है। किन्तु उससे पहले इस घटना के साथ आयुष्य कर्म का संबंध नहीं है।

प्रश्न होता है कि क्या ऐसा हो सकता है ? क्या सैकड़ों आदमियों का आयुष्य एक साथ समाप्त हो सकता है ? हां, ऐसा हो सकता है। आयुष्य कर्म के दो प्रकार हैं—सोपक्रम आयुष्य और निरुपक्रम आयुष्य। कुछेक कारणों से आयुष्य कर्म में परिवर्तन हो सकता है, वह सोपक्रम आयुष्य है। जहां कोई भी निमित्त काम नहीं देता, आयुष्य कर्म में परिवर्तन लाने में कोई निमित्त सक्षम नहीं होता, वह है निरुपक्रम आयुष्य। इतना शक्तिशाली होता है यह आयुष्य कर्म कि निमित्त का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। उसमें इतनी तीव्र ऊर्जा और शक्ति होती है कि सारे निमित्त नीचे रह जाते हैं, वह ऊपर तैरता रहता है। इसमें कोई परिवर्तन नहीं लाया जा सकता। आयुष्य का जितना कालमान होता है, उसके पूरे होने पर ही प्राणी की मृत्यु होती है, पहले-पीछे नहीं। इसमें किसी भी निमित्त से उस प्राणी की मृत्यु संभव नहीं होती। ऐसी घटनाएं घटित होती हैं, ऐसे निमित्त मिलते हैं कि एक साथ हज़ारों मनुष्य मर जाते हैं। यह सब सोपक्रम आयुष्य का खेल है। निमित्त से कर्म विपाक में आ जाता है।

असात वेदनीय कर्म का बंध हुआ। उसका परिणाम यह है कि वह व्यक्ति को प्रतिकूल संवेदन करायेगा। उसके विपाक से प्रतिकूल संवेदन होगा। प्रतिकूल संवेदन किस रूप में होगा—यह सब निमित्तों पर आधारित है। किस काल, देश, क्षेत्र में होगा, यह अनेक बातों पर आधारित है।

दो आदमी हैं। एक मद्रास का है और दूसरा राजस्थान का। मद्रास के आसपास रहने वाले व्यक्तियों में एक बीमारी पायी जाती है। अनेक व्यक्तियों के पैरों में सोथ आ जाती है। वे हाथी के पैर जैसे हो जाते हैं। राजस्थान में ऐसा नहीं है।

राजस्थान में लू चलती है। यहां के लोगों के घुटनों में दर्द रहता है। शीत-प्रधान देश में शीत-जन्य बीमारियां अधिक होती हैं और उष्ण-प्रधान देश में

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उष्णता-जन्य बीमारियां अधिक होती हैं। सारी घटनाओं में द्रव्य, क्षेत्र और काल का प्रभाव रहता है। सभी प्रदेशों के आदमियों को असातवेदनीय कर्म को भुगतना पड़ता है। प्रत्येक मनुष्य का भौगोलिक और द्रव्यगत कारण भिन्न-भिन्न होता है। उसी के अनुसार कर्मों का विपाक भुगतना होता है। जहां भौगोलिक भिन्नता और द्रव्यगत भिन्नता आती है वहां असातवेदनीय कर्म के भोगने में भी भिन्नता आ जाती है। लू लगने की बीमारी यदि असातवेदनीय कर्म के कारण ही हो तो यह क्यों होता है कि राजस्थान के आदमी को ही लू लगे और मद्रास वाले को न लगे। कर्म के क्षेत्र में यह पक्षपात नहीं होना चाहिए। फिर जैसे कुछ लोग ईश्वर पर पक्षपात का आरोप लगाते हैं कि ईश्वर ने एक को ऐसा बना दिया और एक को वैसा, वही पक्षपात का आरोप कर्म पर लगाया जायेगा। किन्तु यह पक्षपात नहीं है। यह अंतर आता है भौगोलिकता के कारण। जहां गर्मी का प्रकोप होता है तथा अन्यान्य कुछ कारण और मिलते हैं, वहां लू लगती है। जहां गर्मी नहीं है, अन्यान्य कारण नहीं हैं, वहां लू नहीं लगती। लू लगना या न लगना कर्म के अधीन नहीं है। किन्तु लू लगती है, इसके कारण असातवेदनीय कर्म का उदय हो जाता है। सर्दी में ब्रोंकाइटिस आदि बीमारियां होती हैं। उनके कारण असातवेदनीय कर्म का उदय होता है। ठंडे देश का आदमी गोरा होगा, उष्ण देश का आदमी काला और कुछ देशों के आदमी उजले होंगे। गोरा होना, काला होना, और उजला होना—यह नामकर्म के कारण नहीं है किन्तु इसमें भौगोलिकता और प्रादेशिकता का निमित्त है।

बहुत सारी घटनाएं ऐसी हैं जिनके कारण कर्म का विपाक होता है किन्तु कर्म के विपाक के कारण ये घटनाएं घटित नहीं होतीं।

दो शब्द हैं—कर्म और नो-कर्म। नो-कर्म वह है जो कर्म तो नहीं है किन्तु कर्म का सहायक है। भौगोलिकता, वातावरण, पर्यावरण, परिस्थितियां—ये सारे नो-कर्म हैं। ये कर्म नहीं, कर्म के उदय में सहायक तत्त्व हैं।

हम यह तथ्य हृदयंगम कर लें कि प्रत्येक घटना कर्म से ही घटित नहीं होती। इसलिए हम पूर्णरूप से परतंत्र नहीं हैं। यदि प्रत्येक क्रिया कर्म से ही घटित होती—विमान की दुर्घटना हो वह भी कर्म से, दो मोटरों की टकराहट हो वह भी कर्म से, अतृप्ति हो वह भी कर्म से, सारे प्राकृतिक प्रकोप हों वे भी कर्म से—यदि ऐसा होता है तो कर्म का वैसा ही साम्राज्य हो जायेगा जैसा ईश्वर का साम्राज्य माना जाता है। उसका भी सर्व-शक्तिसंपन्न साम्राज्य हो जायेगा। कर्म ही सब कुछ हो जायेगा। फिर हम चाहे ईश्वर को मानें या कर्म को—कोई अंतर नहीं होगा। केवल नाम का अंतर होगा। किन्हीं लोगों ने सर्व-शक्ति-संपन्न सत्ता को ईश्वर कह दिया और किन्हीं ने सर्व-शक्ति-संपन्न सत्ता को कर्म कह दिया। सर्व-शक्ति-संपन्न सत्ता में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। कर्म सर्व-शक्ति-संपन्न सत्ता नहीं है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उसकी अपनी सीमा है। वह आत्मा पर प्रभाव डालता है किन्तु उसी आत्मा पर प्रभाव डालता है जिसमें राग-द्वेष है। राग-द्वेष-रहित चेतना पर कर्म का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। प्रभाव वह अपनी सीमा में ही डालता है। दूसरे क्षेत्रों में वह अपना प्रभाव नहीं डाल सकता। कर्म की सार्वभौम सत्ता नहीं है। सीमित ही उसकी सत्ता है और सीमित ही उसका प्रभाव है। इसलिए हम स्वतंत्र भी हैं। स्वतंत्र हैं इसीलिए आवेगों को शांत करने की हमारी मनोवृत्ति है, कामना है। हम आवेगों को शांत कर सकते हैं—इसलिए हमारी साधना है। यदि हम आवेगों को शांत नहीं कर सकते तो साधना व्यर्थ है। यदि हम यह मानते ही चले जायें कि जैसा कर्म में लिखा है वही होगा, साधना लिखी है तो साधना आ जायेगी, अधिक बोलना लिखा होगा तो अधिक बोलेंगे, झगड़ा करना लिखा होगा तो झगड़ा करेंगे—तब तो कुछ भी करने की जरूरत नहीं है। जैसा लिखा है वैसा होगा। किन्तु यह भ्रांति है।

साधना का मूल सूत्र यही है कि कर्म ही सब कुछ नहीं है। साधना का मूल प्रयोजन है कि आत्मा अपने स्वरूप में आ जाये, जाग जाये, जागरण की एक चिनगारी भी मिल जाये। बस, इतना पर्याप्त है। यह मार्ग मिल जाये तो फिर साधक बिना रोक-टोक आगे बढ़ सकता है और आत्मा को पूर्ण अनावृत करने में सक्षम हो सकता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१७

कर्मवाद के अंकुश

- कर्मवाद पर तीन अंकुश
  १. आत्मा के चैतन्य स्वभाव का स्वतंत्र अस्तित्व।
  २. परिवर्तन का सिद्धांत।
  ३. विपाक की सापेक्षता।
- कर्ममुक्ति के दो साधन—संवर और तप।
- मूर्च्छा का पहला माध्यम—देहासक्ति।
- देहासक्ति से मुक्त होने के पांच सूत्र
  मत खाओ। कम खाओ। रसों को छोड़ो। खाने में विविध प्रयोग करो। शरीर को साधो, कष्ट-सहिष्णु बनो।
- कर्म के अस्तित्व के चार प्रमाण—
  - संसार की विविधता।
  - मनुष्य की रागात्मक और द्वेषात्मक प्रवृत्ति।
  - चंचलता।
  - पुद्गल और जीव का परस्पर प्रभाव।

•

कर्म का केंद्र-बिंदु है—मूर्च्छा। साधना का केंद्र-बिंदु है—जागृति, जागरण। आदमी मूर्च्छित है। कितने काल से मूर्च्छित है इसका पता भी नहीं लगाया जा सकता। उसकी मूढ़ता अनादिकाल से है। इस घोर तमिस्रा का आदि-बिंदु अज्ञात है। प्रकाश की कोई रेखा फूटे, यह साधना के द्वारा ही संभव है। कोई काललब्धि ऐसी हो सकती है कि व्यक्ति को जागरण मिल जाये या ऐसा कोई निमित्त मिल

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सकता है जिससे जागृति का कोई विंदु स्फुटित हो जाये, कोई प्रकाश की किरण फूट जाये। मूर्च्छा और जागृति—दोनों एक-दूसरे के विरोधी हैं। मूर्च्छा जागृति नहीं है और जागृति मूर्च्छा नहीं है।

अध्यात्म-शास्त्र का सूत्र है—जागृति और कर्म-शास्त्र का सूत्र है—मूर्च्छा। मूर्च्छा को तोड़ना और जागृत होना—ये दो वातें हमारे सामने हैं। जैसे-जैसे मूर्च्छा टूटती है वैसे-वैसे जागृति बढ़ती है। मूर्च्छा आस्रव है और जागृति संवर है। एक आस्रव है। वह उसे लाती है जो नहीं चाहिए। आस्रव द्वार है। इससे सब-कुछ आता है। वह आता है जो वांछनीय नहीं है, जिसकी कोई अपेक्षा नहीं है। किंतु द्वार खुला है इसलिए आ रहा है। उसे रोका नहीं जा सकता। संवर का अर्थ है—द्वार का बंद हो जाना। आस्रव है—राग-द्वेषात्मक परिणति। जीव का जो राग-द्वेषात्मक परिणाम होता है, वह आस्रव बन जाता है। जब चैतन्य का अनुभव जागृत होता है वह स्वयं संवर बन जाता है। संवर है चैतन्य का अनुभव।

मूर्च्छा एक बिंदु है तमोमय, अंधकारमय। जब मूर्च्छा सघन होती है तब जागृति अंधकारमय हो जाती है। वह बिंदु लुप्त हो जाता है। जब जागृति का बिंदु उभरता है, थोड़ा-सा प्रकाश आता है तब मूर्च्छा का सघन बिंदु धुंधलाने लगता है। राग-द्वेष की तीव्र ग्रंथि का भेद होता है। यह पहली बार होता है अपूर्वकरण के द्वारा। अपूर्वकरण अर्थात् चित्त की ऐसी निर्मलता जो पहले कभी प्राप्त नहीं हुई थी। जो पहले कभी प्राप्त नहीं होता वह अपूर्व होता है। जो एक बार प्राप्त हो गया वह अपूर्व नहीं होता। जो घटना पहली बार घटित होती है, वह अपूर्व होती है। यहां राग-द्वेष की गांठ पहली बार टूटने लगती है। जागृति का एक बिंदु उभरता है। जो सघनतम अंधकार था वह टूटता है। जैसे-जैसे हमारे चैतन्य का अनुभव आगे बढ़ता है, प्रकाश फैलता है, वैसे-वैसे मूर्च्छा का बिंदु कमज़ोर होता जाता है। जब चैतन्य का अनुभव स्पष्ट होता है तब सम्यक्त्व संवर बन जाता है। चैतन्य का अनुभव और स्पष्ट होता है तब आकांक्षाएं समाप्त होने लगती हैं। अमिट प्यास भी बुझने लगती है, तब व्रत संवर होता है। चैतन्य का अनुभव और अधिक स्पष्ट होता है तब प्रमाद समाप्त होने लगता है, अप्रमाद संवर की स्थिति निर्मित होने लगती है। चैतन्य का अनुभव और अधिक स्पष्ट होता है, कषाय भी समाप्त हो जाता है तब अकषाय संवर की स्थिति बनती है। पूर्ण प्रकाश की स्थिति, वीतरागता की स्थिति आ जाती है। राग-द्वेषात्मक परिणाम के द्वारा जो आस्रव हो रहा था, वह समाप्त हो जाता है और चैतन्य का पूर्ण अनुभव जागृत हो जाता है।

सैद्धांतिक भाषा में कहा जाता है कि मोह के उपशांत या क्षीण होने पर संवर होता है। पर संवर कैसे होता है? उसकी प्रक्रिया क्या है? इस पर हमें गहराई से विचार करना चाहिए। संवर साधना के द्वारा ही हो सकता है। साधना के

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनुभवों के द्वारा ही यह ज्ञात हो सकता है कि संवर कसे हो सकता है ? मैं कहूं कि संवर करें, आस्रव रुक जायेगा, मूर्च्छा का सघन वलय टूट जायेगा। बात तो वहुत ही सीधी-सी लगती है। पर संवर कैसे हो, यह प्रश्न इतना सीधा नहीं है। साधना के क्षेत्र में चार शब्द प्रचलित हैं—संयम, चारित्र, प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान। संयम करें। इंद्रियों का संयम करें, मन का संयम करें, वासनाओं का संयम करें। चारित्र अर्थात् आचरण। हम शुद्ध आचरण करें। संयम संवर की प्रक्रिया है। चारित्र संवर की प्रक्रिया है। प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान भी संवर की प्रक्रिया है। अतीत का प्रतिक्रमण होता है और भविष्य का प्रत्याख्यान होता है। तीन क्षण हैं—एक है अतीत का क्षण, एक है वर्तमान का क्षण और एक है भविष्य का क्षण। बीता हुआ क्षण अतीत है, आने वाला क्षण भविष्य है और इन दोनों के वीच का क्षण वर्तमान है। संवर वर्तमान के क्षण में होता है। जिसने अतीत का प्रतिक्रमण और भविष्य का प्रत्याख्यान किया तो प्रत्युत्पन्न क्षण, जो क्षण उत्पन्न हो रहा है, उस क्षण में अपने-आप संवर हो जाएगा।

जो आस्रव चल रहा है, उसका प्रतिक्रमण करें। उस आस्रव से आप अपने स्वभाव में लौट आयें। अपने चैतन्य के अनुभव को छोड़कर आप राग-द्वेष के अनुभव में चले गये थे, अव राग-द्वेष के अनुभव को छोड़कर पुनः चैतन्य के अनुभव में आ जायें, संवर हो जायेगा। राग-द्वेष के अनुभव से वापस लौट आना प्रतिक्रमण है। आप संकल्प करें कि आप राग-द्वेष के क्षण में नहीं जायेंगे। जब यह संकल्प दृढ़ हो जाता है तव राग-द्वेष के अनुभव से आप लौट आते हैं। पुनः आप उस अनुभव में नहीं जायेंगे। दोनों ओर से राग-द्वेष का अनुभव समाप्त हो जायेगा। यह वीच का क्षण, वर्तमान का क्षण, अतीत और भविष्य के बीच का क्षण, चैतन्य के अनुभव का क्षण हो जायेगा, संवर हो जायेगा।

असंयम के द्वारा आस्रव के द्वार खुलते हैं। मन का असंयम, इंद्रियों का असंयम, शरीर का असंयम होता है तब द्वार खुलते हैं। अनियंत्रित स्थिति में खुलना स्वाभाविक है, उच्छृंखलता स्वाभाविक है। जब उच्छृंखलता होती है, खुलना होता है तव किसी का आना भी स्वाभाविक बन जाता है। उस समय संवर नहीं हो सकता। हमने संयम किया। संयम का कार्य है, जो आ रहा था उसे रोक दिया। चारित्र का कार्य है, जो पहले था उस खजाने को खाली कर दिया। असंयम क्यों होता है ? हमने कुछ विजातीय द्रव्य का संचय कर रखा है। वह अपने साथियों को निमंत्रित करता है। हमने अपने ही राग-द्वेष के कारण असंयम को पाला और असंयम ने मोह का संग्रह किया, मूर्च्छा का संग्रह किया, कषाय को प्रवल वनाया। वही मूर्च्छा और वही मोह दूसरे-दूसरे कर्म-परमाणुओं के लिए स्वागत का द्वार खुला रख रहा है। आओ, आओ, एकत्र हो जाओ। यह जो मूर्च्छा का, मोह का, असंयम का प्रयत्न चल रहा है, उसके कारण इतने कर्म-परमाणु आये हैं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कि हमारी आत्मा के, हमारी अखंड चेतना के एक-एक कण पर, एक-एक प्रदेश पर अनन्त-अनन्त परमाणु चिपके बैठे हैं। एक-दो नहीं, अनन्त-अनन्त परमाणु। अब इन्हें निकालें तो भी कैसे? इन्होंने अपना पूरा अधिकार, अपनी पूरी सत्ता जमा ली है। ये सहजतया वहां से हटना नहीं चाहते। जिसका अधिकार था, वह चैतन्य सो गया। उसका अधिकार छिन गया। जिसका कोई अधिकार नहीं था, उसने ऐसा अधिकार जमा लिया कि मानो चैतन्य तो है ही नहीं, सब कुछ पुद्गल-ही-पुद्गल है। जड़ता-ही-जड़ता है। इसलिए हमें यह संदेह भी हो जाता है कि आत्मा है या नहीं? आत्मा की वास्तविक सत्ता है या नहीं? चैतन्य का कोई स्वतंत्र अस्तित्व है या नहीं? यह संदेह किसी को नहीं है। भौतिकता है या नहीं, यह संदेह किसी को नहीं है। क्योंकि पुद्गल का, भौतिकता का इतना प्रबल साम्राज्य जम गया है कि उसकी प्रबलता में जो एकमात्र अपौद्गलिक पदार्थ था, वह दब गया। एकमात्र चेतन तत्त्व था, जो जड़ नहीं था, अचेतन नहीं था, वह लुप्त-सा हो गया।

विश्व में एक मत ही चल पड़ा कि चैतन्यवाद की कोई स्वतंत्र सत्ता ही नहीं है। सब कुछ जड़-ही-जड़ है, जड़वाद ही चल रहा है। इस प्रकार जड़वाद की सार्वभौम सत्ता स्थापित हो गयी। ऐसा क्यों हुआ? इसका मूल कारण रहा है—असंयम, आस्रव। असंयम ने आस्रव को बल दिया। उपचय होता गया। खज़ाना भरने लगा। भर गया। जब तक जमे हुए खज़ाने को रिक्त नहीं किया जाता, और नवागंतुक के मार्ग को रोका नहीं जाता तब तक अपने स्वभाव के अनुभव की बात सफल नहीं हो सकती। संवर कैसे होगा? चैतन्य का अनुभव कैसे होगा? अपने अस्तित्व का अनुभव कैसे होगा? चैतन्य का अनुभव, अस्तित्व का अनुभव, संवर—ये सब एक ही हैं। संवर का अर्थ ही है—अपने चैतन्य का अनुभव, अपने अस्तित्व का बोध। यह तब तक संभव नहीं जब तक चय को रिक्त नहीं किया जाता और द्वार को बंद नहीं किया जाता। चय को रिक्त करने का कार्य चारित्र का है। हमने राग-द्वेष के परिणमन तथा मन, वाणी और शरीर की चंचलता के द्वारा ही विजातीय पदार्थों को अपनी ओर खींचा है, उन्हें आकर्षित किया है और उनका संग्रह किया है। जब तक मन, वाणी और शरीर की चंचलता समाप्त नहीं हो जाती, तब तक जो उपचित है, उसे रिक्त नहीं किया जा सकता, खाली नहीं किया जा सकता। क्योंकि कुछ खाली होगा तो नया संग्रह उसका स्थान ले लेगा। यह क्रम अबाधगति से चलता रहेगा।

इस स्थिति में पहला काम यह होगा कि हम अपने आचरण को समतामय बनाएं। भगवान् महावीर ने समता पर सर्वाधिक बल दिया। हम समझते हैं कि जीव मात्र पर समभाव रखना ही समता है, यही धर्म है। यह एक बात है। यह धर्म है ही। किंतु इसका और गूढ़ अर्थ है। समता का मूल तात्पर्य है अराग का क्षण,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अद्वेष का क्षण। हमारे जीवन के ऐसे क्षण बीते जिनमें न राग हो और न द्वेष हो, वीतरागता का क्षण हो। यह वीतरागता का क्षण ही वास्तव में समता है। जब वीतरागभाव होगा तब सब प्राणियों के प्रति, सब जीवों के प्रति अपने-आप समता का भाव होगा। उसमें विषमता रहेगी ही नहीं। किसी भी पदार्थ के प्रति, चाहे फिर वह चेतन हो या अचेतन उच्चावचभाव समाप्त हो जाता है। न घृणा हो सकती है, न अहंकार हो सकता है, न बड़प्पन का भाव हो सकता है। कुछ भी नहीं हो सकता वीतरागता के क्षण में।

वही आचरण सबसे बड़ा है जो समतापूर्ण हो। समता ही महान् आचरण है। जिस आचरण में समता नहीं है अर्थात् तटस्थता नहीं है, मध्यस्थता नहीं है, निष्पक्षता नहीं है, राग-द्वेष की प्रचुरता है, वह महान् आचरण नहीं हो सकता। वह सामान्य होगा, सामान्य व्यक्ति का आचरण होगा। महान् आचरण वही होगा जो पूर्ण तटस्थ, मध्यस्थभाव से परिपूर्ण और राग-द्वेष की परिणतियों से शून्य है। उसका न इधर झुकाव है और न उधर झुकाव है। दोनों पलड़े सम हैं। यह है समता का आचरण। जब समता का आचरण होता है तब विजातीय तत्त्व उखड़ने लगते हैं। जो तत्त्व विषमता के कारण बद्धमूल हो रहे थे, उनकी जड़ें हिल उठती हैं, उनकी सत्ता खिसकने लगती है। वे एक-एक कर वहां से हटने लगते हैं। भरा हुआ खजाना खाली होने लगता है। एक ओर से यह रिक्त करने का कार्य चलता है तब दूसरी ओर से यह कार्य भी आवश्यक हो जाता है कि रिक्त स्थान में नये सदस्य आकर न बैठ जायें। जो रिक्त हुआ है, बड़े कड़े परिश्रम से जो खाली हुआ है, वह फिर भर न जाये। पुराने जा रहे हैं, नये न आ जायें। हमारे चारित्र का निर्माण समता के तत्त्वों से हुआ। भरा हुआ रिक्त होने लगा। अब हमने सीमाओं की घेराबंदी करनी प्रारंभ की, अपना संयम करना प्रारंभ किया। मन को रोका, इंद्रियों को रोका, शरीर और वाणी की चंचलता को भी रोका। जबरदस्त घेराबंदी की, संयम किया। अब नये अंदर नहीं आ सकते। पुराने भागते गए, भागते गए। इस स्थिति में हमारा संयम सधा, हमारा चारित्र बना और संवर निष्पन्न हो गया। यह संवर की प्रक्रिया है।

तत्त्व की व्याख्यामात्र से संवर नहीं होता। वह होता है साधना के द्वारा। वह होता है अभ्यास के द्वारा। आप जानते जाएं, रटते जाएं कि कर्म की अमुक प्रकृतियों के क्षयोपशम के द्वारा संवर हो जायेगा, कभी संवर नहीं होगा। संवर तब होगा जब प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान तथा संयम और चारित्र—ये चारों तत्त्व हमारी साधना के अंग बनेंगे। जब संवर होता है तब मूर्च्छा का सघन वलय अपने आप टूटने लगता है और एक दिन पूर्ण जागरण की स्थिति उपलब्ध हो जाती है। उस अवस्था में केवल जागरण ही जागरण रहता है।

कर्मशास्त्र को व्याख्यायित करने का, विवेचित करने का और उसे समझने

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

का यहीं परिणाम है, यही निष्कर्ष है कि यदि हम साधना करना चाहें तो हमें चैतन्य के अनुभव में आना होगा। हम ऐसे क्षण बिताएं जिनमें चैतन्य का अनुभव हो, केवल अपने अस्तित्व का अनुभव हो, राग-द्वेष का अनुभव न हो। कब बिताएं ? आचार के क्षणों में, व्यवहार के क्षणों में। हम कोई भी आचरण करें, किसी के साथ कोई व्यवहार करें, उन क्षणों में हम समता में रहें, समता का अनुभव करें। संवर स्वतः निष्पन्न होगा।

हम सतत जागृत रहें। मन में या व्यवहार में राग-द्वेष की परिणति होते ही तत्काल उससे लौट आएं और संकल्प-शक्ति को जागृत करें। हमारा ऐसा दृढ़ संकल्प बने कि जिससे भविष्य में राग-द्वेष की परिणति न हो, राग-द्वेषमय क्षण न बीते। संवर की साधना स्वयं निष्पन्न होगी। यही साधना की पूरी सार्थकता है। तब साधना देशकालातीत साधना बन जाती है। अभी हमारी साधना देशकालातीत नहीं है। हमारी साधना देशबद्ध और कालबद्ध है। देशबद्ध और कालबद्ध साधना का परिणाम भी तात्कालिक होता है। साधना वह होनी चाहिए जो देश और काल से आबद्ध न हो, उनसे बंधी हुई न हो। आप किसी भी देश में चले जायें, किसी भी काल में चले जायें, किसी भी काल में रहें किंतु चैतन्य के अनुभव की एक ज्योति, एक प्रकाशरेखा जो फूटी है वह विकसित हो, आगे-से-आगे बढ़ती जाए। कभी भी वह बुझे नहीं। वह लौ और वह प्रकाशरेखा कभी भी दूर न जाए। इस ओर हमारा प्रयत्न हो।

इससे पूर्व कर्म-बंध के सूत्रों की व्याख्या प्रस्तुत की जा चुकी है। अब कर्म-मुक्ति के कुछ सूत्र प्रस्तुत कर रहा हूं। कर्ममुक्ति का सबसे बड़ा सूत्र है—संवर और तप। तपस्या के विषय में कुछ सोचें। जिनको खपाना है, जिनको दूर करना है, उनमें पहला तत्त्व है मूर्च्छा। मूर्च्छा का सबसे पहला माध्यम है—देहासक्ति। यहां से मूर्च्छा प्रारंभ होती है। भगवान् महावीर ने तप के बारह सूत्र बतलाए। उनमें पहला है—अनशन। मत खाओ। दूसरा है—ऊनोदरी। कम खाओ। तीसरा है—रस-परित्याग। रसों को छोड़ो। जिह्वेन्द्रिय पर संयम रखो। चौथा है—वृत्तिसंक्षेप। खाने के विविध प्रयोग करो। पांचवां है—कायक्लेश। शरीर को साध लो। इतने कष्ट-सहिष्णु बन जाओ, आसनों के द्वारा इतनी शक्ति पैदा कर लो कि जिससे कोई भी स्थिति आये तो शरीर उसे झेल सके। ये पांच सूत्र देहासक्ति से मुक्त होने के सूत्र हैं।

आहार की आसक्ति भी देहासक्ति है। यह देहासक्ति का ही एक परिणाम है। जब ये पांच सूत्र सध जाते हैं तब देहासक्ति टूट जाती है।

जब यह हो जाता है तब प्रतिसंलीनता की बात आती है। यह कर्ममुक्ति का छठा सूत्र है। प्रतिसंलीनता का अर्थ है—इन्द्रियों को अंतर्मुखी बनाना। जिस रास्ते से इन्द्रियां बाहर जा रही हैं, उसे बंद कर दो। नया मार्ग खोल दो।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मार्गान्तरीकरण कर दो। जो इंद्रियां केवल बाहर की ओर दौड़ रही हैं, जो मन बाहर की ओर भटक रहा है, उन इंद्रियों को भीतर ले आओ, मन को भीतर ले आओ। यह अंतर्प्रवेश की प्रक्रिया है। हम कहते हैं—शरीर को देखो। इसका तात्पर्य है कि शरीर के भीतर जो प्रकंपन हो रहे हैं उन्हें देखो। इंद्रियों की यह आदत बन गयी है कि वे बाहर ही बाहर देख रही हैं, देखना चाहती हैं। इस आदत को बदलो। एक नयी आदत का निर्माण करो। वह आदत भीतर-ही-भीतर देखे। बाहर देखने में जो आनंद आता है उससे कई गुना आनंद आता है भीतर देखने में। बाहर देखने के पश्चात् आदमी को बहुत बार अनुताप भी होता है। पर मुझे नहीं लगता कि भीतर देखने वाले को भी अनुताप हुआ हो। शरीर की प्रेक्षा करने वालों से मैंने कई बार पूछा कि शरीर की प्रेक्षा करने में तुम्हें व्यर्थता का अनुभव तो नहीं हो रहा है? किसी ने नहीं कहा कि हमें व्यर्थता का अनुभव हो रहा है, अनुताप हो रहा है। यह प्रेक्षा की प्रक्रिया, दर्शन की प्रक्रिया, देखने की प्रक्रिया बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। जो आस्रव हैं, कर्म-आगमन के द्वार हैं, वे ही संवर के द्वार हैं। दर्शन की प्रक्रिया के द्वारा हम उन द्वारों को बंद कर देते हैं।

देहासक्ति को तोड़ना, शरीर को साधना और इंद्रियों के रास्ते को बदलना—ये प्राथमिक द्वार हैं। साधक के लिए प्रवेश-द्वार हैं। इन्हें बहिरंग भी कहा गया है। जब तक हम प्रवेश नहीं करेंगे तब तक भीतर में रहने का प्रश्न ही नहीं होगा।

सातवां सूत्र है—प्रायश्चित्त का। मन में विचार आते रहते हैं। मन में विचार आया, तत्काल उसको साफ कर दो। यदि तत्काल साफ नहीं किया, जागरूक नहीं रहे, उस विचार को पाल लिया तो गांठ बन जाएगी, ग्रंथिपात हो जायेगा। विचार आज का हो, किंतु उसका परिणाम हजार वर्ष बाद भी भोगना पड़ सकता है। न जाने कब उसे भुगतना पड़े। यदि उसी समय उसका प्रक्षालन कर दिया, उसे धो डाला तब तो जो कर्म परमाणु आए थे, वे टूट जायेंगे। वे गांठ नहीं बन पायेंगे। अगर सावधानी नहीं रही, जागरूकता नहीं रही, गांठ पड़ गयी तो निश्चित ही उसका परिणाम भुगतना पड़ेगा। इसीलिए प्रायश्चित्त का सूत्र दिया गया। प्रायश्चित्त करते रहो ताकि गांठ न पड़ने पाए।

आठवां सूत्र है—विनय। मन में अहं नहीं होना चाहिए। अहंकार और ममकार, ये दो बाधाएं हैं। साधना में कोई अहंकार नहीं होना चाहिए। साधक अत्यंत विनम्र और मृदु रहे।

नौवां सूत्र है—वैयावृत्य। इसका अर्थ है—साधना करने वालों का सहयोग करना। केवल स्वार्थी मत बनो। जो साधना करना चाहते हैं, उसके लिए, अपने से जो कुछ बन पड़े, करो। यह वैयावृत्य है, सेवा है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दसवां सूत्र है—स्वाध्याय। स्वाध्याय का अर्थ है—पढ़ना, ज्ञान प्राप्त करना। वह ज्ञान प्राप्त करो जो तुम्हारी आत्मा को जागृत करे। केवल पुस्तकीय ज्ञान पर्याप्त नहीं है। कर्म-बंधन से मुक्ति दिलाने वाला ज्ञान प्राप्त करो। ऐसा ज्ञान प्राप्त करो जो मूर्च्छा के बंधनों से छुटकारा दिला सके।

ग्यारहवां सूत्र है—ध्यान। नहीं पढ़ना है तो अपने-आप में लीन हो जाओ। ध्यान लीन होने की प्रक्रिया है। ध्यान के माध्यम से तुम सत्य तक पहुंच जाओगे, सत्य को पा लोगे, सत्य का साक्षात् कर लोगे।

बारहवां सूत्र है—व्युत्सर्ग। इसका अर्थ है—छोड़ना। मैंने कहा भी था कि महावीर की साधना का सूत्र है—अयोग की साधना। सब संबंधों को तोड़ दो। सब विसर्जित कर दो। जो कुछ हो उसका विसर्जन कर दो। शरीर का व्युत्सर्ग और कर्म का व्युत्सर्ग।

यह सारी तपस्या की प्रक्रिया है। इसके बारह सूत्र हैं।

कर्म-मुक्ति की प्रक्रिया के दो तत्त्व हैं—एक है संवर और दूसरा है तपस्या या निर्जरा।

महर्षि पतंजलि ने बतलाया कि क्रियायोग के द्वारा क्लेशों को कम किया जा सकता है। तपस्या, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान—यह क्रियायोग है।

भगवान महावीर की भाषा में संवर और निर्जरा के द्वारा आस्रवों को क्षीण किया जा सकता है। इस प्रक्रिया के द्वारा कर्म-मुक्ति घटित होती है और व्यक्ति सदा-सदा के लिए मुक्त हो जाता है।

हम कर्म-बंधन की प्रक्रिया से चले थे और कर्म-मुक्ति की प्रक्रिया तक पहुंच गये। बंधन के क्षण से मुक्ति के क्षण तक आ गये।

अब हम कर्म संबंधी दो-चार बिन्दुओं पर और ध्यान दें, जो सारी चर्चा का निष्कर्ष होगा।

यह प्रश्न होता है कि कर्म का अस्तित्व है या नहीं? यह कहा जाता है कि संसार में बहुत विविधता है और इस विविधता का एक हेतु कर्म है। किन्तु विविधता का हेतु केवल कर्म ही नहीं है, और भी अनेक कारण हैं। चैतन्य जगत् में विविधता है। चैतन्य जगत् में घटित होने वाली विविध घटनाओं का एक बड़ा निमित्त है कर्म। यदि कर्म परमाणु नहीं होते, कर्म का बंध नहीं होता तो ये विविधताएं नहीं होतीं। सब कुछ समान ही होता। सब आत्मा के स्वभाव में होते। सब एक-जैसे होते, कोई परिवर्तन नहीं होता, कोई विविधता नहीं होती। विभक्ति होना, विभाजन होना—यह कर्म के अस्तित्व का बहुत बड़ा प्रमाण है।

कर्म के अस्तित्व का दूसरा कारण है—मनुष्य के रागात्मक और द्वेषात्मक परिणाम। यदि मनुष्य में राग और द्वेष नहीं होता तो कर्म को स्वीकार करने का कोई कारण नहीं होता। रागात्मक और द्वेषात्मक परिणाम इसलिए होते हैं कि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मनुष्य कर्म से बंधा है। बंधन चैतन्य का मूल स्वभाव नहीं है। यह स्वभाव का अतिक्रमण है। स्वभाव से विरोधी कार्य जो हम कर रहे हैं उनका प्रेरक तत्त्व है कर्म।

तीसरा कारण है—चंचलता। यदि कर्म नहीं होते तो चंचलता नहीं होती। सक्रियता तो होती, चंचलता नहीं होती। सक्रियता पदार्थ का लक्षण है। कोई भी पदार्थ निष्क्रिय नहीं होता। सब सक्रिय होते हैं। सक्रियता पदार्थ का लक्षण है। चंचलता पदार्थ का लक्षण नहीं है।

हमने अपने कर्म-अणुओं द्वारा अपने पर एक शरीर का बंधन डाल रखा है। एक सूक्ष्म शरीर का और एक स्थूल शरीर का। उसी शरीर के द्वारा यह सारी चंचलता हो रही है शरीर है इसलिए मन की चंचलता है। शरीर है इसलिए वाणी की चंचलता है। ये सब मूलतः शरीर की चंचलता के कारण चंचल हैं। कर्म के कारण ये शरीर और शरीर के कारण यह चंचलता। इसलिए यह स्वीकार करने में बहुत सुविधा है कि कर्म है।

चौथी बात है—पुद्गल और जीव का परस्पर प्रभाव। एक-दूसरे को प्रभावित करता है। जीव पुद्गल को प्रभावित करता है और पुद्गल जीव को प्रभावित करता है। पुद्गल मन को प्रभावित करता है, शरीर को प्रभावित करता है। जीव के राग-द्वेषात्मक परिणाम और पुद्गल में ऐसा गठबंधन है, ऐसी संधि है कि जीव के राग-द्वेषात्मक परिणाम पुद्गल को सहयोग देते हैं और पुद्गल राग-द्वेषात्मक परिणाम को सहयोग देता है। दोनों एक-दूसरे से संबद्ध हैं। दोनों एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। चेतना का, आत्मा का इस प्रकार दूसरे से प्रभावित होना इस बात का साक्षी है कि कर्म का अस्तित्व है।

हम पहले यह चर्चा कर चुके हैं कि कर्म की सार्वभौम सत्ता नहीं है, सर्व शक्ति-सम्पन्न सत्ता नहीं है। यह बहुत ही नियंत्रित तत्त्व है। हम साधना के क्षेत्र में या व्यवहार के क्षेत्र में भी यह भूल कर बैठते हैं और कह देते हैं कि हमसे साधना हो नहीं सकती, क्योंकि कर्म का कोई ऐसा ही योग है। व्यवहार के क्षेत्र में भी हम कह देते हैं—मैं यह काम नहीं कर सकता, क्योंकि कर्म का कोई ऐसा ही योग है। हमने बस मान लिया कि कर्म ही सब कुछ है। कर्म ही सब कुछ नहीं है। वह इतना महत्त्वपूर्ण नहीं है कि वह सब कुछ हो जाये। हमने भूल-वश उसे सब कुछ होने का स्थान दे दिया।

हम जब साधना की दृष्टि से कर्म-शास्त्र पर विचार करते हैं तब हमें इन दो-चार बातों को हमेशा ध्यान में रखना चाहिए।

पहली बात—कर्म पर भी अंकुश है। वह कोई निरंकुश सत्ता नहीं है। उस पर सबसे पहला अंकुश यह है कि आत्मा के चैतन्य स्वभाव का स्वतंत्र अस्तित्व है। यदि आत्मा के चैतन्य स्वभाव का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं होता तो फिर कर्म

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayū Trust/eGangotri

सब कुछ हो जाता। किन्तु आत्मा का स्वतंत्र स्वभाव है और वह चैतन्य कभी भी अपने स्वभाव को तोड़ने नहीं देता, नष्ट होने नहीं देता। इसलिए कर्म आत्मा पर एकाधिकार नहीं जमा सकता। कर्म आत्मा पर कितना ही प्रभाव डाले पर वह उस पर एकछत्र शासन नहीं कर सकता। जब आत्मा के चैतन्य स्वभाव का जागरण होता है तब कर्म की सत्ता डगमगा जाती है। कितना ही गहरा अंधकार हो, एक छोटी-सी प्रकाश की रेखा आती है, तब वह समाप्त हो जाता है। उसका एकछत्र-सा लगने वाला शासन नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है। प्रकाश के सामने अंधकार टिक नहीं सकता। जब तक प्रकाश नहीं होता तब तक ही अंधकार रहता है। जब तक चैतन्य का जागरण नहीं होता तब तक ही कर्म टिकता है। जैसे ही चेतना जागी, कर्म अपने आप समाप्त होने लग जाता है।

दूसरी बात है—परिवर्तन का सिद्धान्त। विश्व में कोई भी तत्त्व ऐसा नहीं है जो परिवर्तनशील न हो। जो नित्य है वह अनित्य भी है। और जो अनित्य है वह नित्य भी है। सब परिवर्तनशील हैं। भगवान महावीर ने कर्मशास्त्र के विषय में कुछ ऐसी नयी धारणाएं दीं जो अन्यत्र दुर्लभ हैं या अप्राप्य हैं। उन्होंने कहा—कर्म को बदला जा सकता है। वैज्ञानिकों में एक शताब्दी तक यह धारणा चलती रही कि लोहा, तांबा, सोना, पारा—ये सारे मूल तत्त्व हैं, इनको एक-दूसरे में बदला नहीं जा सकता। उन्होंने मूल तत्त्व सौ माने। उनको एक-दूसरे में नहीं बदला जा सकता। किन्तु बाद में खोजों ने यह प्रमाणित कर दिया कि ये सब मूल तत्त्व नहीं हैं। उनको एक-दूसरे में बदला जा सकता है। हजारों वर्ष पहले यह निश्चित मान्यता थी कि पारे से सोना बनाया जा सकता, पारे को सोने में बदला जा सकता है। आज का विज्ञान भी इसी निष्कर्ष पर पहुंचा है कि पारे से सोना बनाया जा सकता है। प्राचीन रसायन-शास्त्रियों ने पारे से सोना बनाने की अनेक विधियों का उल्लेख किया। जैन ग्रन्थों में भी उनका यत्र-तत्र वर्णन प्राप्त है।

वैज्ञानिकों ने यह निष्कर्ष निकाला कि पारे के अणु का भार २०० होता है। उसे प्रोटोन के द्वारा तोड़ा जाता है। प्रोटोन का भार १ होता है। प्रोटोन से विस्फोटित करने पर वह प्रोटोन पारे में घुल-मिल गया और पारे का भार २०१ हो गया। २०१ होते ही अल्फा का कण निकल जाता है। उसका भार चार है। चार का भार कम हो गया। शेष १९७ भार का अणु रह गया। सोने के अणु का भार १९७ और पारे के अणु का भार भी १९७। पारा सोना हो गया। वैज्ञानिकों ने इसे सिद्ध कर दिखा दिया। इस पद्धति से बनाया गया सोना महंगा पड़ता है। इसलिए इस पद्धति का प्रयोग नहीं किया जाया। किन्तु बात प्रामाणिक हो गयी कि पारे से सोना बनता है।

महावीर ने कहा—तुम्हारी साधना प्रबल हो, तुम्हारी समता मजबूत हो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तो पुराने बंधे हुए कर्मों का कितना ही उपचय हो, वह टूटने लग जाता है। पारा सोना बन गया। नये पाप कर्म तीव्र नहीं बंधेंगे, यह तो एक बात हो गयी। जो पुराना संचय है, जो असत् है वह सत् में बदल जाता है, अशुभ शुभ में बदल जाता है। पाप पुण्य में बदल जाता है। यह नयी बात महावीर ने कही कि कर्मों को बदला जा सकता है। कर्मों की उदीरणा की जा सकती है। कर्म कब उदय में आएगा? कर्म का भंडार कब खाली होगा? यह अनन्तकाल की बात हो जाती है। किन्तु महावीर ने कहा—अपने परिणामों की ऐसी श्रेणी निर्मित करो जिसमें न राग हो और न द्वेष हो। कर्मों की उदीरणा करो, बंधे हुए कर्मों को खींचो और तोड़ते जाओ। विपाक की प्रतीक्षा मत करो। पहले ही उन्हें समाप्त करते जाओ। यह परिवर्तन का सिद्धान्त कर्म पर बहुत बड़ा अंकुश है।

तीसरी बात—विपाक की सापेक्षता। कोई भी विपाक निरपेक्ष नहीं होता। वह देश, काल, भाव, भव, पुद्गल, पुद्गल-परिणाम—इन सबके माध्यम से होता है। साधना के द्वारा हम निमित्तों को दूर करें जो विकास में बाधक बनते हैं। हम ऐसे निमित्तों को विकसित करें जो कर्म के विपाक को दूर कर सकें। विपाक निमित्तों से होता है। यह विपाक की सापेक्षता कर्म पर अंकुश है।

साधना करने वाला व्यक्ति, जिसमें साधना की थोड़ी-सी भी रुचि जाग जाए वह कर्मशास्त्र के इन गूढ़तम रहस्यों को जाने और जानने के बाद अध्यात्मशास्त्र के द्वारा आध्यात्मिक चेतना को पूर्णतः जागृत कर साधना में सफल बने।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लेखक की योग-सम्बन्धी अन्य कृतियां

- तुम अनन्तशक्ति के स्रोत हो
- चेतना का ऊर्ध्वारोहण
- मन के जीते जीत
- मैं : मेरा मन : मेरी शान्ति
- महावीर की साधना का रहस्य
- अस्तित्व का बोध
- जैन योग

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

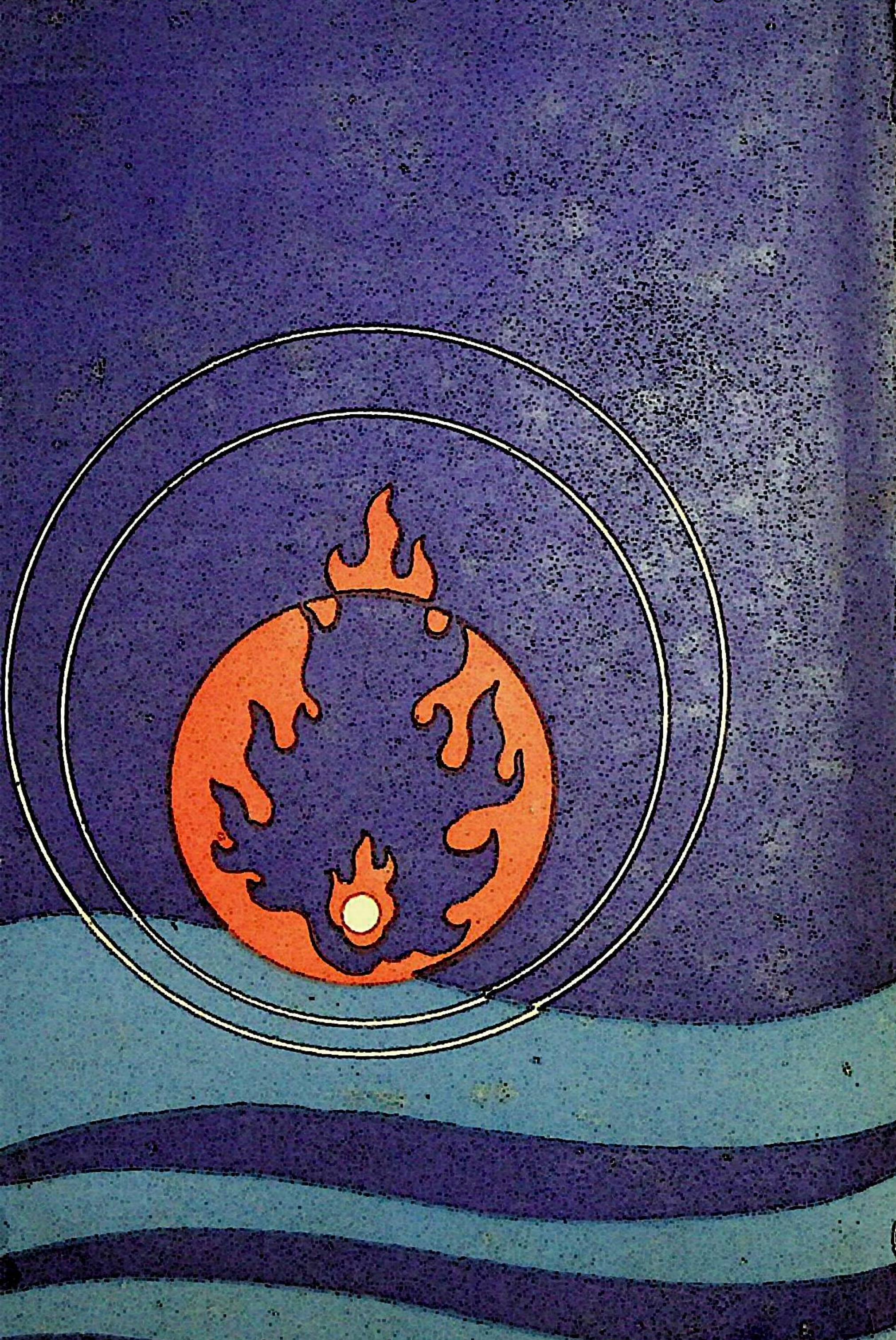

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi